श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित
शतक नामक

कर्मग्रन्थ [पंचम भाग]

[मूल, शब्दार्थ, गाथार्थ, विशेषार्थ, विवेचन एवं टिप्पण तथा अनेक परिशिष्ट युक्त]

व्याख्याकार
मरुधरकेसरी, प्रवर्तक
मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज

सम्पादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'
देवकुमार जैन

प्रकाशक
श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
जोधपुर—ब्यावर

पुस्तक : कर्मग्रन्थ [पचम भाग]

पृष्ठ : ५१२

सम्प्रेरक : विद्याविनोदी श्री सुकनमुनि

प्रकाशक : श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, ब्यावर [राजस्थान]

प्रथम आवृत्ति : वीर निर्वाण सवत् २५०२
वि० स० २०३३, चैत्र
ईस्वी सन् १९७६ अप्रेल

मुद्रक : श्रीचन्द सुराना के लिए
विष्णु प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२

मूल्य : १५) पन्द्रह रुपये मात्र

पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव आशुकविरत्न
मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज

प्रकाशकीय

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति के विभिन्न उद्देश्यों में एक प्रमुख एवं रचनात्मक उद्देश्य है – जैनधर्म एवं दर्शन से सम्बंधित साहित्य का प्रकाशन करना। संस्था के मार्गदर्शक परमश्रद्धेय श्री मरुधर केसरीजी महाराज स्वयं एक महान विद्वान्, आशुकवि तथा जैन आगम तथा दर्शन के मर्मज्ञ है और उन्ही के मार्गदर्शन में संस्था की विभिन्न लोकोपकारी प्रवृत्तियां चल रही है। गुरुदेवश्री साहित्य के मर्मज्ञ भी हैं, अनुरागी भी है। उनकी प्रेरणा से अब तक हमने प्रवचन, जीवनचरित्र, काव्य, आगम तथा गम्भीर विवेचनात्मक ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। अब विद्वानों एवं तत्त्वजिज्ञासु पाठको के सामने हम उनका चिर प्रतीक्षित ग्रन्थ 'कर्मग्रन्थ' विवेचन युक्त प्रस्तुत कर रहे है।

कर्मग्रन्थ जैनदर्शन का एक महान ग्रन्थ है। इसमें जैन तत्त्वज्ञान का सर्वांग विवेचन समाया हुआ है। पूज्य गुरुदेव श्री के निर्देशन में प्रसिद्ध लेखक-संपादक श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना एवं उनके सहयोगी श्री देवकुमार जी जैन ने मिलकर इसका सुन्दर सम्पादन किया है। तपस्वीवर श्री रजतमुनि जी एवं विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह विराट कार्य समय पर सुन्दर ढंग से सम्पन्न हो रहा है। हम सभी विद्वानो, मुनिवरो एवं सहयोगी उदार गृहस्थों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए आशा करते है कि अतिशीघ्र क्रमश अन्य भागो मे हम सन्पूर्ण कर्मग्रन्थ विवेचन युक्त पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करेगे। प्रथम, द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ भाग कुछ समय पूर्व ही पाठकों के हाथों में पहुँच चुके है। विद्वानों एवं जिज्ञासु पाठकों ने उनका स्वागत किया है। अब यह पंचम भाग पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

विनीत, मन्त्री—

—श्री मरुधर केसरी साहित्य

प्रकाशकीय

जैनदर्शन को समझने की कुन्जी है—'कर्मसिद्धान्त'। यह निश्चित है कि समग्र दर्शन एवं तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा; और आत्माओं की विविध दशाओ, स्वरूपों का विवेचन एवं उसके परिवर्तनो का रहस्य उद्घाटित करता है 'कर्मसिद्धान्त'। इसलिए जैनदर्शन को समझने के लिए 'कर्मसिद्धान्त' का समझना अनिवार्य है।

कर्मसिद्धान्त का विवेचन करने वाले प्रमुख ग्रन्थों में 'श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित' कर्मग्रन्थ अपना विशिष्ट महत्त्व रखते है। जैन-साहित्य में इनका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। तत्त्वजिज्ञासु भी कर्म-ग्रन्थों को आगम की तरह प्रतिदिन अध्ययन एवं स्वाध्याय की वस्तु मानते है।

कर्मग्रन्थों की संस्कृत टीकाएं बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इनके कई गुजराती अनुवाद भी हो चुके है। हिन्दी में कर्मग्रन्थों का सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया था विद्वद्वरेण्य मनीषी प्रवर महाप्राज्ञ पं० सुखलालजी ने। उनकी शैली तुलनात्मक एवं विद्वत्ताप्रधान है। पं० सुखलालजी का विवेचन आज प्रायः दुष्प्राप्य-सा है। कुछ समय से आशुकविरत्न गुरुदेव श्री मरुधरकेसरीजी महाराज की प्रेरणा मिल रही थी कि कर्मग्रन्थों का आधुनिक शैली में विवेचन प्रस्तुत करना चाहिए। उनकी प्रेरणा एवं निदेशन से यह सम्पादन प्रारम्भ हुआ। विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह कार्य बडी गति के साथ आगे बढता गया। श्री देवकुमारजी जैन का सहयोग मिला और कार्य कुछ ही समय मे आकार धारण करने योग्य बन गया।

इस संपादन में अनेक प्राचीन ग्रन्थ लेखकों, टीकाकारों, विवेचन-कर्ताओं तथा विशेषत: पं० सुखलालजी के ग्रन्थो का सहयोग प्राप्त हुआ और इतने गहन ग्रन्थ का विवेचन सहजगम्य वन सका। मैं उक्त सभी विद्वानो का असीम कृतज्ञता के साथ आभार मानता हूँ।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरीजी महाराज का समय-समय पर मार्ग-दर्शन, श्री रजतमुनिजी एवं सुकनमुनिजी की प्रेरणा एवं साहित्य-समिति के अधिकारियों का सहयोग, विशेषकर समिति के व्यवस्थापक श्री सुजानमल जी सेठिया की सहृदयता पूर्ण प्रेरणा व सहकार से ग्रन्थ के संपादन-प्रकाशन में गतिशीलता आई है, मैं हृदय से आभार स्वीकार करूँ—यह सर्वथा योग्य ही होगा।

विवेचन मे कही त्रुटि, सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता तथा मुद्रण आदि में अशुद्धि रही हो तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ और हंस-बुद्धि पाठको से अपेक्षा है कि वे स्नेहपूर्वक सूचित कर अनुगृहीत करेंगे। भूल-सुधार एवं प्रमादपरिहार मे सहयोगी वनने वाले अभिनन्दनीय होते है। बस इसी अनुरोध के साथ—

विनीत

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

आमुख

जैनदर्शन के संपूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा सर्वतंत्र स्वतंत्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का निर्माता भी वही है और उसका फल भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं मे अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्ध दशा मे संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परम आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख-दु ख के चक्र मे पिस रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह मे बह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दु.खी, दरिद्र के रूप मे संसार में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है **कम्मं च जाई मरणस्स मूलं**—भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरश॰ सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुःख का कारण जहा ईश्वर को माना है, वहाॅ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दु ख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतंत्र रूप से कोई शक्ति नही है, वह स्वयं मे पुद्गल है, जड है। किन्तु राग-द्वेप-वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने वलवान और शक्तिसंपन्न वन जाते है कि कर्त्ता को भी अपने वंधन मे वाध लेते है, मालिक को भी नौकर की तरह नचाते है। यह कर्म की वडी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनो का यह मुख्य बीज कर्म क्या है, इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे

होते है ? यह बड़ा गम्भीर विषय है। जैनदर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमो मे और उत्तरवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकड़ों में कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गूथा है, कंठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों मे कर्मग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित इसके पाँच भाग अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। इनमे जैनदर्शन सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा में है और इसकी संस्कृत में अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध है। गुजराती मे भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा में इस पर विवेचन प्रसिद्ध विद्वान् मनीषी पं० सुखलाल जी ने लगभग ४० वर्ष पूर्व तैयार किया था।

वर्तमान मे कर्मग्रन्थ का हिन्दी विवेचन दुष्प्राप्य हो रहा था, फिर इस समय तक विवेचन की शैली में भी काफी परिवर्तन आ गया। अनेक तत्त्वजिज्ञासु मुनिवर एवं श्रद्धालु श्रावक परमश्रद्धेय गुरुदेव मरुधर केसरीजी महाराज साहब से कई वर्षों से प्रार्थना कर रहे थे कि कर्मग्रन्थ जैसे विशाल और गम्भीर ग्रन्थ का नये ढंग से विवेचन एवं प्रकाशन होना चाहिए। आप जैसे समर्थ शास्त्रज्ञ विद्वान एवं महास्थविर संत ही इस अत्यन्त श्रमसाध्य एवं व्ययसाध्य कार्य को सम्पन्न करा सकते हैं। गुरुदेव श्री का भी इस ओर आकर्षण था। शरीर काफी वृद्ध हो चुका है। इसमे भी लम्बे-लम्बे विहार और अनेक संस्थाओ व कार्यक्रमो का आयोजन ! व्यस्त जीवन में आप १०-१२ घंटा से अधिक समय तक आज भी शास्त्रस्वाध्याय, साहित्य-सर्जन आदि में लीन रहते है। गतवर्ष गुरुदेव श्री ने इस कार्य को का संकल्प किया। विवेचन लिखना प्रारम्भ किया। ..वे

शैली आदि दृष्टियों से सुन्दर एवं रुचिकर बनाने तथा फुटनोट, आगमों के उद्धरण, संकलन, भूमिका लेखन आदि कार्यों का दायित्व प्रसिद्ध विद्वान श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को सौपा गया। श्री सुराना जी गुरुदेव श्री के साहित्य एवं विचारों से अतिनिकट सम्पर्क में है। गुरुदेव के निर्देशन में उन्होने अत्यधिक श्रम करके यह विद्वत्तापूर्ण तथा सर्वसाधारण जन के लिए उपयोगी विवेचन तैयार किया है। इस विवेचन से एक दीर्घकालीन अभाव की पूर्ति हो रही है। साथ ही समाज को एक सास्कृतिक एवं दार्शनिक निधि नये रूप में मिल रही है, यह प्रसन्नता की बात है।

मुझे इस विषय मे रुचि है। मैं गुरुदेव को तथा संपादक बन्धुओ को इसकी संपूर्ति के लिए समय-समय पर प्रेरित करता रहा। प्रथम, द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ भाग के पश्चात् यह पंचम भाग आज जनता के समक्ष आ रहा है। इसकी मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

पहले के चार भाग जिज्ञासु पाठकों ने पसन्द किये है, उनके तत्त्व-ज्ञान-वृद्धि में वे सहायक बने है, ऐसी सूचनाएं मिली है। यह पंचम भाग पहले के चार भागो से भी अधिक विस्तृत बना है, विषय गहन है, गहन विषय की स्पष्टता के लिए विस्तार भी आवश्यक हो जाता है, विद्वान् संपादक बंधुओ ने काफी श्रम और अनेक ग्रन्थो के पर्यालोचन से विषय का तलस्पर्शी विवेचन किया है। आशा है वह जिज्ञासु पाठको की ज्ञानवृद्धि का हेतुभूत बनेगा।

—सुकन मुनि

प्रस्तावना २१—३८

कर्मसिद्धान्त का आशय २१

कर्म का स्वरूप २२

जैनदर्शन मे कर्म का स्वरूप २३

अमूर्त का मूर्त के साथ बध २४

सबन्ध की अनादिता २६

कर्मबन्ध की प्रक्रिया २८

कर्म का कर्तृत्व-भोक्तृत्व २९

आत्मा का स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य ३३

कर्मभोग के प्रकार ३४

कर्मक्षय की प्रक्रिया ३४

ग्रन्थ-परिचय ३६

पंचम कर्मग्रन्थ की रचना का आधार ३७

पंचम कर्मग्रन्थ

गाथा १ १—९

मगलाचरण २

ग्रन्थ के वर्ण्य-विषयो का सकेत ४

कतिपय वर्ण्य-विषयों की परिभाषाएं

गाथा २ ९-१४

ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियो के नाम १०

मूलकर्म प्रकृतियो की अपेक्षा ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियो का वर्गीकरण १०

ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियो के ध्रुवबन्धित्व का कारण ११

गाथा ३,४ १४-२२

अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियां के नाम १५

अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियो का मूल कर्मो की अपेक्षा वर्गीकरण १५

अध्रुवबन्धिनी मानने का कारण १६

कर्मबन्ध और कर्मोदय दशा मे होने वाले भगो का कारण २०

अनादि, अनन्त आदि चार भगो का स्वरूप २१

गाथा ५ २२-२६

ध्रुव और अध्रुव बध, उदय प्रकृतियो मे उक्त भंगो के विधान का सोपपत्तिक वर्णन २३

गो० कर्मकाड मे प्रदर्शित भगो के साथ तुलना २५

गाथा ६ २६-२९

ध्रुवोदय प्रकृतियो के नाम २७

ध्रुवोदय प्रकृतियो का मूल कर्म प्रकृतियो की अपेक्षा वर्गीकरण २७

उक्त प्रकृतियो को ध्रुवोदया मानने का कारण २८

गाथा ७ २९-३६

अध्रुवोदय प्रकृतियो के नाम २९

उक्त प्रकृतियो के अध्रुवोदय होने का कारण ३०

बध एव उदय प्रकृतियो मे अनादि, अनन्त आदि भगो का स्पष्टीकरण ३१

गाथा ८, ९ ३६-४१

ध्रुव और अध्रुव सत्ता वाली प्रकृतियो के नाम ३७

ध्रुव और अध्रुव सत्ता प्रकृतियो के कथन करने वाली सज्ञाओ का विवरण ३८

ध्रुव और अध्रुव सत्ता प्रकृतियो की सख्या अल्पाधिक होने का कारण ३९
१३० प्रकृतियो के ध्रुव सत्ता वाली होने का कारण ४०
२८ प्रकृतियो के अध्रुव सत्ता वाली होने का स्पष्टीकरण ४१

गाथा १०, ११, १२ ४२–५१
गुणस्थानो मे मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता का विचार ४३
मिश्र मोहनीय और अनन्तानुबधी कषाय की सत्ता का नियम ४६
आहारक सप्तक और तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता का नियम ४८
मिथ्यात्व आदि पन्द्रह प्रकृतियो की सत्ता का गुणस्थानो मे विचार करने का कारण ५१

गाथा १३, १४ ५२–६२
सर्वघातिनी, देशघातिनी और अघातिनी प्रकृतिया ५३
प्रकृतियो के घाति और अघाति मानने का कारण ५३
सर्वघातिनी प्रकृतिया कौन-कौनसी और क्यो ? ५४
देशघातिनी प्रकृतिया कौन-कौनसी है और क्यो ? ५६
सर्वघाति और देशघाति प्रकृतियो का विशेष स्पष्टीकरण ५९
अघाति प्रकृतिया कौन-कौनसी है ६१

गाथा १५, १६, १७ ६२–६७
पुण्य और पाप प्रकृतिया कौन-सी है और क्यो ? ६४

गाथा १८ ६७–६९
अपरावर्तमान प्रकृतिया ६८
अपरावर्तमान शब्द की व्याख्या ६८
मिथ्यात्व प्रकृति को अपरावर्तमान मानने का कारण ६९

गाथा १९ ६९–७४
परावर्तमान की व्याख्या ७०
परावर्तमान प्रकृतियां

विपाक का लक्षण और भेद — ७१
कर्म प्रकृतियो के ध्रुवबधी आदि भेदो का विवरण — ७२
क्षेत्रविपाकी प्रकृतियां — ७३
आनुपूर्वी नामकर्म को क्षेत्रविपाकी मानने का कारण — ७४

गाथा २० — ७४–७६
जीवविपाकी और भवविपाकी प्रकृतिया — ७५

गाथा २१ — ७६–८८
पुद्‌गलविपाकी प्रकृतिया कौन-कौन और क्यो ? — ७७
रति, अरति मोहनीय का विपाक सबन्धी स्पष्टीकरण — ७९
गति नामकर्म भवविपाकी क्यो नही — ८०
आनुपूर्वी नामकर्म विषयक स्पष्टीकरण — ८१
कर्म प्रकृतियो के क्षेत्रविपाकी आदि भेदो का यत्र — ८२
वध के भेद और उनका स्वरूप — ८२

गाथा २२ — ८८–९४
मूल प्रकृतिवध के वधस्थान और उनमे भूयस्कार आदि वधो का विवेचन — ८८
मूल प्रकृतियो मे वधस्थानो की सख्या — ८९
मूल प्रकृतियों मे भूयस्कार बध की संख्या का विवेचन — ९०
मूल प्रकृतियो मे अल्पतर वध की सख्या — ९३
मूल प्रकृतियो मे अवस्थित वध की संख्या — ९४
मूल प्रकृतियो मे अवक्तव्य वध न होने का कारण — ९४

गाथा २३ — ९४–९९
भूयस्कार आदि वधो के लक्षण — ९५
भूयस्कार आदि वंधो विपयक विशेप स्पष्टीकरण — ९६

गाथा २४ — ९९–१०६
दर्शनावरण कर्म के वधस्थान आदि की सख्या — १०१

मोहनीय कर्म के बधस्थान आदि की सख्या १०३
मोहनीय कर्म के भूयस्कार आदि बंध १०५
गाथा २५ १०७–११५
नामकर्म के बन्धस्थानो का विवेचन १०७
नामकर्म के बधस्थानो में भूयस्कार आदि बध १११
नामकर्म के बधस्थानो मे सातवें भूयस्कार के सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण ११२
आठ कर्मो की उत्तर प्रकृतियो के बधस्थान तथा भूयस्कार आदि बंधो का कोष्टक ११६
गाथा २६, २७ ११५—१२२
मूल कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति ११७
मूल कर्मों की जघन्य स्थिति व उसका स्पष्टीकरण ११८
गाथा २८ १२२—१२४
ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्म की सभी उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति १२३
असाता वेदनीय और नामकर्म की कुछ उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति १२३
गाथा २९ १२४—१२५
कषायो की उत्कृष्ट स्थिति १२५
वर्णचतुष्क की उत्कृष्ट स्थिति १२५
गाथा ३० १२६—१२७
दस और पन्द्रह कोडा-कोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाली प्रकृतियो के नाम १२६
गाथा ३१,३२ १२७—१३२
बीस कोडा-कोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाली प्रकृतियो के नाम १२८
उत्कृष्ट स्थितिबध मे अबाधाकाल का प्रमाण १२९

गाथा ३३ — १३२—१३

आहारकद्विक और तीर्थंकर नाम की उत्कृष्ट व जघन्य स्थिति और अबाधाकाल — १३

तीर्थंकर नामकर्म का स्थिति सम्बन्धी शका-समाधान — १३

मनुष्य और तिर्यंच आयु की उत्कृष्ट स्थिति — १३

गाथा ३४ — १३७—१४

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असज्ञी जीव के आयुकर्म के उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण — १३

आयुकर्म के अबाधाकाल सम्बन्धी विचार — १३

गाथा ३५ — १४३—१४

पन्द्रह घाति और तीन अघाति प्रकृतियो की जघन्य स्थिति — १४३

गाथा ३६ — १४४—१४९

सज्वलनत्रिक व पुरुषवेद की जघन्य स्थिति — १४५

शेष उत्तर प्रकृतियो की जघन्य स्थिति निकालने के लिये सामान्य नियम — १४६

गाथा ३७,३८ — १४९—१५४

एकेन्द्रिय जीव के उत्तर प्रकृतियो के उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबध का प्रमाण — १५०

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय जीव के उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थितिबध का प्रमाण — १५३

आयुकर्म की उत्तर प्रकृतियो की जघन्य स्थिति — १५४

गाथा ३९ — १५४—१५६

जघन्य अबाधा का प्रमाण — १५५

तीर्थंकर और आहारकद्विक नामकर्म की जघन्य स्थिति के सम्बन्ध मे मतान्तर — १५६

गाथा ४०, ४१ १५७—१६०

क्षुल्लकभव के प्रमाण का विवेचन १५८

गाथा ४२ १६०—१६८

तीर्थंकर, आहारकद्विक और देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामी व तत्सम्बन्धी शका-समाधान १६१

शेष प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबध के स्वामी १६६

गाथा ४३, ४४, ४५ १६८—१७६

चारो गति के मिथ्यादृष्टि जीव किन-किन प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबध के स्वामी है ? १६९

जघन्य स्थितिवध के स्वामियों का कथन १७४

गाथा ४६ १७६—१८०

मूल कर्म प्रकृतियो के स्थितिबध के उत्कृष्ट आदि भेदो में सादि वगैरह भंगो का विचार १७७

गाथा ४७ १८०—१८३

उत्तर कर्म प्रकृतियो के स्थितिबंध के उत्कृष्ट आदि भेदो मे सादि वगैरह भंगो का विचार १८१

गाथा ४८ १८४—१७७

गुणस्थानो की अपेक्षा स्थितिबध का विचार १८४

गाथा-४९, ५०, ५१ १८७-१९५

एकेन्द्रियादि जीवो की अपेक्षा स्थितिबध मे अल्पबहुत्व का विचार १८९

गाथा-५२ १९६-१९९

स्थितिबध के शुभत्व और अशुभत्व का कारण १९६

स्थितिबंध और अनुभागबध सबन्धी स्पष्टीकरण १९७

गाथा-५३,५४ १९९-२०६

योग और स्थितिस्थान का लक्षण २००

जीवो की अपेक्षा योग के अल्पवहुत्व और स्थितिस्थान का विचार २०२

गाथा-५५ २०६-२०८

अपर्याप्त जीवो के प्रतिसमय होने वाली योगवृद्धि का प्रमाण २०६

स्थितिवध के कारण अध्यवसायस्थानों का प्रमाण २०७

गाथा-५६, ५७ २०८-२१३

पचेन्द्रिय जीव के जिन इकतालीस कर्म प्रकृतियो का बंध अधिक से अधिक जितने काल तक नही होता, उन प्रकृतियो और उनके अबन्ध काल का निरूपण २०९

गाथा- ५८ २१४-२१५

उक्त इकतालीस प्रकृतियो के उत्कृष्ट अबन्धकाल का स्पष्टीकरण २१४

गाथा-५९, ६०, ६१, ६२ २१६-२२४

अध्रुवबधिनी तिहत्तर प्रकृतियो के निरन्तरवध काल का निरूपण २१८

गाथा-६३, ६४ २२४-२३३

शुभ और अशुभ प्रकृतियो मे तीव्र तथा मन्द अनुभाग बंध का कारण २२४

तीव्र तथा मन्द अनुभाग वध के चार-चार विकल्प तथा उनके होने का कारण २२७

गाथा-६५ २३३-२३६

शुभ और अशुभ रस का विशेप स्वरूप २३४

गाथा-६६, ६७, ६८ २३६-२४३

सव कर्म प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभागवध के स्वामियो का विवेचन २३७

गाथा ६९, ७०, ७१, ७२, ७३ २४३-२५८

सव कर्म प्रकृतियो के जघन्य अनुभागवध के स्वामियो का निरूपण २४४

गाथा ७४ — २५८-२६६

मूल और उत्तर प्रकृतियो के अनुभाग बध के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट आदि विकल्पो मे सादि वगैरह भगो का विचार — २५९

गाथा ७५, ७६, ७७ — २६६-२७८

प्रदेशबध का स्वरूप — २६७

वर्गणा का लक्षण — २६७

ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य वर्गणाओ का स्वरूप — २६८

वर्गणाओ की अवगाहना का प्रमाण — २७७

गाथा ७८ ७९ — २७८-२८५

जीव के ग्रहण करने योग्य कर्मदलिको का स्वरूप — २७९

परमाणु का स्वरूप — २७९

गुरुलघु और अगुरुलघु — २८१

रसाणु का स्वरूप — २८२

जीव की कर्मदलिको को ग्रहण करने की प्रक्रिया — २८४

गाथा ७९, ८० — २८५-२८९

जीव द्वारा ग्रहीत कर्मदलिको का मूल कर्मप्रकृतियो मे विभाग का क्रम — २८६

गाथा ८१ — २८९-२९६

मूल कर्मों मे विभक्त कर्मदलिको का उत्तर प्रकृतियो मे विभाग का क्रम — २८९

गाथा ८२ — २९७-३०१

गुणश्रेणियो की सख्या और उनका वर्णन — २९७

गाथा ८३ — ३०१-३०९

गुणश्रेणि का स्वरूप — ३०२

प्रत्येक गुणश्रेणि मे होने वाली निर्जरा का प्रमाण — ३०

गाथा ८४ ३०९-३१३

गुणस्थानो के जघन्य और उत्कृष्ट अतराल का वर्णन ३०९

गाथा ८५ ३१३-३२३

पल्योपम और सागरोपम के भेदो का विवेचन ३१४

अगुल के भेदो की व्याख्या ३२१

गाथा ८६, ८७, ८८ ३२३-३३३

पुदगल परावर्त के भेद ३२४

बादर और सूक्ष्म द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव पुद्गल परावर्तो का स्वरूप ३२७

गाथा ८९ ३३४-३३६

उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबध के स्वामी ३३५

गाथा ९०, ९१, ९२ ३३६-३४४

मूल और उत्तर प्रकृतियो की अपेक्षा उत्कृष्ट प्रदेशबध के स्वामियो का निरूपण ३३७

गाथा ९३ ३४४-३४८

मूल और उत्तर प्रकृतियो की अपेक्षा जघन्य प्रदेशबध के स्वामियो का विवेचन ३४५

गाथा ९४ ३४८-३५४

प्रदेशबध के सादि वगैरह भग ३४९

गाथा ९५, ९६ ३५४-३६२

योगस्थान, प्रकृति, स्थितिबध, स्थितिबन्धाध्यवसाय-स्थान, अनुभाग-बधाध्यवसाय-स्थान, कर्मप्रदेश और रसच्छेद का परस्पर मे अल्पबहुत्व ३५५

प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बध के कारण ३६१

गाथा ९७ ३६२-३७०

लोक का स्वरूप ३६२
लोक का आधार व आकार ३६४
अधोलोक का समीकरण ३६६
ऊर्ध्वलोक का समीकरण ३६८
श्रेणि और प्रतर का स्वरूप ३६९

गाथा ९८ ३७१-३८६

उपशमश्रेणि का वर्णन ३७१
अनन्तानुबधी कपाय के उपशम की विधि ३७२
दर्शनत्रिक का उपशम ३७५
चारित्रमोहनीय का उपशम ३७६
उपशमश्रेणि से पतित होने पर गुणस्थानो में आने का क्रम ३८२
उपशमश्रेणि से गिरकर क्षपकश्रेणि पर चढने विषयक मत-भिन्नता ३८२
उपशम और क्षयोपशम मे अन्तर ३८५

गाथा ९९,१०० ३८६–३९७

क्षपकश्रेणि का स्वरूप ३८८
अनन्तानुबधी चतुष्क और दर्शनत्रिक का क्षपणक्रम ३८९
चारित्रमोहनीय का क्षपणक्रम ३९१
शेष घातिक कर्मों का क्षपणक्रम ३९३
सयोगि और अयोगिकेवली गुणस्थानो मे होने वाले कार्य ३९४
ग्रन्थ का उपसहार ३९७

परिशिष्ट ३९९

१. पचम कर्मग्रन्थ की मूलगाथाये ४०१
२. कर्मो की वन्ध, उदय, सत्ता प्रकृतियो की सख्या में भिन्नता का कारण ४०९
३. मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियो मे भूयस्कार आदि वंध ४११

४. कर्म प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबन्ध ४१७
५ आयुकर्म के अबाधाकाल का स्पष्टीकरण ४१९
६. योगस्थानो का विवेचन ४२०
७. ग्रहण किये गये कर्मस्कन्धो को कर्म प्रकृतियो मे विभाजित करने की रीति ४३५
८. उत्तर प्रकृतियो मे पुद्गलद्रव्य के वितरण तथा हीनाधिकता का विवेचन ४३८
९. पल्य को भरने में लिये जाने वाले बालाग्रो के बारे मे अनुयोगद्वार सूत्र आदि का कथन ४३८
१०. दिगम्बर साहित्य मे पल्योपम का वर्णन ४३९
११. दिगम्बर ग्रन्थो मे पुद्गल परावर्तो का वर्णन ४४१
१२. उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबन्ध के स्वामियो का गोम्मटसार कर्मकाड मे आगत वर्णन ४४४
१३. गुणश्रेणि की रचना का स्पष्टीकरण ४४६
१४ क्षपकश्रेणि के विधान का स्पष्टीकरण ४५१
१५. पचम कर्मग्रन्थ की गाथाओ की अकाराद्यनुक्रमणिका ४५५

कर्मसिद्धान्त का आशय

कर्मसिद्धान्त भारतीय चिन्तको एव ऋषियो के चिन्तन का नवनीत है। यथार्थ मे आस्तिक दर्शनो का भव्य प्रासाद कर्मसिद्धान्त पर आधारित है। इसको यो भी कह सकते है कि आस्तिक दर्शनो की नीव ही कर्मसिद्धान्त है। भले ही कर्म के स्वरूप-निर्णय मे मतैक्य न हो, पर अध्यात्मसिद्धि कर्ममुक्ति के विन्दु पर फलित होती है। इसमे मतभिन्नता नही है। प्रत्येक दर्शन मे किसी-न किसी रूप मे कर्म की मीमासा की है। जैनदर्शन मे इसका चिन्तन बहुत ही विस्तार और सूक्ष्मता से किया गया है।

ससार के सभी प्राणधारियो मे अनेक प्रकार की विषमतायें और विविधतायें दिखलाई देती है। इसके कारण के रूप मे सभी आत्मवादी दर्शनो ने कर्म-सिद्धान्त को माना है। अनात्मवादी बौद्धदर्शन मे कर्मसिद्धान्त को मानने के सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप से कहा है कि—

'सभी जीव अपने कर्मों से ही फल का भोग करते है, सभी जीव अपने कर्मो के आप मालिक है, अपने कर्मो के अनुसार ही नाना योनियो मे उत्पन्न होते है, अपना कर्म ही अपना वन्धु है अपना कर्म ही अपना आश्रय है, कर्म ही से ऊँचे और नीचे हुए है।'[1]

आचार्य जयन्त ने भी यही वात वताई है—

जगतो यच्च वैचित्र्यं सुखदु खादि भेदत.।
कृषिसेवादिसाम्येऽपि विलक्षणफलोदय ॥

१—मिलिन्दप्रश्न पृ० ८०—८१

अकस्मान्निधिलाभश्च विद्युत्पातश्च कस्यचित् ।
क्वचित्फलमयत्नेऽपि यत्नेऽप्यफलता क्वचित् ॥
तदेतद् दुर्घटं दृष्टात्कारणाद् व्यभिचारिण· ।
तेनादृष्टमुपेतव्यमस्य किञ्चन कारणम् ॥[१]

अर्थात्—ससार मे कोई सुखी है तो कोई दुखी है। खेती, नौकरी वगैरह करने पर भी किसी को विशेष लाभ होता है और किसी को नुकसान उठाना पडता है। किसी को अकस्मात सम्पत्ति मिल जाती है और किसी पर बैठे बिठाये बिजली गिर पडती है। किसी को बिना प्रयत्न किये ही फल-प्राप्ति हो जाती है और किसी को यत्न करने पर भी फल-प्राप्ति नही होती है। ये सब बाते किसी दृष्ट कारण की वजह से नही होती। अतः इनका कोई अदृष्ट कारण मानना चाहिये।

इसी तरह ईश्वरवादी भी प्राय इसमे एक मत है कि—

करम प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा॥

अर्थात् —प्राणी जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पडता है। मोटे तौर पर यही कर्मसिद्धान्त का आशय है।

कर्म का स्वरूप

उपर्युक्त प्रकार से कर्मसिद्धान्त के बारे मे ईश्वरवादियो और अनीश्वर-वादियों, आत्मवादियो और अनात्मवादियो मे मतैक्य होने पर भी कर्म के स्वरूप और उसके फलदान के सम्बन्ध मे मौलिक मतभेद है।

लौकिक भाषा मे तो साधारण तौर से जो कुछ किया जाता है, उसे कर्म कहते है। जैसे खाना-पीना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, सोचना, विचारना इत्यादि। लेकिन कर्म का सिर्फ इतना ही अर्थ नही है। इसीलिये परलोकवादी दार्शनिको ने कर्म का विशिष्ट अर्थ ग्रहण किया है। उनका मत है कि हमारा प्रत्येक अच्छा और बुरा कार्य अपना एक सस्कार छोड जाता है। जिसे नैया-

---

१—न्यायमजरी पृ० ४२ (उत्तरभाग)

यिक और वैशेषिक धर्माधर्म कहते है। योग उसे आशय और बौद्ध अनुशय नाम से सबोधित करते है। कर्म के अर्थ को स्पष्ट करने वाले उक्त नामो मे भिन्नता है, लेकिन उनका तात्पर्य यह है कि जन्म-जरा-मरण रूप संसार के चक्र मे पडे हुए प्राणी अज्ञान, अविद्या, मिथ्यात्व से आलिप्त है। जिसके कारण वे ससार का वास्तविक स्वरूप समझने मे असमर्थ रहते है। अत उनका जो भी कार्य होता है वह अज्ञानमूलक होता है, उसमे रागद्वेष का अभिनिवेश—दुराग्रह लगा होता है। इसलिये उनका प्रत्येक कार्य आत्मा के वधन का कारण होता है।

यदि उन दार्शनिको के मतव्यो का साराश निकाला जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके अभिमतानुसार कर्म नाम क्रिया या प्रवृत्ति का है और उस प्रवृत्ति के मूल मे रागद्वेष रहते है। यद्यपि यह प्रवृत्ति क्षणिक होती है किन्तु उसका सस्कार फल-काल तक स्थायी रहता है। जिसका परिणाम यह होता है कि सस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से सस्कार की परम्परा चलती रहती है और इसी का नाम ससार है। किन्तु जैनदर्शन के मतानुसार कर्म का स्वरूप किसी अश मे उक्त मतो से भिन्न है।

जैनदर्शन में कर्म का स्वरूप

जैनदर्शन मे कर्म केवल सस्कारमात्र ही नही है किन्तु एक वस्तुभूत पदार्थ है जो रागी, द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ उसी तरह घुल-मिल जाता है जैसे दूध मे पानी। यद्यपि वह पदार्थ है तो भौतिक, किन्तु उसका कर्म नाम इसलिये रूढ हो गया है कि जीव के कर्म अर्थात् क्रिया के कारण आकृष्ट होकर वह जीव के साथ वध जाता है। ये पदार्थ छह दिशाओ से गृहीत, जीव प्रदेश के क्षेत्र में स्थित, सूक्ष्म, कर्मप्रायोग्य अनन्तानन्त परमाणुओ से वने होते है। आत्मा अपने सव प्रदेशो, सर्वांग से कर्मों को आकृष्ट करती है। प्रत्येक कर्मस्कन्ध का सभी आत्मप्रदेशो के साथ बंधन होता है और वे कर्मस्कन्ध ज्ञानावरण आदि भिन्न-भिन्न प्रकृतियों मे निमित्त होते है। प्रत्येक आत्मप्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म-पुद्गलस्कन्ध चिपके रहते हैं।

उक्त कथन का आशय यह है कि जहाँ अन्य दर्शन राग और द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया को कर्म कहते है और उस कर्म के क्षणिक होने

पर भी तज्जन्य सस्कारो को स्थायी मानते हैं, वहाँ जैनदर्शन का मंतव्य है कि राग-द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ एक प्रकार का द्रव्य आत्मा मे आता है, जो उसके राग-द्वेष रूप परिणामो का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बध जाता है। कालान्तर मे वही द्रव्य आत्मा को शुभ या अशुभ फल देता है।

जैनदर्शन ने रागद्वेषमय आत्मपरिणति और उसके सम्बन्ध से आकृष्ट सश्लिष्ट भौतिक द्रव्य को क्रमश: भावकर्म और द्रव्यकर्म नाम दिया है। इनमे से भावकर्म की तुलना योगदर्शन की वृत्ति एव न्यायदर्शन की प्रवृत्ति से की जा सकती है परन्तु जैनदर्शन के कर्म स्वरूप मे तथा अन्य दर्शनो के कर्म स्वरूप मानने मे अन्तर है। जैनदर्शन मे द्रव्यकर्म के बारे मे माना है कि अपने चारो ओर जो कुछ भी हम अपने चर्म-चक्षुओ से देखते है, वह पुद्गल द्रव्य है। यह पुद्गल द्रव्य तेईस प्रकार की वर्गणाओ मे विभाजित है और उन वर्गणाओ मे एक कार्मणवर्गणा है, जो समस्त ससार मे व्याप्त है। यह कार्मणवर्गणा ही जीव के भावो का निमित्त पाकर कर्म रूप परिणत हो जाती है—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
त पविसदि कम्मरय णाणावरणादिभावेंहि ॥

अर्थात्—जब रागद्वेष से युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामो मे लगती है तब कर्म रूपी रज ज्ञानावरणादि रूप से उसमे प्रवेश करता है। जो जीव के साथ बध को प्राप्त हो जाता है।

अमूर्त का मूर्त के साथ बंध

जीव अमूर्तिक है और कर्मद्रव्य मूर्तिक है। ऐसी दशा मे उन दोनो का वन्ध ही सभव नही है। क्योकि मूर्तिक के साथ मूर्तिक का वन्ध तो हो सकता है, किन्तु अमूर्तिक के साथ मूर्तिक का वन्ध कैसे सभव है?

इसका समाधान यह है कि अन्य दर्शनो की तरह जैनदर्शन ने जीव और कर्मप्रवाह को अनादि माना है। ऐसी मान्यता नही है कि जीव पूर्व मे सर्वत: शुद्ध था और बाद मे उसके साथ कर्मो का वन्ध हुआ। क्योकि इस मान्यता मे अनेक प्रकार की विसगतिया हैं और शकाये पैदा होती है। जीव और कर्म

के अनादि सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए आचार्यों ने सयुक्तिक समाधान किया है, जो इस प्रकार हैं—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदि ।।

अर्थात्—जो जीव ससार मे स्थित है यानि जन्म और मरण के चक्र मे पडा हुआ है, उसके राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं । उन परिणामो से नये कर्म वन्धते है और उन कर्मों के बंध से गतियो मे जन्म लेना पडता है ।

उक्त कथन का तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक ससारी जीव अनादि काल से राग-द्वेषयुक्त है । उस राग-द्वेषयुक्तता के कारण कर्म वधते है । जिसके फल-स्वरूप विभिन्न गतियो मे पुन-पुन जन्म, मरण होते रहने से नवीन कर्मो का वन्ध और उस वध से जन्म-मरण, संसार का चक्र अवाधगति से चलता रहता है ।

जव जन्म लेने से नवीन गति की प्राप्ति होती है तो उसके वाद के क्रम का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्य कहते है कि—

गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्दियाणि जायन्ते ।
तेहिं दु विसयगहणं तत्तो रागो व दोसो व ।।
जायदि जीवस्सेवं भावो ससारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ।।

जन्म लेने पर शरीर होता है, शरीर मे इद्रियाँ होती है, इन्द्रियो से विषय ग्रहण करता है । विषयो के ग्रहण करने से राग व द्वेष रूप परिणाम होते है । इस संसारचक्र मे पडे हुए जीव के भावो से कर्म और कर्म से भाव होते रहते हैं । यह प्रवाह अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि-अनन्त और भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि-सान्त है ।

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ससारी जीव अनादि काल से मूर्तिक कर्मो से वधा हुआ है । जव जीव मूर्तिक कर्मो से वधा है तव उसके जो नवीन कर्म वंधते है वे कर्म जीव मे स्थित मूर्तिक कर्मो के साथ ही वधते है । क्योकि मूर्तिक का मूर्तिक के साथ संयोग होता है और मूर्तिक का मूर्तिक के

साथ ही वध होता है। इसलिये आत्मा मे स्थित पुरातन कर्मों के साथ ही नये कर्म बन्ध को प्राप्त होते रहते है। इस प्रकार कथचिन् मूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कर्मद्रव्य का सम्बन्ध जानना चाहिये। साराश यह है कि जैनदर्शन मे जीव से सम्बद्ध मूर्तिक द्रव्य और उसके निमित्त से होने वाले रागद्वेष रूप भावो को कर्म कहा गया है। कर्म केवल जीव द्वारा किये गये अच्छे बुरे कर्मो का नाम नही है किन्तु जीव के कर्मों के निमित्त से जो पुद्‌गल परमाणु आकृष्ट होकर उसके साथ वध को प्राप्त होते है, वे पुद्‌गल परमाणु भी कर्म कहलाते है और उन पुद्‌गल परमाणुओ के फलोन्मुख होने पर उनके निमित्त से जीव मे जो कामक्रोधादि भाव होते है, वे भी कर्म कहे जाते है।

सम्बन्ध की अनादिता

जैनदर्शन मे वैदिकदर्शन के ब्रह्मतत्त्व के समान आत्मा को निर्मल, विशुद्ध तत्त्व माना है। समयप्राभृत मे आत्मा (जीव) के स्वरूप का निर्देश करते हुए इसे रसरहित, गधरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, अव्यक्त और चेतना गुण वाला वतलाया है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र मे जीव को उपयोग लक्षण वाला लिखा है परन्तु इससे उक्त कथन का ही समर्थन होता है। क्योकि ज्ञान और दर्शन ये चेतना के भेद हैं। उपयोग शव्द से इन्ही का वोध होता है।

जीव के सिवाय अन्य जो पदार्थ है, जिनमे ज्ञानदर्शन नही पाया जाता, उन्हे अजीव कहते है। जड, अचेतन यह अजीव के नामान्तर है। वैज्ञानिको ने ऐसे जड पदार्थों की सख्या अनेक वतलाई है। परन्तु जैनदर्शन मे वर्गीकरण करके ऐसे पदार्थ पाँच वतलाये है। जिनके नाम है—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्‌गल। इनमे वैज्ञानिको द्वारा वतलाये गये सव पदार्थो—तत्त्वो का समावेश हो जाता है। उक्त पाँच तत्त्वो के साथ जीव को मिलाने से छह तत्त्व होते है। इन छह तत्त्वो को छह द्रव्य कहते है।

उक्त छह द्रव्यो मे से धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य सदा अविकारी माने गये है। निमित्तवश इनके स्वभाव मे कभी भी विपरिणाम-विकार नही होता है किन्तु जीव और पुद्‌गल ये दो द्रव्य ऐसे है जो विकारी और अविकारी दोनो प्रकार के होते है। जव ये अन्य द्रव्य से सश्लिष्ट

रहते है तव विकारी होते है और इसके अभाव में अविकारी होते हैं। इस हिसाब से जीव और पुद्गल के दो-दो भेद हो जाते है। ससारी और मुक्त, ये जीव के दो भेद है तथा अणु और स्कन्ध, ये पुद्गल के दो भेद है। जीव मुक्त अवस्था मे अविकारी है और ससारी अवस्था मे विकारी। पुद्गल अणु अवस्था मे अविकारी और स्कन्ध अवस्था मे विकारी। तात्पर्य यह है कि जीव और पुद्गल जव तक अन्य द्रव्य से सश्लिष्ट रहते है तव तक उस सश्लेप के कारण उनके स्वभाव मे विपरिणति हुआ करती है। इसलिए वे उस समय विकारी रहते है और सश्लेष के हटते ही वे अविकारी हो जाते है।

जीव और पुद्गलो का अन्य द्रव्य से सश्लिष्ट होना इनकी योग्यता पर निर्भर है। अन्य द्रव्यो मे यह योग्यता नही है। ऐसी योग्यता का निर्देश करते हुए जीव मे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप तथा पुद्गल मे उसे स्निग्ध और रूक्ष गुण रूप वतलाया है। जीव मिथ्यात्व आदि के निमित्त से अन्य द्रव्य से वधता है और पुद्गल स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से अन्य द्रव्य से वध को प्राप्त होता है।

जीव मे मिथ्यात्वादि रूप योग्यता सश्लेप पूर्वक ही होती है और इससे वह कर्मवर्गणाओ को ग्रहण करके मलिन वनता है। परन्तु वह कर्मवर्गणाओ का ग्रहण कव से कर रहा है, इन दोनो का सवन्ध कवसे जुडा ? तो इसका समाधान अनादि शब्द के द्वारा किया जा सकता है। क्योकि आदि मानने पर अनेक विसगतियाँ आती है। जैसे—सवन्ध यदि सादि है तो पहले आत्मा है या कर्म है या युगपद् दोनो का सम्वन्ध है। पहले प्रकार मे शुद्ध आत्मा कर्म करती नही है। दूसरे भग मे कर्म कर्त्ता के अभाव मे वनते नही है। तीसरे भग मे युगपद् जन्म लेने वाले कोई भी दो पदार्थ परस्पर कर्त्ता-कर्म नही वन सकते है। इसलिये कर्म और आत्मा का अनादि सम्वन्ध माननायुक्ति सगत है।

हरिभद्रसूरि ने योगशतक श्लोक ५५ मे आत्मा और कर्म के अनादित्व को समझाने के लिये एक वडा ही सुन्दर उदाहरण दिया है कि अनुभव तो वर्तमान समय का करते है, फिर भी वर्तमान अनादि है क्योकि अतीत अनन्त है और कोई भी अतीत वर्तमान के विना नही वना। यह वर्तमान का प्रवाह कव से चला आ रहा है, इस प्रश्न का उत्तर अनादि के

द्वारा ही दिया जाता है। इसी प्रकार कर्म और आत्मा का सम्बन्ध प्रवाह की दृष्टि से अनादि है। परन्तु यहाँ यह जानना चाहिये कि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध स्वर्णमृत्तिका की तरह अनादि-सान्त है। जैसे अग्नि के ताप से मृत्तिका को गलाकर स्वर्ण को विशुद्ध किया जा सकता है, वैसे ही शुभ अनुष्ठानो से कर्म के अनादि सम्बन्ध को तोडकर आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है

कर्मबन्ध की प्रक्रिया

आत्मा के साथ कर्मबन्ध की प्रक्रिया चार प्रकार की है—१—प्रकृति बन्ध, २—स्थितिबन्ध, ३—अनुभागबन्ध, ४—प्रदेशबध। ग्रहण के समय कर्मपुद्गल एकरूप होते है। किन्तु बन्धकाल मे उनमे आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि भिन्न-भिन्न गुणो को रोकने का भिन्न-भिन्न स्वभाव हो जाता है। इसे प्रकृतिबध कहते है। उनमे समय की मर्यादा का निर्धारण होना स्थितिबध है आत्मपरिणामो की तीव्रता और मदता के अनुरूप कर्मबन्धन मे तीव्र रस और मद रस का होना, अनुभाग बध कहलाता है और कर्म पुद्गलो का आत्मप्रदेशो के साथ एकीभाव या कर्मप्रदेशो की सख्या का निर्धारण होना प्रदेशबध है। प्रथम कर्मग्रन्थ मे मोदक के दृष्टान्त द्वारा कर्मबन्ध के इन चारो प्रकारो को बहुत ही सुन्दर रीति से स्पष्ट किया गया है। जैसे—मोदक पित्तनाशक है या कफ-नाशक है, यह उसके स्वभाव पर निर्भर है, वह मोदक कितने काल तक अपने स्वभाव रूप मे बना रहेगा, यह उसकी स्थिति है। उसकी मधुरता या कटुता का तारतम्य रस पर अवलम्बित है और मोदक का वजन कितना है, यह उसके परमाणुओ पर निर्भर है। इस प्रकार मोदक का यह रूपक कर्मबन्धन की प्रक्रिया का यथार्थ निर्देशन कर देता है।

उक्त प्रकृतिबध आदि बध के चार प्रकारो मे से आत्मा की योग शक्ति प्रकृति और प्रदेशबध की कारण है और स्थिति एव अनुभाग बध के कारण काषायिक परिणाम है। कर्मबधन दो तरह का होता है—१—साम्परायिक, एव २—ईर्यापथिक बध। सकषायी का बध साम्परायिक होता है। यह अनन्त ससार का कारण है और अकषायी का बध ईर्यापथिक होता है, जिसमे प्रथम समय मे कर्म परमाणु आत्मा के साथ बधते है और दूसरे समय मे निर्जीर्ण हो जाते है। यह बन्ध आत्मा पर अपना कुछ भी प्रभाव नही दिखलाता है।

आत्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व

कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के बारे मे साख्य के सिवाय प्रायः सभी वैदिकदर्शन किसी-न-किसी रूप से आत्मा को ही कर्म का कर्त्ता और उसके फल का भोक्ता मानते है। किन्तु साख्य भोक्ता तो पुरुष को मानता है और कर्त्ता प्रधान प्रकृति को कहता है।

ईश्वर को जगन्नियन्ता मानने वाले वैदिक दर्शन यद्यपि जीव को कर्म करने मे स्वतन्त्र लेकिन उसका फल भोगने मे परतन्त्र मानते हैं। दूसरे शब्दो मे यह कह सकते हैं कि कर्म फल देने की निर्णायक शक्ति ईश्वर है। उसकी आज्ञा, निर्णय के अनुसार जीव कर्मफल का भोग करता है। जैसा कि महाभारत में लिखा है—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥

अर्थात्—यह अज्ञ प्राणी अपने सुख और दुःख का स्वामी नही है। ईश्वर के द्वारा प्रेरित होकर वह स्वर्ग अथवा नरक मे जाता है।

भगवद्गीता मे ईश्वर को प्राणियो के सुखदुःख और कर्मफल का निर्णायक बताने के लिए लिखा है—

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्।

मै जिसका निश्चय कर देता हूँ, वही इच्छित फल मनुष्य को मिलता है।

इस प्रकार से कर्म का फल ईश्वराधीन होने पर भी ईश्वर फल का निर्णय प्राणियो के सत्-असत्, अच्छे-बुरे कर्मो के अनुरूप ही करता है। जैसा कि भगवद्गीता मे लिखा है—

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ॥५-१५॥

परमेश्वर न तो किसी के पाप को लेता है और न पुण्य को अर्थात् प्राणिमात्र को अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगने पड़ते है। इस प्रकार सृष्टि का सचालक ईश्वर-परमेश्वर को मानने वाले दर्शन परमेश्वर के सिवाय अन्य को कर्मफल का देने वाला नही मानते है।

उक्त मतव्यो से विलक्षण जैनदर्शन का दृष्टिकोण है, जिसमे कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के बारे मे स्पष्ट दिशानिर्देश किया गया है।

वस्तु के निरूपण की जैनदर्शन मे दो दृष्टियाँ है—जिन्हें निश्चयनय अं व्यवहारनय कहते है। जो परनिमित के विना वस्तुस्वरूप का कथन कर है उसे निश्चयनय कहते है और परनिमित्त की अपेक्षा से जो वस्तु कथन करता है, वह व्यवहारनय है। जैनदर्शन मे जीव के कर्म के कर्तृत्व अं भोक्तृत्व का विचार भी इन दोनो नयो से किया गया है।

कर्म का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है और यह भी सकेत किया ग है कि कर्म का जीव के साथ अनादि सम्बन्ध है। इन कर्मो के कर्तृत्व अं भोक्तृत्व के बारे मे जब हम निश्चय दृष्टि से विचार करते है तो जीव न द्रव्य कर्मो का कर्त्ता ही प्रमाणित होता है और न उनके फल का भोक्ता ही क्योकि द्रव्यकर्म पौद्गलिक है, पुदगल द्रव्य के विकार हैं, इसीलिए पर है उनका कर्त्ता चेतन जीव नही हो सकता है। चेतन का कर्म चैतन्य रूप होता और अचेतन का कर्म अचेतन रूप। यदि चेतन का कर्म भी अचेतन रूप हो लगे तो चेतन और अचेतन का भेद नष्ट होकर सकर दोष उपस्थित हो जायेगा इसका फलितार्थ यह हुआ कि प्रत्येक द्रव्य स्वभाव का कर्त्ता है, परभाव क कर्त्ता नही है। जैसे जल का स्वभाव शीतल है किन्तु अग्नि का सम्बन्ध हो से उष्ण हो जाता है। किन्तु इस उष्णता का कर्त्ता जल को नही कहा ज सकता है, क्योकि उष्णता तो अग्नि का धर्म है और वह जल मे अग्नि के सबन् से आई है, अत: आरोपित है। अग्नि का सम्बन्ध अलग होते ही चली जाती है इसी प्रकार जीव के अशुद्ध भावो का निमित्त पाकर जो पुद्गलद्रव्य क रूप परिणत होते है, उनका कर्त्ता स्वय पुद्गल है, जीव उनका कर्त्ता नही ह सकता है, जीव तो अपने भावो का कर्त्ता है। इसी वात को समयप्राभृत स्पष्ट किया है—

> जीवपरिणामहेदुं कम्मत्त पुग्गला परिणमंति।
> पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोऽपि परिणमदि ॥ ८६ ॥
> ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
> अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हपि ॥ ८७ ॥
> एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएणभावेण।
> पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ८८ ॥

जीव तो अपने रागद्वेषादि रूप भावो को करता है किन्तु उन भावो का निमित्त पाकर कर्म रूप होने के योग्य पुद्‌गल कर्म रूप परिणत हो जाते है तथा कर्म रूप परिणत हुए पुद्‌गल द्रव्य जब अपना फल देते है तो उनके निमित्त को पाकर जीव भी रागादि रूप परिणमन करता है। यद्यपि जीव और पौद्‌गलिक कर्म दोनो एक दूसरे का निमित्त पाकर परिणमन करते है तो भी न तो जीव पुद्‌गल कर्मो के गुणो का कर्त्ता है और न पुद्‌गल कर्म जीव के गुणो के कर्त्ता है, किन्तु परस्पर मे दोनो एक दूसरे का निमित्त पाकर परिणमन करते है। अतः आत्मा अपने भावो का ही कर्त्ता है, पुद्‌गलकर्मकृत समस्त भावो का कर्ता नही है।

उक्त कथन पर यह शका हो सकती है कि जैनदर्शन भी साख्यदर्शन के पुरुष की तरह आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता और प्रकृति की तरह पुद्‌गल को ही कर्त्ता मानता है। किन्तु ऐसी वात नही है। साख्यदर्शन का पुरुष तो सर्वथा अकर्ता है किन्तु जैनदर्शन मे आत्मा को सर्वथा अकर्ता नही माना है। वह अपने स्वाभाविक भाव—ज्ञान, दर्शन, सुख आदि तथा वैभाविक भाव—रागद्वेष, मोह आदि का कर्त्ता है किन्तु उनके निमित्त से जो पुद्‌गलो मे कर्म रूप परिणमन होता है, उसका वह कर्त्ता नही है। उक्त कथन का साराश यह है कि वास्तव मे उपादान-कारण को ही किसी वस्तु का कर्त्ता कहा जा सकता है तथा निमित्तकारण मे जो कर्त्ता का व्यवहार किया जाता है, वह व्यावहारिक लौकिक दृष्टि से किया जाता है। कर्तृत्व के वारे मे जो वात कही गई है, वही भोक्तृत्व के बारे मे भी जाननी चाहिए। जो जिसका कर्त्ता होता है वही उसका भोक्ता हो सकता है और जो जिसका कर्त्ता ही नही वह उसका भोक्ता कैसे हो सकता है। इस प्रकार कर्तृत्व और भोक्तृत्व के वारे मे दृष्टिभेद से जैनदर्शन की द्विविध व्याख्या है कि वास्तव मे तो आत्मा अपने ही स्वाभाविक और वैभाविक भावो का कर्त्ता और भोक्ता है लेकिन व्यवहार से उसे स्वकृत कर्मो के फलस्वरूप मिलने वाले सुखदु.खादि का भोक्ता कहा जाता है।

इसी प्रसग मे यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि जैनदर्शन ईश्वर को सृष्टि का नियन्ता नही मानता है, अत. कर्मफल देने मे भी उसका हाथ नही है, कर्म अपना फल स्वय देते हैं। उनके लिए अन्य न्यायाधीश की आवश्यकता

नही है । जैसे शराब नशा पैदा करती है और दूध ताक़त देता है । जो मनु
शराब पीता है उसे बेहोशी होती है और जो दूध पीता है उसके शरीर
पुष्टता आती है । शराब या दूध पीने के बाद यह आवश्यकता नही रहती है
कि उसका फल देने के लिए कोई दूसरी नियामक शक्ति हो । इसी प्रकार जी
के प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक परिस्पन्द के द्वारा जो कर्म परमा
जीवात्मा की ओर आकृष्ट होते है तथा रागद्वेष का निमित्त पाकर उसमे ब
जाते है, उन कर्म परमाणुओ मे भी शराब और दूध की तरह शुभ या अशु
करने की शक्ति रहती है जो चैतन्य के सम्बन्ध से व्यक्त होकर उस पर अप
प्रभाव दिखलाती है और उसके प्रभाव से मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता
जो उसे सुखदायक और दुखदायक होते है । यदि कर्म करते समय जीव के भ
अच्छे होते है तो बधने वाले कर्मपरमाणुओ पर अच्छा प्रभाव पडता है औ
कालान्तर मे उससे अच्छा फल मिलता है तथा यदि भाव बुरे हो तो बुरा अस
पडता है और कालान्तर मे फल भी बुरा ही मिलता है ।

यदि ईश्वर को फलदाता माना जाये तो जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्य क
घात करता है, वहाँ घातक को दोष का भागी नही होना चाहिए, क्योकि उ
मनुष्य के द्वारा ईश्वर मरने वाले को मृत्यु का दण्ड दिलाता है । जैसे राज
जिन पुरुषो के द्वारा अपराधियो को दण्ड दिलाता है, वे पुरुष अपराधी नह
कहे जाते, क्योकि वे राजा की आज्ञा का पालन करते है । इसी तरह किसी क
घात करने वाला घातक भी जिसका घात करता है, उसके पूर्वकृत कर्मो क
फल भुगतवाता है, क्योकि ईश्वर ने उसके पूर्वकृत कर्मों की यही सजा निय
की होगी, तभी तो उसका वध किया गया है । यदि कहा जाय कि मनुष्य कर्म
करने मे स्वतन्त्र है अत घातक का कार्य ईश्वरप्रेरित नही है किन्तु उसकी
स्वतन्त्र इच्छा का परिणाम है तो कहना होगा कि ससार दशा मे कोई भी प्राणी
वस्तुत. स्वतन्त्र नही, सभी अपने-अपने कर्मो से बंधे हुए है—"कर्मणा बध्यते
जन्तु" (महाभारत) और कर्म की अनादि परम्परा है । ऐसी परिस्थिति मे 'बुद्धि
कर्मानुसारिणी' अर्थात—कर्म के अनुसार प्राणी की बुद्धि होती है, के न्याया-
नुसार किसी भी काम को करने या न करने के लिए मनुष्य स्वतन्त्र नही है ।

इस स्थिति मे यह कहा जाय कि ऐसी दशा मे तो कोई भी व्यक्ति मुक्ति

लाभ नही कर सकेगा क्योकि जीव कर्म से बधा हुआ है और कर्म के अनुसार जीव की बुद्धि होती है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि कर्म अच्छे भी होते हैं और बुरे भी होते है। अतः अच्छे कर्म का अनुसरण करने वाली बुद्धि मनुष्य को सन्मार्ग की ओर और बुरे कर्म का अनुसरण करने वाली बुद्धि मनुष्य को कुमार्ग पर ले जाती है। सन्मार्ग पर चलने से मुक्तिलाभ और कुमार्ग पर चलने से कर्मबंध होता है। ऐसी दशा मे वुद्धि के कर्मानुसारिणी होने से मुक्तिलाभ मे कोई वाधा नही आती है।

आत्मा का स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य

साधारणतया कहा जाता है कि आत्मा कर्मों के कर्तृत्व काल मे स्वतन्त्र है और भोक्तृत्व काल मे परतन्त्र। जैसे कि विष खाने के बारे मे मनुष्य स्वतन्त्र है, वह खाये या न खाये, लेकिन विष खा लेने के बाद मृत्यु से बचना उसके हाथ की वात नही है। यह एक स्थूल उदाहरण है, क्योकि उपचार से निर्विप भी हुआ जा सकता है, मृत्यु से वचा जा सकता है। आत्मा मे भी कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व इन दोनो अवसरो पर स्वातत्र्य और पारतत्र्य फलित होते हैं। जिसका स्पष्टीकरण नीचे करते हैं—

सहजतया आत्मा कर्म करने मे स्वतन्त्र है। वह चाहे जैसे भाग्य का निर्माण कर सकती है। कर्मों पर पूर्ण विजय प्राप्त करके शुद्ध वन कर मुक्त हो सकती है। किंतु कभी-कभी पूर्वजनित कर्म और वाह्य निमित्त को पाकर ऐसी परतन्त्र वन जाती है कि वह जैसा चाहे वैसा कभी भी नही कर सकती है। जैसे कोई आत्मा सन्मार्ग पर वढना चाहती है, किन्तु कर्मोदय की बलवत्ता से उस मार्ग पर चल नही पाती है, फिसल जाती है। यह है आत्मा का कर्तृत्व काल मे स्वातंत्र्य और पारतत्र्य।

कर्म करने ने वाद आत्मा पराधीन —कर्माधीन ही वन जाती है, ऐसा नही है। उस स्थिति मे भी आत्मा का स्वातत्र्य सुरक्षित है। वह चाहे तो अशुभ को शुभ मे परिवर्तित कर सकती है, स्थिति और रस का ह्रास कर सकती है, विपाक (फलोदय) का अनुदय कर सकती है, फलोदय को अन्य रूप मे [illegible] तित कर सकती है। इसमे आत्मा का स्वातत्र्य मुखर है। [illegible]तत्र से है कि जिन कर्मों को ग्रहण किया है, उन्हें विना भोगे मुक्ति न

भले ही सुदीर्घ काल तक भोगे जाने वाले कर्म थोडे समय के लिए भोगे जायें किन्तु सबको भोगना ही पडता है।

कर्मभोग के प्रकार

जीव द्वारा कर्म फल के भोग को कर्म की उदयावस्था कहते है। उदयावस्था मे कर्म के शुभ या अशुभ फल का जीव द्वारा वेदन किया जाता है। यह कर्मोदय दो प्रकार का है—(१) प्रदेशोदय और (२) विपाकोदय।

जिन कर्मो का भोग सिर्फ प्रदेशो मे होता है, उसे प्रदेशोदय कहते है और जो कर्म शुभ-अशुभ फल देकर नष्ट होते है, वह विपाकोदय है। कर्मो का विपाकोदय ही आत्मा के गुणो को रोकता है और नवीन कर्मबन्ध मे योग देता है। जबकि प्रदेशोदय मे नवीन कर्मो के बन्ध करने की क्षमता नही है और न वह आत्मगुणो को आवृत करता है। कर्मों के द्वारा आत्मगुण प्रकट रूप से आवृत होने पर भी कुछ अशो मे सदा अनावृत ही रहते है, जिससे आत्मा के अस्तित्व का बोध होता रहता है। कर्मावरणो के सघन होने पर भी उन आवरणो मे ऐसी क्षमता नही है जो आत्मा को अनात्मा, चेतन को जड बना दें।

कर्मक्षय की प्रक्रिया

जैनदर्शन की कर्म के बन्ध, उदय की तरह कर्मक्षय की प्रक्रिया भी सयुक्तिक और गम्भीरता लिए हुए है। स्थिति के परिपाक होने पर कर्म उदयकाल मे अपना वेदन कराने के बाद झड जाते है। यह तो कर्मो का सहजक्षय है। इसमे कर्मो की परम्परा का प्रवाह नष्ट नही होता है। पूर्व कर्म नष्ट हो जाते है लेकिन साथ ही नवीन कर्मो का बध चालू रहता है। यह कर्मो के क्षय की यथार्थ प्रक्रिया नही हे। कर्मो का विशेप रूप से क्षय करने के लिए जिससे आत्मा अ-कर्म होकर मुक्त हो सके, विशेप प्रयत्न करना पडता है। यह प्रयत्न सयम, तप, त्याग आदि साधनो द्वारा किए जाते है। अप्रमत्तसयत नामक सातवें गुणस्थान तक तो उक्त साधनो द्वारा कर्मक्षय विशेप रूप से होता रहता है और सातवे गुणस्थान मे आत्म-शक्ति मे प्रौढता आने के बाद जब आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान की प्राप्ति करती है तो विशेप रूप से कर्मक्षय करने के लिए विशेप प्रकार की प्रक्रिया होती है। वह इस प्रकार है—

(१) अपूर्व स्थितिघात (२) अपूर्व रसघात, (३) गुणश्रेणि, (४) सक्रमण, (५) अपूर्व स्थितिबध।

उक्त पाचो का सामान्य विवेचन इस तरह है—

सर्व प्रथम आत्मा अपवर्तनाकरण के द्वारा कर्मो को अन्तर्मुहूर्त मे स्थापित कर गुणश्रेणि का निर्माण करती है। स्थापना का क्रम यह है कि—उदय-कालीन समय को लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त प्रथम उदयात्मक समय को छोडकर अन्तर्मुहूर्त के शेष जितने समय है, इनमे कर्मदलिको को क्रमवद्ध श्रेणी रूप से स्थापित किया जाता है। प्रथम समय मे स्थापित कर्मदलिक सवसे कम होते है। दूसरे समय से स्थापित कर्मदलिक प्रथम समय मे स्थापित कर्मदलिको मे असख्यात गुणे अधिक, तीसरे समय मे द्वितीय समय से भी असख्यात गुणे अधिक होते है। यह क्रम अन्तर्मुहूर्त के चरम समय तक जानना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक समय कर्मदलिको की स्थापना असख्यात गुणी अधिक होने के कारण इसे गुणश्रेणि कहा जाता है।

इस अवसर पर आत्मा अतीव स्वल्प स्थिति के कर्मो का बधन करती है, जैसा उसने पहले कभी नही किया है। अत इस अवस्था का वध अपूर्व स्थिति-बध कहलाता है। स्थितिघात और रसघात भी इस समय मे अपूर्व होता है। गुण-सक्रमण मे अशुभ कर्मों की शुभ कर्म रूप परिणति होती जाती है।

अष्टम गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानो मे ज्यो-ज्यो आत्मा वढती है, त्यो-त्यो अल्प समय मे कर्मदलिक अधिक मात्रा मे क्षय होते जाते है।

इस उत्क्रान्ति की स्थिति मे वढती हुई आत्मा जव परमात्मशक्ति को जागृत करने के लिये सन्नद्ध हो जाती है, आयु अल्प रहता है एव कर्मदलिक अधिक रहते है तव इन अधिक स्थिति और दलिको वाले कर्मों को आयु के समय के वरावर करने के लिये केवलीसमुद्घात होता है। इस समुद्घात काल मे अधिक शक्तिशाली माने जाने वाले कर्मो को आत्मा अपने वीर्य से पराजित कर दुर्वल वना देती है। उनकी स्थिति और सख्या, प्रदेश उतने ही रह जाते हैं जितने की आयुकर्म के रहते है। ऐसा होने पर शेष रहे कर्मो का आयुकर्म की समयस्थिति के साथ ही क्षय हो जाने से आत्मा पूर्ण निष्कर्म

होकर सिद्ध-बुद्ध हो जाती है। यही आत्मा का लक्ष्य है, जिसे प्राप्त करने मे आत्मा के पुरुषार्थ की सफलता है।

इस प्रकार से जैनदर्शन मे कर्मसिद्धान्त का वैज्ञानिक रूप से निरूपण किया गया है। जिसमे अनेक उलझी हुई गुत्थियो को सुलझाया है। विभिन्न रहस्यो को उद्घाटित किया है और आत्मा मे स्वतन्त्रता प्राप्ति का उत्साह जगता है। स्वपुरुषार्थ पर विश्वास करने की प्रेरणा मिलती है।

ग्रन्थ परिचय

प्रस्तुत शतक नामक कर्मग्रन्थ श्री देवेन्द्रसूरि रचित नवीन कर्मग्रन्थो मे पाचवा कर्मग्रन्थ है। इसके पूर्व के चार कर्मग्रन्थ क्रमश (१) कर्मविपाक, (२) कर्मस्तव, (३) बधस्वामित्व, (४) षडशीति नामक इसी ग्रन्थमाला मे प्रकाशित हो चुके है। उन कर्मग्रन्थो की प्रस्तावना मे उनके बारे मे परिचय दिया गया है। यहाँ उसी क्रम से इस पचम कर्मग्रन्थ का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस पचम कर्मग्रन्थ मे प्रथम कर्मग्रन्थ मे वर्णित प्रकृतियो मे से कौन-कौन प्रकृतिया ध्रुवबंधिनी, अध्रुवबधनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ताक, अध्रुवसत्ताक, सर्वदेशघाती, अघाती, पुण्य, पाप, परावर्तमान, अपरावर्तमान, हैं, यह बतलाया है।

उसके बाद उन्ही प्रकृतियो मे कौन-कौन क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भवविपाकी और पुद्गलविपाकी है, यह बताया गया है।

अनन्तर कर्म प्रकृतियो के प्रकृतिबध, स्थितिबध, रसबध और प्रदेशबध, इन चार प्रकार के बंधो का स्वरूप बतलाया है। प्रकृतिबध के कथन के प्रसग मे मूल तथा उत्तर प्रकृतियो मे भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य बधो को गिनाया है। स्थितिबध को बतलाते हुए मूल तथा उत्तर प्रकृतियो की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति, एकेन्द्रिय आदि जीवो के उसका प्रमाण निकालने की रीति और उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थितिबध के स्वामियो का वर्णन किया है। अनुभाग (रस) बध को बतलाते हुए शुभाशुभ प्रकृतियो मे तीव्र या मद रस पडने के कारण, शुभाशुभ रस का विशेष स्वरूप, उत्कृष्ट

जघन्य अनुभाग वध के स्वामी आदि का वर्णन किया है। प्रदेशबंध का र्णन करते हुए वर्गणाओ का स्वरूप, उनकी अवगाहना, बद्धकर्मदलिको का ूल एव उत्तर प्रकृतियो मे बटवारा, कर्मक्षपण की कारण ग्यारह गुण-ेणियाँ, गुणश्रेणी रचना का स्वरूप, गुणस्थानो का जघन्य और उत्कृष्ट न्तराल, प्रसगवश पल्योपम, सागरोपम और पुद्गलपरावर्त के भेदो का स्वरूप, उत्कृष्ट व जघन्य प्रदेशवध के स्वामी, योगस्थान वगैरह का अल्प-बहुत्व और प्रसगवश लोक वगैरह का स्वरूप बतलाया है।

अत में उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि का कथन करते हुए ग्रन्थ को समाप्त किया है।

पंचम कर्मग्रन्थ की रचना का आधार—जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि श्री देवेन्द्रसूरि ने अपने इन नवीन कर्मग्रन्थो के नाम प्राचीन कर्म-ग्रन्थो के आधार पर ही रखे है तथा उनके आधार पर ही इनकी रचना हुई है। इसका प्रमाण यह है कि पंचम कर्मग्रन्थ की टीका के प्रारम्भ मे श्री देवेन्द्रसूरि ने प्राचीन शतक के प्रणेता श्री शिवशर्मसूरि का स्मरण किया है और अत मे लिखा है कि कर्मप्रकृति, पचसग्रह, वृहत्शतक आदि ग्रन्थो के आधार पर इस शतक की रचना की है। इसके अतिरिक्त इसकी रचना के मुख्य आधार कर्मप्रकृति और पचसग्रह प्रतीत होते है। क्योकि इसकी टीका मे अनेक स्थानो मे सदर्भ ग्रन्थो के रूप मे कर्मप्रकृति चूर्णि, कर्मप्रकृति टीका, पचसग्रह और पचसग्रह टीका का उल्लेख किया गया है। इन ग्रन्थो के अलावा अन्य ग्रन्थो का उल्लेख विशेषरूप से नही हुआ है। शतक की अनेक गाथाओ पर पचसग्रह की स्पष्ट छाप है, कही-कही तो थोडा-सा ही परिवर्तन पाया जाता है। शतक की २६ वी गाथा का विवेचन ग्रन्थकार ने पहले पच-सग्रह के अभिप्रायानुसार किया है और उसके बाद कर्मप्रकृति के अभिप्राय-नुसार। कर्मप्रकृति और पचसग्रह में कुछ बातो को लेकर मतभेद है। कर्म-प्रकृति का मत प्राचीन प्रतीत होता है फिर भी कही-कही कर्मग्रन्थकार का झुकाव पचसग्रह के मत की ओर विशेष जान पड़ता है। यद्यपि उन्होने दोनो मतो को समान भाव से अपने ग्रन्थ मे स्थान दिया है और कर्मप्रकृति को स्थान-स्थान पर प्रमाण रूप मे उपस्थित किया है तो भी पंचसग्रह के मत को

उद्धृत करते हुए कहीं-कहीं उसे अग्रस्थान देने से भी वे नहीं चूके है। अत
यह कहना होगा कि विशेष इन्ही दोनो ग्रन्थो के आधार पर उन्होंने शतक
रचना की है।

इस प्रकार से प्राक्कथन के रूप मे कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी कुछ ए
पहलुओ पर सक्षिप्त प्रकाश डालने के साथ ग्रन्थ की रूपरेखा बतलाई है
इन विचारो के प्रकाश मे कर्मसाहित्य का विशेष अध्ययन किया जाये तो कर्म
सिद्धान्त का अच्छा ज्ञान हो सकता है। यद्यपि कर्मसाहित्य अपनी गभीरत
के कारण अभ्यासियों को नीरस प्रतीत होता है, लेकिन क्रम-क्रम से इस
अध्ययन को बढाया जाये तो बहुत ही सरलता से समझ मे आ जाता है। इस
लिये आवश्यक है जिज्ञासावृत्ति और सतत अभ्यास करते रहने का अदम्य उत्साह
पाठकगण उक्त सकेत को ध्यान मे रखकर कर्मग्रन्थ का अध्ययन करेंगे, यह
आकाक्षा है।

सम्पादक—
श्रीचन्द सुरान
देवकुमार जैन

[शतक नामक पंचम कर्मग्रन्थ]

श्री वीतरागाय नमः

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

शतक

पंचम कर्मग्रन्थ

इष्टदेव के नमस्कार पूर्वक ग्रन्थकार ग्रन्थ के वर्ण्य विषय का निर्देश करते हैं—

नमिय जिणं धुवबंधोदयसत्ताघाइपुन्नपरियत्ता।
सेयर चउहविवागा वुच्छं बन्धविह सामी य ॥१॥

शब्दार्थ—**नमिय**—नमस्कार करके, **जिणं**—जिनेन्द्र देव को, **धुवबंध**—ध्रुवबंधी, **उदय**—ध्रुव उदयी, **सत्ता**—ध्रुव सत्ता, **घाइ**—घाति (सर्वघाती, देशघाती), **पुन्न**—पुण्य प्रकृति, **परियत्ता**—परावर्तमान, **सेयर**—प्रतिपक्ष सहित, **चउह**—चार प्रकार से, **विवागा**—विपाक दिखाने वाली, **वुच्छं**—कहूँगा, **बंधविह**—बंध के भेद, **सामी**—स्वामी (बंध के स्वामी) **य**—उपशम श्रेणि, क्षपक श्रेणि।

गाथार्थ—जिनेश्वर भगवान को नमस्कार करके ध्रुवबन्धी, ध्रुव उदयी, ध्रुव सत्ता, घाती, पुण्य और परावर्तमान तथा इनकी प्रतिपक्षी प्रकृतियों सहित तथा चार प्रकार से विपाक दिखाने वाली प्रकृतियों, बंधभेद, उनके स्वामी और उपशम श्रेणि, क्षपक श्रेणि का वर्णन करूंगा।

विशेषार्थ—गाथा के तीन भाग है—1. नमस्कारात्मक पद, २.
के वर्ण्य विषयों का संकेत और ३. उनके कथन करने की प्रतिः
यानी गाथा मे ग्रन्थकार ने मंगलाचरण के साथ इस कर्मग्रन्थ
निरूपण किये जाने वाले विषयों के नाम निर्देश पूर्वक अपने ग्रन्थ
सीमा का संकेत किया है।

'नमिय जिणं' पद से जिनेश्वर देव को नमस्कार किया है। इ
कारण यह है कि जिनेश्वर देव ने उन समस्त कर्मो पर विजय प्र
कर ली है जिनका बंध, उदय और सत्ता मुक्ति प्राप्त करने के पूर्व
संसारी जीवो मे विद्यमान रहती है। साथ ही इस पद से यह भी स्प
हो जाता है कि कर्म प्रकृतियाँ चाहे कैसी भी स्थिति वाली हो, चाहे उ
विपाकोदय का कैसा भी रूप हो लेकिन उनकी शक्ति जीव की शु
अध्यवसाय के समक्ष हीन है और वे विकासोन्मुखी आत्मा के द्व
अवश्य ही विजित होती है। ये प्रकृतियाँ तभी तक अपने प्रभाव
प्रदर्शित करती है जब तक जीव आत्मोपलब्धि के लक्ष्य की ओ
अग्रसर नही होता है और अपनी शक्ति से अज्ञात रहता है। लेकि
जैसे ही अन्तर मे उन्मेष, स्फूर्ति, उत्साह और स्वदर्शन की वृत्ति जा
होती है वैसे ही वलवान माने जाने वाले कर्म निःशेष होने की धारा
अनुगामी वन जाते है।

कर्मविजेता जिनेश्वर देव वंध, उदय और सत्ता स्थिति को प्रा
हुए कर्मो को जीतते है। लेकिन जीव के परिणामो की विविधता
कर्म प्रकृतियो के वंध आदि के ध्रुव, अध्रुव, घाती, अघाती आदि अ
रूप हो जाते है, जो उनकी अवस्थाये कहलाती है। इन होने वा
अवस्थाओं मे से 'धुववंधोदयसत्ताघाइपुन्नपरियत्ता' पद द्वारा ध्रु
वंध, ध्रुव उदय, ध्रुव सत्ता, घाति, पुण्य, परावर्तमान इन छह
नामोल्लेख करके प्रतिपक्षी छह नामो को समझने के लिये 'सेयर सेत

दिया है तथा 'चउह विवागा' पद से कर्मों की चार प्रकार से होने
ी विपाक अवस्थाओं का संकेत किया है। अर्थात् कर्म प्रकृतियों की
नलिखित सोलह अवस्थायें होती है, जिन्हे जिनेश्वर देव ने जीत
जिन पद की प्राप्ति की है—

(१) ध्रुव बंधिनी, (२) अध्रुव बन्धिनी, (३) ध्रुवोदया, (४) अध्रु-
दया, (५) ध्रुव सत्ताक, (६) अध्रुव सत्ताक, (७) घातिनी,
अघातिनी, (९) पुण्य, (१०) पाप, (११) परावर्तमाना, (१२)
रावर्तमाना, (१३) क्षेत्र विपाकी, (१४) जीव विपाकी, (१५)
ाकी, (१६) पुद्गल विपाकी।

कर्मों की उदय और सत्ता रूप अवस्था होने के लिये
के उनका जीव के साथ बंध हो। जब तक जीव
ा व कषाय परिणति का संबन्ध जुड़ा हुआ है
होता है। योग के द्वारा कर्म वर्गणाओं का
ो के आच्छादन करने का उन कर्म पुद्गलों में है तथा
ाय के द्वारा आत्मा के साथ कर्मों के
ं उनमे फलोदय के तीव्र, मंद आदि होता है।
प्रकार से कर्मबंध के चार हैं— (१)
थति बंध, (३) अनुभाग बन्ध, (४)

उक्त चार प्रकार के बंध हैं।
रेणामों द्वारा कर्म वर्गणाओं
र्माण करता है।
ध के है वैसे ही
स प्रकृति, स्थिति,

इस प्रकार
र्मविजेता

जब तक जीव सकर्मा है, संसार मे परिभ्रमण कर रहा है तव तव
ध्रुव वन्ध, अध्रुव बंध आदि अवस्था वाले कर्मों से सहित है। अपने
वचन, काय प्रवृत्ति एवं काषायिक परिणामों से उनका स्वामी कहल
है—यानी कर्मग्रहण करने का अधिकारी बना रहता है।

लेकिन जब कर्मों को निःशेष करने लिये सन्नद्ध होता है तब
कर्म मल की सत्ता के उद्रेक को शमित करने या कर्मों की सत्त
नि:शेषतया क्षय करने रूप दोनों उपायों मे से किसी एक
अपनाता है। कर्मों का उपशम करना उपशम श्रेणि और क्षय क
क्षपक श्रेणि कहलाती है। इन दोनों श्रेणियों का संकेत गाथा मे
शब्द से किया है। उपशम या क्षपक श्रेणि पर आरोहण किये
जीव अपने आत्मस्वरूप का अवलोकन नही कर पाता है। यह
दूसरी है कि उपशम श्रेणि मे अवस्थित जीव सत्तागत कर्मों के
चेलित होने पर आत्मदर्शन के मार्ग से भ्रष्ट होकर अपनी पूर्व
को प्राप्त हो जाता है किन्तु क्षपक श्रेणि वाला सभी प्रकार की वि
वाधाओ का क्षय करके आत्मोपलब्धि द्वारा अनन्त संसार से मुक्त
जाता है।

इस प्रकार से गाथा मे कर्ममुक्त आत्मा, कर्ममुक्ति के उपाय
और संसारी जीव के होने वाली कर्मों की वंध, उदय आदि अवस्थ
का संकेत किया गया है कि जव तक जीव संसार मे है तव तक
प्रकृतियों की अनेक अवस्थाओ से संयुक्त रहेगा। इन कर्मों से मुक्ति
लिये जीव के उपशम या क्षय रूप आत्मपरिणाम ही कारण है
कर्ममुक्ति के वाद आत्मा परमात्मा पद प्राप्त कर लेती है। इसी
इन अवस्थाओं का संकेत करने के लिये गाथा मे ग्रन्थ के वर्ण्य वि
निम्न प्रकार हे—

(१) ध्रुववंधिनी, (२) अध्रुववन्धिनी, (३) ध्रुवोदया, (४) अ

या (५) ध्रुव सत्ताक, (६) अध्रुव सत्ताक, (७) घातिनी, (८) ातिनी, (९) पुण्य, (१०) पाप, (११) परावर्तमाना, (१२) अपरावर्त-ा (१३) क्षेत्रविपाकी, (१४) जीवविपाकी, (१५) भवविपाकी, ६) पुद्‌गलविपाकी[1], (१७) प्रकृतिवंध (१८) स्थितिबन्ध, (१९) अनु-ावंध, (२०) प्रदेशवंध, (२१) प्रकृतिबंध स्वामी, (२२) स्थितिबन्ध मी, (२३) अनुभागबंध स्वामी, (२४) प्रदेशबंध स्वामी, (२५) उप-। श्रेणि, (२६) क्षपक श्रेणि।

गाथा मे निर्दिष्ट कुछ विपयों की परिभाषाये नीचे लिखे अनु-र है—

(१) **ध्रुव वन्धिनी प्रकृति**—अपने कारण के होने पर जिस कर्म प्रकृति वध अवश्य होता है, उसे ध्रुववन्धिनी प्रकृति कहते है। ऐसी कृति अपने वंधविच्छेद पर्यन्त प्रत्येक जीव को प्रतिसमय वंधती है।[2]

(२) **अध्रुव वन्धिनी प्रकृति**—वंध के कारणों के होने पर भी जो कृति वंधती भी है और नही भी वंधती है, उसे अध्रुव-वन्धिनी कृति कहते है। ऐसी प्रकृति अपने वन्ध-विच्छेद पर्यन्त वंधती भी है ार वंधती भी नही है।

कर्मग्रन्थ से मिलता-जुलता निर्देश पचमग्रह मे निम्न प्रकार है—

धुववंधि धुवोदय सव्वघाइ परियत्तमाणअसुभाओ।
पचवि मप्पडिवक्खा पगई य विवागओ चउहा॥ ३।१४

गाथा मे ध्रुववन्धी, ध्रुवोदया, सर्वघाति, परावर्तमान, और अशुभ इन पाँच के प्रतिपक्षी द्वारो तथा चार प्रकार के विपाको का सकेत किया है। कुल मिलाकर चौदह नाम होते है।

नियहेउसभवेवि हु भयणिज्जो जाण होइ पयडीण।
वधो ता अधुवाओ धुवा अभयणिज्जवधाओ॥

—पंचसंग्रह ३।३५

ध्रुवबन्धिनी प्रकृति का बन्धविच्छेद काल पर्यन्त प्रत्येक स
हरएक जीव को बंध होता रहता है और अध्रुवबन्धिनी प्रकृति
बंधविच्छेद काल तक मे भी सर्वकालावस्थायी बंध नही होता है
यहां ध्रुवबन्धिनी और अध्रुवबन्धिनी रूपता मे सामान्य बंधहेतु
विवक्षा है विशेष बंधहेतु की नही। क्योंकि जिस प्रकृति के जो ख
बंधहेतु है वे हेतु जब-जब मिले तब तक उस प्रकृति का बंध अव
होता है, चाहे वह अध्रुवबन्धिनी भी क्यों न हो। इसलिये अ
'सामान्य बन्धहेतु के होने पर भी जिस प्रकृति का बंध हो या न
वह अध्रुवबन्धिनी है और अवश्य बंध हो वह ध्रुवबन्धिनी है।

(३) **ध्रुवोदया प्रकृति**—जिस प्रकृति का उदय अविच्छिन्न हो अथ
अपने उदय काल पर्यन्त प्रत्येक समय जीव को जिस प्रकृति का उद
बराबर बिना रुके होता रहता है, उसे ध्रुवोदया कहते है।

(४) **अध्रुवोदया प्रकृति**—अपने उदय काल के अंत तक जिस प्रकृ
का उदय बराबर नही रहता है, कभी उदय होता है और कभी न
होता है, यानी उदयविच्छेद काल तक मे भी जिसके उदय का निय
न हो उसे अध्रुवोदया प्रकृति कहते है।[1]

सामान्य से संपूर्ण कर्म प्रकृतियों के पांच उदय हेतु है—द्रव्य, क्षेत्र
काल, भव और भाव और पांचों के समूह द्वारा समस्त कर्म प्रकृतिय
का उदय होता है। एक ही प्रकार के द्रव्यादि हेतु समस्त कर्म प्रकृतिय
के उदय मे कारण रूप नही होते है, किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्यादि
हेतु कारण रूप होते है। कोई द्रव्यादि सामग्री किसी प्रकृति के उद

---

१ अव्वोच्छिन्नो उदओ जाण पगईण ता धुवोदइया।
वोच्छिन्नो वि हु संभवइ जाण अधुवोदया ताओ॥

—पंचसंग्रह ३।

कारण रूप होती है और कोई सामग्री किसी के उदय में हेतु रूप होती है। लेकिन यह निश्चित है कि जहां एक भी उदय हेतु है, वहां अन्य सभी हेतु समूह रूप में उपस्थित रहते है।[1]

(५) **ध्रुवसत्ताक प्रकृति**—अनादि मिथ्यात्वी जीव को जो प्रकृति निरंतर सत्ता मे होती है, सर्वदा विद्यमान रहती है, उसे ध्रुवसत्ताक प्रकृति कहते है।

(६) **अध्रुवसत्ताक प्रकृति**—मिथ्यात्व दशा मे जिस प्रकृति की सत्ता का नियम नही यानी किसी समय सत्ता मे हो और किसी समय सत्ता मे न भी हो, उसे अध्रुवसत्ताक प्रकृति कहते है। ध्रुवसत्ताक प्रकृतियों की विच्छेद काल तक प्रत्येक समय प्रत्येक जीव को सत्ता होती है और अध्रुवसत्ताक प्रकृतियों के लिये यह नियम नही है कि विच्छेद काल तक प्रत्येक समय उनकी सत्ता हो।

(७) **घातिनी प्रकृति**—जो कर्म प्रकृति आत्मिक गुणों—ज्ञानादि का घात करती है, उसे घातिनी प्रकृति कहते है। यह दो प्रकार की है सर्वघातिनी और देशघातिनी। जो कर्म प्रकृति ज्ञानादि रूप अपने विषय को सर्वथा प्रकार से घात करे उसे सर्वघातिनी और जो प्रकृति अपने विषय के एकदेश का घात करे उसे देशघातिनी प्रकृति कहते है।

कर्मो की कुछ प्रकृतियां सर्वघाति प्रतिभाग रूप होती है अर्थात् अघाती होने से स्वयं में तो ज्ञानादि आत्मगुणों को दवाने की शक्ति नहीं है किन्तु सर्वघाती प्रकृतियों के संसर्ग से अपना अति दारुण विपाक वतलाती है। वे सर्वघाती प्रकृतियों के साथ वेदन किये जाने

---

१ दव्व खेत्त कालो भवो य भावो य हेयवो पत्त।
हेउ समासेणुदओ जायइ सव्वाण पगईण॥

—पंचसंग्रह

वाले दारुण विपाक को बतलाने वाली होने से उनकी सदृशता प्राप्त करती है, अतः उनको सर्वघाती प्रतिभाग प्रकृतियां कहते है।

(८) **अघातिनी प्रकृति**—जो प्रकृति आत्मिक गुणो का घात करती है, उसे अघातिनी प्रकृति कहते है।

(९) **पुण्य प्रकृति**—जिस प्रकृति का विपाक—फल शुभ होता है पुण्य प्रकृति कहते है।

(१०) **पाप प्रकृति**—जिसका फल अशुभ होता है वह पाप प्रकृति

(११) **परावर्तमाना प्रकृति**—किसी दूसरी प्रकृति के बन्ध, उ अथवा दोनों को रोककर जिस प्रकृति का बंध, उदय अथवा दोनों है, उसे परावर्तमाना प्रकृति कहते है।

(१२) **अपरावर्तमाना प्रकृति**—किसी दूसरी प्रकृति के बंध, उ अथवा दोनों को रोके बिना जिस प्रकृति के बंध, उदय अथवा द होते है, उसे अपरावर्तमाना प्रकृति कहते है।[1]

(१३) **क्षेत्रविपाकी प्रकृति**—एक गति का शरीर छोड़कर अथ पूर्व गति मे मरण होने के कारण उसके शरीर को छोड़कर नई ग का शरीर धारण करने के लिये जब जीव गमन करता है, उस स विग्रहगति मे जो कर्म प्रकृति उदय मे आती है, अपने फल का अनु कराती है उसे क्षेत्रविपाकी प्रकृति कहते है। इस प्रकृति का उदय गति को त्यागकर अन्य गति मे जाते समय अन्तरालवर्ती काल मे होता है, अन्य समय मे नही। इसीलिये इसको क्षेत्रविपाकी प्रकृ कहते है।

(१४) **जीवविपाकी प्रकृति**—जो प्रकृति जीव मे ही अपना फल दे है, उसे जीवविपाकी प्रकृति कहते है। इस प्रकृति का विपाक जी

---

१ विणिवारिय जा गच्छइ बंध उदय व अन्न पगईए ।
सा हु परियत्तमाणी अणिवारेंति अपरियत्ता ॥ —**पचसंग्रह ३।४**

के ज्ञानादि स्वरूप का उपघातादि करने रूप होता है। अर्थात् चाहे शरीर हो या न हो तथा भव या क्षेत्र चाहे जो हो लेकिन जो प्रकृति अपने फल का अनुभव ज्ञानादि गुणों के उपघातादि करने के द्वारा साक्षात् जीव को ही कराती है, उसे जीवविपाकी प्रकृति कहते है।

(१५) **भव-विपाकी प्रकृति**—जो प्रकृति नर नारकादि भव में ही फल देती है उसे भवविपाकी प्रकृति कहते है। इसका कारण यह है कि वर्तमान आयु के दो भाग व्यतीत होने के बाद तीसरे आदि भाग में आयु का वन्ध होने पर भी जब तक पूर्व भव का क्षय होने के द्वारा उत्तर स्वयोग्य भव प्राप्त नही होता है, तव तक यह प्रकृति उदय में नही आती है, इसीलिये इसको भवविपाकी प्रकृति कहते है।

(१६) **पुद्‌गलविपाकी प्रकृति**—जो कर्म प्रकृति पुद्‌गल मे फल प्रदान करने के सन्मुख हो अर्थात् जिस प्रकृति का फल आत्मा पुद्‌गल द्वारा अनुभव करे, औदारिक आदि नामकर्म के उदय से ग्रहण किये गये पुद्‌गलो मे जो कर्मप्रकृति अपनी शक्ति को दिखावे, उसे पुद्‌गल-विपाकी प्रकृति कहते है। यानी जो प्रकृति शरीर रूप परिणत हुए पुद्‌गल परमाणुओ मे अपना विपाक—फल देती है, वह पुद्‌गलविपाकी प्रकृति है।

इन सोलह प्रकृति द्वारो की परिभापाये यहा वतलाई है। शेप प्रकृति, स्थिति आदि दस द्वारो की व्याख्या प्रथम, द्वितीय कर्मग्रन्थ मे यथास्थान की गई है। अतः अव आगे की गाथाओं मे ग्रन्थ के वर्ण्य विषयो का क्रमानुसार कथन प्रारम्भ करते है।

ध्रुववन्धी प्रकृतियां

सर्वप्रथम क्रमानुसार ध्रुववन्धिनी प्रकृतियो की संख्या व नाम वतलाते है—

वन्नचउतेयकम्मागुरुलहु निमणोवघाय भयकुच्छा।
मिच्छकसायावरणा विग्घं धुववंधि सगचत्ता ॥ २ ॥

शब्दार्थ—**वन्नचउ**—वर्णचतुष्क, **तेय**—तैजस शरीर, **कम्मा**—कार्मण शरीर, **अगुरुलहु**—अगुरुलघु नामकर्म, **निमिण**—निर्माण नामकर्म, **उवघाय**—उपघात नामकर्म, **भय**—भय मोहनीय, **कुच्छा**—जुगुप्सा मोहनीय, **मिच्छ**—मिथ्यात्व मोहनीय, **कसाया**—कषाय, **आवरणा**—आवरण—ज्ञानावरण पाच व दर्शनावरण नौ कुल चौदह, **विग्घ**—पाच अन्तराय, **धुवबंधि**—ध्रुवबधी प्रकृतिया, **सगचत्ता**—सैंतालीस।

गाथार्थ—वर्णचतुष्क, तैजस कार्मण शरीर, अगुरुलघु नाम, निर्माण नाम, उपघात नाम, भय मोहनीय, जुगुप्सा मोहनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, और पाच अन्तराय ये सैंतालीस प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी है।

विशेषार्थ—गाथा मे ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों के नामों का निर्दे किया है। अपने योग्य सामान्य कारणो के होने पर जिन प्रकृतियो व वंध होता है वे ध्रुवबन्धिनी प्रकृतिया है।

कर्म की मूल प्रकृतिया आठ है—(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र औ (८) अन्तराय। इनकी वंधयोग्य उत्तर प्रकृतियाँ क्रमश ५+६+२+ २६+४+६७+२+५=१२० होती है। इन एकसौ वीस प्रकृतियों से सैंतालीस प्रकृतिया ध्रुवबन्धिनी है। जिनके नाम इसप्रकार है—

(१) **ज्ञानावरण**—मति, श्रुत, अवधि मनपर्याय और केवल ज्ञानावरण।

(२) **दर्शनावरण**—चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल दर्शनावरण, निद्रा निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि।

(३) **मोहनीय**—मिथ्यात्व, अनन्तानुवंधी कपाय चतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण कपाय चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कपाय चतुष्क, संज्वलन कपाय चतुष्क, भय, जुगुप्सा।

(४) नामकर्म—वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात ।

(५) अन्तराय—दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य-अंतराय ।

ऊपर बतायी गई प्रकृतियों के नामों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म की सभी उत्तर प्रकृतियां जिनके क्रमशः पाच, नौ और पांच उत्तर भेद है, ध्रुवबंधिनी है। मोहनीय कर्म के भेद दर्शनमोह की एक मिथ्यात्व तथा चारित्र मोह की अठारह प्रकृतियां और नामकर्म की नौ प्रकृतिया ध्रुवबन्धिनी है। इस प्रकार ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ६, मोहनीय की १६, नाम की ६ और अंतराय की ५, कुल मिलाकर सैंतालीस प्रकृतिया ध्रुवबन्धिनी है। इन प्रकृतियों के ध्रुवबन्धिनी होने के कारण को गाथा मे कहे गये क्रम के अनुसार स्पष्ट करते है।

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, नामकर्म की इन नौ प्रकृतियों को ध्रुवबन्धिनी मानने का कारण यह है कि तैजस और कार्मण शरीर तो चारों गतियों के जीवों के अवश्य होते हैं, इनका अनादि से सम्बन्ध है।[1] एक भव का स्थूल शरीर छोड़कर भवातर का अन्य शरीर ग्रहण करने की अन्तराल गति (विग्रह गति) मे भी तैजस और कार्मण शरीर सदैव बना रहता है। औदारिक या वैक्रिय शरीरों में से किसी एक का बंध होने पर वर्ण, गंध, रस, स्पर्श नामकर्मों का अवश्य बंध होता है तथा औदारिक, वैक्रिय शरीर का बंध होने पर उनके योग्य पुद्गलों से उनका निर्माण होता है। अतः निर्माण नामकर्म का बंध भी अवश्यंभावी है। इन औदारिक और वैक्रिय शरीर के स्थूल होने से अन्य स्थूल पदार्थों से उपघात होता ही है। औदारिक या वैक्रिय शरीर अपनी योग्य वर्गणाओं को अधिक

---

१ अनादि सबंधे च । सर्वस्य । —तत्वार्थसूत्र २।४२-४३

भी ग्रहण करे लेकिन ग्रहण करने वालों को न तो वह शरीर लोहे के समान भारी और न आक की रुई के समान हलके प्रतीत होते है। सदैव अगुरुलघु रूप वने रहते है। इसलिए नामकर्म की नौ प्रकृतिया अपने कारणों के होने पर अवश्य ही बंधने से ध्रुववंधिनी कहलाती है। इनका बंध अपूर्वकरण नामक आठवे गुणस्थान के चरम समय तक होता है।

भय और जुगुप्सा यह चारित्र मोहनीय की प्रकृतियां है। इनके बंध की कोई विरोधनी नही है। इसीलिए इन दोनो को ध्रुववन्धिनी प्रकृतियों मे माना है, ये दोनों प्रकृतिया आठवे गुणस्थान के अंत समय तक अपने बन्ध कारणों के रहने से वंधती ही रहती है। मिथ्यात्व, मिथ्यात्व मोहनीय के उदय में अवश्य बंधती है। मिथ्यात्व गुणस्थान तक मिथ्यात्व मोहनीय का निरंतर उदय होने से मिथ्यात्व का निरंतर बंध होता रहता है। मिथ्यात्व गुणस्थान से आगे के गुण-स्थानों में बंध नही होता है।

अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ इन सोलह कषायो का अपने-अपने उदय रूप कारण के होने तक अवश्य ही बंध होता है। इसीलिए इन सोलह कपायो को ध्रुववंधिनी प्रकृतियों मे गिना है।

ज्ञानावरण की पाच, दर्शनावरण की नौ और अंतराय की पाच ये उन्नीस प्रकृतिया अपने अपने वंधविच्छेद होने के स्थान तक अवश्य वंधती है तथा इनकी विरोधिनी अन्य कोई प्रकृतिया न होने से इनको ध्रुववंधिनी प्रकृतियां माना है।

अनंतानुवंधी क्रोध, मान आदि सोलह कपायो और ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्म की उन्नीस प्रकृतियो के ध्रुववंधिनी

मानने का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि कर्म प्रकृतियों के बंध के लिए यह सामान्य नियम है कि जहां तक मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, योग इन चारों बंधहेतुओं मे से जिस का सद्भाव होता है तथा 'जे वेएइ ते वंधइ' जिस प्रकृति का जिस गुणस्थान तक उदय रहता है, वहा तक उस प्रकृति का वंध अवश्य होता है। इसलिए अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क और स्त्यानर्द्धित्रिक इन सात प्रकृतियो के बंध मे अनन्तानुवंधी कषाय के उदयजन्य आत्मपरिणाम कारण है और इनका उदय दूसरे सासादन गुणस्थान तक होता है, उससे आगे के गुणस्थानों मे अनन्तानुवंधी कषाय के उदयजन्य आत्मपरिणामों का अभाव होने से बंध नही होता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर्यन्त बंध होता है, आगे के गुणस्थानों मे तथाविध उदयजन्य आत्मपरिणाम नही होने से वंध नही होता है। प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का देशविरति—पाचवे गुणस्थान पर्यन्त वंध होता है। निद्रा और प्रचला का आठवे अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम समय तक वंध होता है। आगे उनके वंधयोग्य परिणाम असंभव होने से बंध नही होता है। अनिवृत्तिवादर संपराय गुणस्थान तक संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ का वंध होता है। क्योंकि वादर कषाय का उदय उनके वंध का हेतु है। जिसका उदय नौवे गुणस्थान तक ही होता है, आगे के गुणस्थानो मे नही। पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण तथा पाच अंतराय इन चौदह प्रकृतियो का वंध दसवे सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के चरम समय तक होता है। इस गुणस्थान तक ही इनके वंध मे हेतुभूत कपाय का उदय होता है, आगे के गुणस्थानों मे नही होता है।

इस प्रकार से सैतालीस प्रकृतिया जिनमे

दर्शनावरण की नौ, मोहनीय की उन्नीस, नामकर्म की

राय की पाच प्रकृतियां सम्मिलित है, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि कारणों के होने पर सभी जीवो को अवश्य बंधती है, इसीलिये इनको ध्रुवबन्धिनी[1] प्रकृति मानते है।

अब आगे की दो गाथाओं मे अध्रुवबंधी प्रकृतियों के नाम और वन्ध व उदय की अपेक्षा से प्रकृतियो के भंग बतलाते है।

अध्रुवबंधी प्रकृतियां और बध व उदय की अपेक्षा से प्रकृतियों के भंग

तणुवंगागिइसघयण जाइगइखगइपुव्विजिणुसास।
उज्जोयायवपरघा तसवीसा गोय वयणिय ॥३॥
हासाइजुयलदुगवेय आउ तेवुत्तरी अधुवबधा।
भगा अणाइसाई अणंतसंत्तुत्तरा चउरो ॥४॥

शव्दार्थ—तणु—शरीर, (औदारिक, वैक्रिय, आहारक), उवगा—तीन अंगोपाग, आगिइ—छह सस्थान, सघयण छह सहनन, जाइ—पाच जाति, गइ—चार गति, खगइ—दो विहायोगति, पुव्वि—चार आनुपूर्वी, जिण—जिन नामकर्म, उसासं—श्वासोच्छ्वास नामकर्म, उज्जोय—उद्योत नामकर्म, आयव—आतप नामकर्म, परघा—पराघात नामकर्म, तसवीसा—त्रसादि बीस (त्रस दशक और स्थावर दशक), गोय—दो गोत्र, वयणियं—दो वेदनीय।

---

१ पचसग्रह और गो० कर्मकाड मे ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियो को इस प्रकार गिनाया है—

नाणतरायदसण धुवबधि कसायमिच्छभयकुच्छा।
अगुरुलघुनिमिणतेय उवघाय वण्णचउकम्म ॥

घादितिमिच्छकसाया भयतेजगुरुदुगणिमिण
सत्तेताल ध्रुवाण……… …

हासाइ—हास्यादिक, जुयलदुग—दो युगल, वेय—तीन वेद, आउ—चार आयुकर्म, तेवुत्तरी—तिहत्तर, अधुववंधा—अध्रुववधी, भंगा—भग, अणाइसाई—अनादि और सादि, अणंतसंत्तुत्तरा—अनन्त और सात उत्तर पद से सहित, चउरो—चार भग।

गाथार्थ—तीन शरीर, तीन अंगोपांग, छह संस्थान, छह संहनन, पाच जाति, चार गति, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वी, तीर्थंकर नामकर्म, श्वासोच्छ्वास नामकर्म, उद्योत, आतप, पराघात, त्रसादि वीस, दो गोत्र, दो वेदनीय, हास्यादि दो युगल, तीन वेद, चार आयु, ये तिहत्तर प्रकृतिया अध्रुवबंधिनी है। इनके अनादि और सादि अनन्त और सान्त पद से सहित होने से चार भंग होते है।

विशेषार्थ—वन्धयोग्य १२० प्रकृतियां है। उनमे से सैंतालीस प्रकृतिया ध्रुवबंधिनी है और शेष रही तिहत्तर प्रकृतियां अध्रुवबंधिनी है। इन दो गाथाओं मे अध्रुवबन्धिनी तिहत्तर प्रकृतियों तथा इनके बनने वालों भंगों के नाम बताये है।

इन अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों मे अधिकतर नामकर्म की तथा वेदनीय, आयु, गोत्र कर्म की सभी उत्तर प्रकृतियों व कुछ मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियो के नाम है। जिनका अपने-अपने मूल कर्म के नाम सहित विवरण इस प्रकार है—

(१) वेदनीय—साता वेदनीय, असाता वेदनीय।

(२) मोहनीय—हास्य, रति, अरति, शोक, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद।

(३) आयु—देवायु, मनुष्यायु, तिर्यचायु, नरकायु।

(४) नाम—तीन शरीर—औदारिक वैक्रिय, आहारक शरीर, तीन अंगोपाग—औदारिक, वैक्रिय, आहारक अंगोपाग, छह संस्थान-

समचतुरस्र, न्यग्रोध, परिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन, हुण्ड
छह संहनन—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्ध
नाराच, कीलिका, सेवार्त, पाच जाति—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय
चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, चार गति—देव, मनुष्य, तिर्यच नारक,
विहायोगति—शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति, चार आनुपूर्वी-
देवानुपूर्वी मनुष्यानुपूर्वी तिर्यचानुपूर्वी, नरकानुपूर्वी, तीर्थंकर, उच्छ
वास, उद्योत, आतप, पराघात, त्रसवीशक (त्रसदशक,स्थावरदशक)।

(५) गोत्र—उच्च गोत्र, नीच गोत्र।

उपर अध्रुवबन्धिनी[2] तिहत्तर प्रकृतियो के नाम वतलाये है

---

१ तस बायर पज्जत्त पत्तेय थिर सुभ च सुभग च।
सुसराइज्ज जस तसदसग थावरदस तु इमं॥
थावर सुहम अपज्ज साहारण अथिर असुभ दुभगाणि।
दुस्सरऽणाइज्जाजसमिय .... .. ॥

—कर्मग्रन्थ प्रथम भाग, गा० २६, २

—त्रस दशक—त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्व
आदेय और यशःकीर्ति।

—स्थावरदशक—स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशु
दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति।

२ दिगम्वर साहित्य मे अध्रुववधिनी प्रकृतियो के दो भेद किये है—सप्रति
पक्षी और अप्रतिपक्षी। इनमे ग्रहण की गई प्रकृतियो के नाम इ..
प्रकार हैं—

सेसे तित्थाहार परघादचउक्क सव्व आऊणि।
अप्पडिवक्खा सेसा सप्पडिवक्खा हु वासट्ठी॥ —गो० कर्मकांड १२५

—तीर्थंकर, आहारकद्विक, पराघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, चार आयु
ये ग्यारह प्रकृतिया अप्रतिपक्षी है। अर्थात् इनकी कोई विरोधिनी प्रकृति
नही है। फिर भी इनका वध कुछ विशेप अवस्था मे होता है, अतः
अध्रुववधिनी कहा जाता है और शेप वासठ प्रकृतियो को सप्रतिपक्षी
होने के कारण अध्रुववधिनी माना है।

एकेन्द्रियआदि पंचेन्द्रिय जाति पर्यन्त पाँचजातियों में से एक
में एक ही जाति का, देवगति आदि चार गतियो मे से एक ही ग
बंध होने से जाति व गति नामकर्म के भेदों को अध्रुवबंधिनी कह
इसी प्रकार शुभ या अशुभ विहायोगति में से एक समय में ए
ही वन्ध होता है तथा देवानुपूर्वी आदि चार आनुपूर्वियों मे
समय में एक का ही बन्ध होता है। अतः इनको अध्रुवबन्धिनी
कहा है।

औदारिक आदि शरीर से लेकर आनुपूर्वी नामकर्म के चार
तक में गर्भित तेतीस प्रकृतिया अपनी-अपनी प्रतिपक्षिणी–विरो
प्रकृतियों सहित होने के कारण अध्रुवबंधिनी है।

तीर्थंकर नामकर्म का बंध सम्यक्त्व सापेक्ष है, लेकिन
आवश्यक नही है कि सम्यक्त्व के होने पर इसका बंध हो ही
सम्यक्त्व के होने पर भी किसी के बंध होता है और किसी के
बंधता है। इसीलिये अध्रुवबंधी है। पर्याप्तक-प्रायोग्य प्रकृतिय
बंध होने पर उच्छ्वास नामकर्म का बंध होता है, अपर्या
प्रायोग्य प्रकृतियों के बंध होने पर नही बंधता है। तिर्यंचप्रा
प्रकृतियो के बंध होने पर भी उद्योत नामकर्म का बंध किसी
होता है और किसी को नही होता है, अतएव उच्छ्वास और उ
नामकर्म अध्रुवबंधी है।

पृथ्वीकायिक प्रायोग्य प्रकृतियों का बंध होते रहते किसी
आतप नामकर्म का बंध होता है और किसी को नही होता है,
अध्रुवबन्धी है। पराघात नामकर्म पर्याप्तप्रायोग्य प्रकृतियो का
होने पर किसी-किसी को बंधता है तथा अपर्याप्तप्रायोग्य प्रकृ
का बंध होने पर तो किसी को भी नही बंधता है, अत वह अ
बन्धी है।

। त्रसदशक और स्थावरदशक की कुल वीस प्रकृतिया परस्पर रोधिनी है तथा अपने-अपने प्रायोग्य प्रकृतियों के वंध होने पर वंधती । इसलिये इनको अध्रुववन्धिनी प्रकृतियो मे गिना है।

उच्च गोत्र और नीच गोत्र परस्पर मे विरोधिनी प्रकृतिया है। च्च गोत्र का वंध होते हुए नीच गोत्र का और नीच गोत्र का वंध ते हुए उच्च गोत्र का वंध नही होता है। अतएव इन दोनों को ध्रुववंधी कहा है। साता वेदनीय और असाता वेदनीय भी परस्पर एक दूसरे की विरोधी है, जिससे इनको अध्रुववन्धिनी प्रकृति माना ाता है।

गोत्र कर्म और वेदनीय कर्म की प्रकृतियों को अध्रुववन्धिनी ानने के साथ-साथ उनके वारे में यह विशेषता भी समझना चाहिये के छठे गुणस्थान तक ही साता और असाता वेदनीय अध्रुववंधी है, लेकिन छठे गुणस्थान मे असाता वेदनीय का वंधविच्छेद हो जाने पर आगे सातवे आदि गुणस्थानों मे साता वेदनीय कर्म ध्रुववंधी हो जाता है। इसी प्रकार दूसरे गुणस्थान तक उच्च गोत्र और नीच गोत्र अध्रुववन्धी है, किंतु दूसरे गुणस्थान मे नीच गोत्र का वंधविच्छेद[1] हो जाने से आगे के गुणस्थानो मे उच्च गोत्र ध्रुववन्धी हो जाता है।

मोहनीय कर्म की 'हासाइ जुयलदुग' हास्यादि दो युगल अर्थात् हास्य-रति तथा शोक-अरति यह चार प्रकृतिया अध्रुववंधिनी है। क्योंकि ये दोनो युगल परस्पर विरोधी है। जव हास्य-रति युगल का वंध होता है तव शोक-अरति युगल का वंध नही होता है तथा शोक-

---

१ प्रत्येक गुणस्थान मे वंधयोग्य और विच्छिन्न होने वाली प्रकृतियो के लिये दूसरा कर्मग्रन्थ गाथा ४ से १२ देखिये।

अरति युगल के वंध के समय हास्य-रति युगल का वंध संभव नही
इन चार प्रकृतियों का सान्तर वंध होता है।

लेकिन यह बात ध्यान मे रखना चाहिये कि हास्य, रति, अर
शोक, यह चारों प्रकृतियां छठे गुणस्थान तक ही अध्रुववन्धिनी
छठे गुणस्थान मे शोक और अरति का बन्धविच्छेद हो जाने पर अ
हास्य और रति का निरंतर बंध होता है, जिससे वे ध्रुववंधिनी
जाती है।

स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुसक वेद मे से एक समय मे कि
एक वेद का बंध होता है। गुणस्थान की अपेक्षा नपुंसक वेद प
गुणस्थान मे, स्त्री वेद दूसरे गुणस्थान तक बंधता है। उसके बाद अ
के गुणस्थानो मे पुरुषवेद का बंध होता है।

आयुकर्म के देवायु, मनुष्यायु, तिर्यचायु और नरकायु इन च
भेदों मे से एक भव में एक ही आयु का बंध होता है। इसीलिये इन
अध्रुववन्धी कहा है।

इस प्रकार तिहत्तर प्रकृतिया अध्रुववन्धिनी समझना चाहिये
जिनमे वेदनीय की दो, मोहनीय की सात, आयुकर्म की चार, न
कर्म की अट्ठावन और गोत्रकर्म की दो प्रकृतियां शामिल है। बन
योग्य १२० प्रकृतियों मे से ४७ ध्रुववन्धिनी और ७३ अध्रुववन्धि
है। ४७+७३ का कुल जोड़ १२० होता है।

बंध, उदय प्रकृतियों के अनादि-अनन्त आदि भंग

ग्रन्थलाघव की दृष्टि से क्रमप्राप्त ध्रुवोदया और अध्रुवोदय
प्रकृतियों के नामो को न वताकर कर्मवंध और कर्मोदय की कितनी
दशायें होती है, इस जिज्ञासा के समाधान के लिये पहले भंगों को
वतलाते है। जो वंध के भंगो के नाम है, वही उदय के भंगों के भी

म होंगे। इसका कारण यह है कि कर्म प्रकृतियो के ध्रुववंधिनी ुववंधिनी होने के कारण जैसे वंध की दशाये वताना आवश्यक वैसे ही आगे ध्रुवोदया और अध्रुवोदया प्रकृतियों की संख्या वत-ने के पश्चात उनकी उदय दशाये भी वतलाना होंगी। अतएव ्यमद्वारदीपक न्याय के अनुसार वंध और उदय अवस्था में बनने ले भंगों के यहा नाम वतलाते है। अर्थात् यहा दिये जाने वाले भंगों ा वंध मे भी लगा लेना चाहिये और उदय मे भी। भंगों के नाम स प्रकार है १ अनादि-अनंत, २ अनादि-सान्त, ३ सादि-अनंत, सादि-सान्त।[1] यह चारो भंग वंध मे भी होते है और उदय भी।

इन भंगों के लक्षण क्रमश इस प्रकार है --

(१) अनादि-अनन्त—जिस वंध या उदय की परम्परा का वाह अनादि काल से निरावाध गति से चला आ रहा है, मध्य में कभी विच्छिन्न हुआ है और न आगे भी होगा, ऐसे वंध या उदय ो अनादि-अनंत कहते हे। ऐसा वन्ध या उदय अभव्य जीवों को ोता है।

(२) अनादि-सान्त—जिस वंध या उदय की [illegible] नादि काल से विना व्यवधान के चला आ [illegible]

---

१ सादि-अनन्त भंग विकल्प सभव नही [illegible]
है—

होई अणाइअणतो [illegible]
वधो अभव्वभव्वो[illegible]

—वध तीन प्रकार का [illegible] और [illegible] सान्त। अभव्यो में [illegible] और [illegible] मोह गुणस्थान मे [illegible] है।

व्युच्छिन्न हो जायेगा, उसे अनादि-सान्त कहते है। यह भव्य को हो
है।

(३) **सादि-अनन्त**—जो आदि सहित होकर अनंत हो। लेकि
यह भंग किसी भी वंध या उदय प्रकृति मे घटित नही होता है
क्योकि जो वंध या उदय आदि सहित होगा वह कभी भी अन
नही हो सकता है। इसीलिये इस विकल्प को ग्राह्य नही मा
जाता है।

(४) **सादि-सान्त**—जो वंध या उदय वीच मे रुक कर पु
प्रारम्भ होता है और कालान्तर मे पुन व्युच्छिन्न हो जाता है,
वंध या उदय को सादि-सान्त कहते है। यह उपशांतमोह गुणस्थान
च्युत हुए जीवों मे पाया जाता है।

इस प्रकार से चार भंगों का स्वरूप वतलाकर अव आगे की गाथा में वन्ध और उदय प्रकृतियों मे उक्त भंगो को घटाते है।

पढमविया धुवउदइसु धुववंधिसु तइअवज्जभगतिगं।
मिच्छम्मि तिन्नि भंगा दुहावि अधुवा तुरिअभंगा ॥

शब्दार्थ—**पढमविया**—पहला और दूसरा भग **धवउदइसु**—ध्रुवोदयी प्रकृतियो मे, **धुववंधिसु**—ध्रुवबं ...
तइअवज्ज—तीसरे भग के सिवाय, **भगतिगं** ...
मिच्छम्मि—मिथ्यात्व मे, **तिन्नि**— ...
प्रकार की, **अधुवा**—अध्रुवबंधिनी ...
भंगा—चौथा भग।

गाथार्थ—ध्रुवोदयी प्रकृ...
होता है। ध्रुव-बन्धिनी प्रकृति ...

तीन भंग तथा मिथ्यात्व मे भी तीन भंग होते है। दोनों प्रकार की अध्रुव प्रकृतियो मे चौथा भंग होता है।

विशेषार्थ—पूर्व मे अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त र सादि-सान्त इन चार भंगों का सिर्फ नाम निर्देश किया है। यहां भंगों मे से कौनसा भंग ध्रुववंधिनी आदि प्रकृतियों मे होता है, स्पष्ट करते है।

ये भंग ध्रुव, अध्रुव वंध और उदय प्रकृतियों मे होते है। ध्रुव-धनी और अध्रुववन्धिनी प्रकृतियों के नामों का निर्देश किया जा ता है और ध्रुवोदयी और अध्रुवोदयी प्रकृतियों के नाम आगे की था मे वतलाये जायेगे। लेकिन यहां सामान्य से तथा पुनरावृत्ति न ने देने की दृष्टि से वंध प्रकृतियो के साथ उदय प्रकृतियों में भी भंगों होने के वारे मे निर्देश कर दिया है।

सर्वप्रथम 'पढमविया धुवउदइसु' पद से वतलाया है कि ध्रुवोदयी कृतियों में पहला अनादि-अनन्त और दूसरा अनादि-सान्त यह दो ग होते है। इसका कारण यह है कि अभव्यों के ध्रुवोदयी प्रकृतियों ा कभी भी अनुदय नही होता है। अतएव पहला अनादि-अनंत भंग ाना गया है। भव्य को उदय तो अनादि से होता है, किन्तु वारहवे, रहवे गुणस्थान मे उनका उदय नही हो पाता यानी उदयविच्छेद जाता है। इसी कारण ध्रुवोदयी प्रकृतियो मे दूसरा अनादि-सांत ग माना है।

ध्रुवोदयी प्रकृतियो मे पहला और दूसरा भंग वतलाया है। किन उनमे से मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की अपनी विशेषता होने से मिच्छम्मि तिन्नि भंगा'—मिथ्यात्व मे तीन भंग होते है—अनादि-अनन्त, नादि-सान्त, सादि-सान्त। ये भंग इस प्रकार होते है कि अभव्य को थ्यात्व का उदय अनादि-अनंत है। उनके न तो कभी मिथ्यात्व का

अभाव हुआ है और न होने वाला है। दूसरा अनादि-सान्त
अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव की अपेक्षा घटित होता है। क
पहले-पहले सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर उसके मिथ्यात्व के उद
अभाव हो जाता है। लेकिन सम्यक्त्व के छूट जाने व पुन: मिथ
का उदय होने पर और उसके बाद पुन: सम्यक्त्व की प्राप्ति हो
कारण मिथ्यात्व के उदय का अंत होता है। इस प्रकार सम्यक्त्व
छूटने के बाद पुन: मिथ्यात्व का उदय होना सादि है और
सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के कारण उस मिथ्यात्व का उदयवि
होना सान्त है। इस स्थिति मे चौथा भंग सादिसान्त मिथ्य
मे घटित होता है।

लेकिन ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियो में तीसरे भंग को छोड़ शेष
भंग होते हैं—"धुवबंधिसु तइअवज्ज भंगतिगं।" यानी ध्रुवबं
प्रकृतियों मे पहला – अनादि-अनन्त, दूसरा अनादि-सान्त और च
सादि-सान्त यह तीन भंग होते है। ये तीन भंग इस प्रकार है—अ
को ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों का बन्ध अनादि का है और किसी समय
अबन्धक नही होता है, अत: पहला अनादि-अनन्त भंग होता है
भव्य को भी यद्यपि ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों का बन्ध अनादि का है, प
गुणस्थान क्रमारोहण के साथ-साथ प्रकृतियो का विच्छेद होता जा
जिससे दूसरा अनादि-सान्त भंग होता है तथा उसी गुणस्थान
आगे के गुणस्थान में आरोहण करते समय अबन्धक होकर अवरो
के समय पुन: बन्धक हो जाने से सादिबन्ध और पुन: कालान्तर
गुणस्थान क्रमारोहण के समय अबन्धक होगा, इसीलिये उसको चौ
सादि-सान्त भंग होता है।

'दुहावि अधुवा तुरिअभंगा' यानी दोनो प्रकार की अध्
प्रकृतियो— अध्रुवबन्धिनी और अध्रुवोदयी प्रकृतियो—मे चौ

नादि-सान्त भंग होता है। क्योकि उनका वन्ध, उदय अध्रुव है, कभी होता है और कभी नही होता है। अध्रुवता के कारण ही उनके वंध और उदय की आदि भी है और अन्त भी है।

गो० कर्मकांड में प्रकृतिवंध का निरूपण करते हुए वंध के चार प्रकार वतलाये है। सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। जिनके लक्षण इस प्रकार है—

सादी अवन्धवन्धे, सेढिअणारूढगे अणादी हु।
अभव्वसिद्धम्हि धुवो भवसिद्धे अद्धुवो वधो ॥१२३॥

जिस कर्म के वंध का अभाव होकर पुनः वही कर्म वंधे, उसे सादि वंध कहते है। श्रेणि[1] पर जिसने पैर नही रखा है, उस जीव के उस प्रकृति का अनादि वंध होता है। अभव्य जीवों को ध्रुव वंध और भव्य जीवो को अध्रुव वंध होता है।

यहा ध्रुव और अध्रुव शव्द का अर्थ क्रमशः अनंत और सान्त ग्रहण किया है। क्योकि अभव्य का वंध अनंत और भव्य का वंध सान्त होता है।

ध्रुववन्धिनी ४७ प्रकृतियों मे उक्त चारो प्रकार के वंध होते है तथा शेष अध्रुववंधिनी ७३ प्रकृतियो मे सादि और अध्रुव यह दो वंध है।

कर्मग्रन्थ मे ध्रुववंधिनी प्रकृतियो मे तीन भंग और गो० कर्मकांड मे उक्त चार भंग वतलाये है। लेकिन इनमें मतभिन्नता नही है। क्योकि कर्मग्रन्थ में संयोगी भंगो को लेकर कथन किया गया है और गो० कर्मकाड मे असंयोगी प्रत्येक भंग का, जैसे अनादि, ध्रुव। इसीलिये

---

१ जिस गुणस्थान तक जिस कर्म का वन्ध होता है, उस गुणस्थान से आगे के गुणस्थान को यहां श्रेणि कहा गया है।

कर्मग्रन्थ में सादि-अनन्त भंग न वन सकने के कारण संयोगी ती
भंग माने है और गो० कर्मकांड में प्रत्येक भंग वन सकने से चार
इसी प्रकार कर्मग्रन्थ में अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों मे एक सादि-सान्
भंग बताया है और गो० कर्मकांड में सादि और अध्रुव—दो भंग क
है। लेकिन इसमें भी अन्तर नही है। क्योंकि सादि और अध्रुव यानि
सान्त को मिलाने से संयोगी सादिसान्त भंग वनता है और दोनों क
अलग-अलग गिनने से वे दो हो जाते है। प्रकृतिवंध के भंगों के वा
में कार्मग्रन्थिकों में एकरूपता है, लेकिन कथनशैली की विविधता से
भिन्नता-सी प्रतीत होती है।

इस प्रकार से वंध और उदय प्रकृतियों मे अनादि-अनन्त आदि
भंगों का क्रम जानना चाहिये। यह सामान्य से कथन किया है। विशेष
कथन ध्रुवोदयी और अध्रुवोदयी प्रकृतियो का नाम निर्देश करने के
अनन्तर यथास्थान किया जा रहा है।

अव आगे की गाथा में ध्रुवोदय प्रकृतियों के नामों क
वतलाते है।

ध्रुवोदय प्रकृतियाँ

निमिण थिर अथिर अगुरुय सुहअसुहं तेय कम्म चउवन्ना।
नाणतराय दंसण मिच्छं ध्रुवउदय सगवीसा ॥६॥

शब्दार्थ—**निमिण**—निर्माण नामकर्म, **थिर**-स्थिर नामकर्म, **अथिर**—अस्थिर नामकर्म, **अगुरुय** अगुरुलघु नामकर्म, **सुह**—शुभ नामकर्म, **असुहं**—अशुभ नामकर्म, **तेय**-तैजस शरीर, **कम्म**—कार्मण शरीर, **चउवन्ना**—वर्णचतुष्क, **नाणंतराय**—ज्ञानावरण अतराय कर्म के भेद, **दंसण**—चार दर्शनावरण, **मिच्छं**—मिथ्यात्व मोहनीय, **धुवउदय**—ध्रुवोदयी, **सगवीसा** सत्ताईस।

गाथार्थ—निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस कार्मण शरीर, वर्णचतुष्क, पाच ज्ञानावरण, पाच अंतराय, चार दर्शनावरण और मिथ्यात्व मोहनीय, ये ध्रुवोदयी सत्ताईस प्रकृतिया है।[1]

विशेषार्थ—इस गाथा में ध्रुवोदयी सत्ताईस प्रकृतियो के नाम बतलाते है। इनको ध्रुवोदयी कहने का कारण यह है कि अपने उदय-विच्छेद काल तक इनका उदय बना रहता है।

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की उदययोग्य १२२ प्रकृतियां है—ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, अन्तराय ५। इस प्रकार से ५+९+२+२८+४+६७+२+५=१२२ प्रकृतियां होती है। इनमें से २७ प्रकृतियां ध्रुवोदयी है। जिनका विवरण क्रमश इस प्रकार है—

(१) ज्ञानावरण—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय, केवल ज्ञानावरण।

(२) दर्शनावरण—चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल दर्शनावरण।

(३) मोहनीय—मिथ्यात्व।

---

१ (क) निम्माणथिराथिर [illegible]

णाणतराउदंसण [illegible]

[illegible]

(ख) गो० कर्मकांड [illegible]

ध्रुवोदयी [illegible]

[illegible]

(४) नामकर्म – निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अ
तैजस शरीर, कार्मण शरीर, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श।

(५) अतराय—दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अन्तराय।

इनका विवेचन गाथागत क्रम के अनुसार करते है। नामकर्म
निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण
वर्णचतुष्क यह बारह प्रकृतियां ध्रुवोदयी है, क्योंकि चारों गति
जीवों में इनका उदय सर्वदा रहता है। जब तक शरीर है तब
इनका उदय अवश्य बना रहेगा। तेरहवे गुणस्थान के अंत मे
बारह प्रकृतियों का उदयविच्छेद होता है किन्तु वहाँ तक सभी
के इन बारह प्रकृतियों का उदय बना रहता है।

यद्यपि स्थिर, अस्थिर तथा शुभ, अशुभ ये चार प्रकृतियाँ पर
विरोधिनी कहलाती है। लेकिन इनका विरोधित्व बंध की अपेक्ष
क्योंकि स्थिर नामकर्म के समय अस्थिर नामकर्म का और शुभ
के समय अशुभ नामकर्म का बंध नही हो सकता है, किन्तु उदया
इनमें विरोध नही है। स्थिर और अस्थिर का उदय एक सा
सकता है। क्योकि स्थिर नामकर्म के उदय से हाड, दात आदि
होते है और अस्थिर नामकर्म के उदय से रुधिर आदि अस्थिर
है, इसी प्रकार शुभ नामकर्म के उदय से मस्तक आदि शुभ अंग
है और अशुभ नामकर्म के उदय से पैर आदि अशुभ अंग। अ
ये चारों प्रकृतिया बंध की अपेक्षा विरोधिनी होने पर भी उदया
अविरोधिनी मानी गई है।

पांच ज्ञानावरण, पाच अंतराय और चार दर्शनावरण इन चौ
प्रकृतियो का उदय अपने क्षय होने वाले गुणस्थान तक बना रहता
इनका क्षय बारहवें गुणस्थान के चरम समय में होता है।[1] अतएव

---

१ नाणतराय दसण चउ छेओ सजोगि बायाला। —द्वितीय कर्मग्रन्थ गा०

कर देने पर शेष ६५ प्रकृतिया अध्रुवोदया है। जिनका संकेत इस गा
मे किया गया है । इन पंचानवे प्रकृतियो को अध्रुवोदया मानने
सामान्य कारण तो यह है कि वहुत सी प्रकृतिया परस्पर विरोधी
और तोर्थकर आदि कितनीक प्रकृतियो का सदैव उदय होता नही
तथा जिस गुणस्थान तक जितनी प्रकृतियो का गुणप्रत्यय से विच्छे
नही वतलाया है, वहा तक उन प्रकृतियो के रहने पर भी उसी गु
स्थान मे वह प्रकृति द्रव्य आदि की अपेक्षा उदय मे आये भी और
भी आये, इसीलिये उनको अध्रुवोदया प्रकृतियो मे माना है । इनव
विशेप स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है ।

पूर्व मे अध्रुववन्धिनी तिहत्तर प्रकृतियो के नाम वतलाये जा चु
है । उनमें से स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ इन चार प्रकृतियों के सिवा
शेष ६९ प्रकृतिया अध्रुवोदया है। इन उनहत्तर प्रकृतियो मे से तीर्थंकर
उच्छ्वास, उद्योत, आतप और पराघात इन पाच प्रकृतियों का उद
किसी जीव को होता है और किसी जीव को नही होता है तथा शे
६४ प्रकृतिया जैसे वन्धावस्था मे विरोधिनी है, वैसे
विरोधनी है । इसीलिये इनको अध्रुवोदया कहा है ।

मोहनीय कर्म की ध्रुववंधिनी उन्नीस
छोड़कर शेष सोलह कपाय, भय और
प्रकृतिया अध्रुवोदया है । क्योकि ये
का उदय होने पर मान आदि अन्य
इसी प्रकार मान आदि के उदय के
जानना चाहिये । इसलिये वंध की
उदय की अपेक्षा क्रोधादि कपायें
कारण कपायो को अध्रुवोदया
भी कादाचित्क है । किसी के

किसी के किसी समय नही भी होता है। अतएव इन दोनो को अध्रुवोदया माना है।

दर्शनावरण कर्म के भेद निद्रा आदि पाच निद्रायें अध्रुवोदया इसलिये मानी जाती है कि इनका उदय कभी होता है और कभी नही होता है तथा ये निद्रायें परस्पर में विरोधी है। यानी एक समय में एक ही निद्रा का उदय होता है। उपघात नामकर्म का उदय किसी जीव को कभी-कभी होता है। अतः वह अध्रुवोदयी है।

मिश्र प्रकृति को अध्रुवोदयी इसलिये माना जाता है कि इसकी उदयविरोधिनी सम्यक्त्व और मिथ्यात्व मोहनीय है, जिनके काल मे इसका उदय नही होता है। सम्यक्त्व मोहनीय का उदय वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दृष्टि को होता है और वेदक सम्यक्त्व का उदय काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट ६६ सागर अधिक चार पूर्व कोटि है। अतः यह अध्रुवोदया है। इस प्रकार ९५ प्रकृतिया अध्रुवोदया है। इनके उदय का विच्छेद होने पर भी पुनः उदय हो सकता है।

मिथ्यात्व मोहनीय को अध्रुवोदया प्रकृति न मानने का कारण यह है कि मिथ्यात्व का उदय पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे सतत रहता है, एक क्षण के लिये भी नहीं रुकता है। जबकि अध्रुवोदया प्रकृतियो का उदयविच्छेद न होने तक द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि के निमित्त से कभी उदय होता है और कभी नही होता है। इसीलिये उनकी अध्रुवोदया संज्ञा है।

बंध एव उदय प्रकृतियो मे अनादि-अनन्त आदि भंगो का स्पष्टीकरण

बंधयोग्य १२० प्रकृतियो मे से ४७ ध्रुवबंधिनी और ७३ अध्रुवबंधिनी तथा उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में से २७ ध्रुवोदया तथा ९५ अध्रुवोदया है। इस प्रकार से बंध एवं उदय प्रकृतियों के ध्रुव, अध्रुव दो

कर देने पर शेप ६५ प्रकृतिया अध्रुवोदया है। जिनका संकेत इस गा
में किया गया है। इन पंचानवे प्रकृतियो को अध्रुवोदया मानने
सामान्य कारण तो यह है कि बहुत सी प्रकृतिया परस्पर विरोधी
और तीर्थंकर आदि कितनीक प्रकृतियों का सदैव उदय होता नहीं
तथा जिस गुणस्थान तक जितनी प्रकृतियो का गुणप्रत्यय से विच्
नही बतलाया है, वहा तक उन प्रकृतियों के रहने पर भी उसी गु
स्थान में वह प्रकृति द्रव्य आदि की अपेक्षा उदय मे आये भी और
भी आये, इसीलिये उनको अध्रुवोदय प्रकृतियो मे माना है। इन
विशेष स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

पूर्व मे अध्रुवबन्धिनी तिहत्तर प्रकृतियों के नाम बतलाये जा चु
है। उनमें से स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ इन चार प्रकृतियों के सिवा
शेष ६९ प्रकृतिया अध्रुवोदया है। इन उनहत्तर प्रकृतियो में से तीर्थंक
उच्छ्‌वास, उद्योत, आतप और पराघात इन पाच प्रकृतियों का उद
किसी जीव को होता है और किसी जीव को नही होता है तथा शे
६४ प्रकृतिया जैसे बन्धावस्था मे विरोधिनी है, वैसे ही उदय दशा
विरोधनी है। इसीलिये इनको अध्रुवोदया कहा है।

मोहनीय कर्म की ध्रुवबंधिनी उन्नीस प्रकृतियों मे से मिथ्यात्व
छोड़कर शेप सोलह कषाय, भय और जुगुप्सा ये अठारह ध्रुवबंधि
प्रकृतियां अध्रुवोदया है। क्योकि ये उदय में परस्पर विरोधी है। क्रो
का उदय होने पर मान आदि अन्य कषायों का उदय नही होता है
इसी प्रकार मान आदि के उदय के समय क्रोध आदि के बारे मे भ
जानना चाहिये। इसलिये बंध की अपेक्षा विरोधिनी नही होने पर भ
उदय की अपेक्षा क्रोधादि कपाये विरोधिनी है। इसी विरोधरूपता के
कारण कपायो को अध्रुवोदया कहा है। भय और जुगुप्सा का उदय
भी कादाचित्क है। किसी के किसी समय इनका उदय होता है औ

किसी के किसी समय नहीं भी होता है। अतएव इन दोनों को अध्रु-वोदया माना है।

दर्शनावरण कर्म के भेद निद्रा आदि पांच निद्रायें अध्रुवोदया इसलिये मानी जाती हैं कि इनका उदय कभी होता है और कभी नहीं होता है तथा ये निद्रायें परस्पर में विरोधी हैं। यानी एक समय में एक ही निद्रा का उदय होता है। उपघात नामकर्म का उदय किसी जीव को कभी-कभी होता है। अतः वह अध्रुवोदयी है।

मिश्र प्रकृति को अध्रुवोदयी इसलिये माना जाता है कि इसकी उदयविरोधिनी सम्यक्त्व और मिथ्यात्व मोहनीय है, जिनके काल में इसका उदय नहीं होता है। सम्यक्त्व मोहनीय का उदय वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दृष्टि को होता है और वेदक सम्यक्त्व का उदय काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट ६६ सागर अधिक चार पूर्व कोटि है। अतः यह अध्रुवोदया है। इस प्रकार ९५ प्रकृतियां अध्रुवोदया है। इनके उदय का विच्छेद होने पर भी पुनः उदय हो सकता है।

मिथ्यात्व मोहनीय को अध्रुवोदया प्रकृति न मानने का कारण यह है कि मिथ्यात्व का उदय पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे सतत रहता है, एक क्षण के लिये भी नहीं रुकता है। जबकि अध्रुवोदया प्रकृतियो का उदयविच्छेद न होने तक द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि के निमित्त से कभी उदय होता है और कभी नहीं होता है। इसीलिये उनकी अध्रुवोदया संज्ञा है।

बंध एवं उदय प्रकृतियों में अनादि-अनन्त आदि भंगों का स्पष्टीकरण

बंधयोग्य १२० प्रकृतियों मे से ४७ ध्रुवबंधिनी और ७३ अध्रुवबंधिनी तथा उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में से २७ ध्रुवोदया तथा ९५ अध्रु-वोदया है। इस प्रकार से बंध एवं उदय प्रकृतियों के ध्रुव, अध्रुव दो

रूप होने से प्रश्न होता है कि ध्रुव प्रकृतियों का सदैव अनादि से काल तक वंध, उदय होता रहेगा और अध्रुव प्रकृतियो का सादिस वंध, उदय होता है। इसलिये अनादि-अनंत और सादि-सान्त यह भंग मानना चाहिये।

इसका समाधान यह है कि संसारी जीव कर्मो का कर्ता भोक्ता है। अनादि से अनन्तकाल तक यह क्रम चलता है। लेकिन जीव भव्य है—मुक्तिप्राप्ति की योग्यता वाले है तथा अभव्य—मु प्राप्ति की योग्यता वाले नही है, उनकी अपेक्षा से अनादि-अनंत अ चार भंग होते है। जिनका बंध और उदय प्रकृतियो में स्पष्टीक किया जा रहा है।

कर्म प्रकृतियों में होने वाले चार भंगो के नाम पूर्व में बतलाये चुके है। उनमें से ध्रुवबंधिनी प्रकृतियो में तीसरे भंग के सिवाय अनादि-अनंत, अनादि-सान्त, सादि-सात यह तीन भंग होते है— इस प्रकार है—

पहला अनादि-अनंत भंग अभव्य जीवो की अपेक्षा से होता क्योकि अभव्य जीवों के ध्रुववंधिनी प्रकृतियो का वंध अनादि-अ होता है। अनादि-सान्त दूसरा भंग भव्य जीवों की अपेक्षा घ होता है। क्योकि पांच ज्ञानावरण, पाच अंतराय और चार दर्शनाव इन चौदह प्रकृतियों के वंध की अनादि सन्तान जव दसवे गुणस्थान विच्छिन्न हो जाती है तव अनादि-सान्त भंग होता है तथा ग्यार उपशान्तमोह गुणस्थान मे उक्त चौदह प्रकृतियों का वंध न करके म हो जाने अथवा ग्यारहवे गुणस्थान का समय पूरा हो जाने के का कोई जीव ग्यारहवे गुणस्थान से च्युत होकर जव पुनः उक्त चौ प्रकृतियों का वंध करता है और दसवे गुणस्थान में पुन: उनका व ... करता है तव सादि-सान्त नामक चतुर्थ भंग घटित होता

संज्वलन कपाय के वंध का निरोध जव कोई जीव नौवे गुणस्थान
रता है तव अनादि-सान्त भंग घटित होता है और जव वही जीव
गुणस्थान से च्युत होकर पुनः संज्वलन कपाय का बंध करता है
पुन' नौवे गुणस्थान को प्राप्त करने पर उसका निरोध करता है
सादि-सान्त चौथा भंग होता है।

निद्रा, प्रचला, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात,
र्णाण, भय और जुगुप्सा ये तेरह प्रकृतिया आठवे गुणस्थान में
च्छिन्न हो जाती है तव इनका अनादि-सान्त भंग होता है और
ठवे गुणस्थान से पतन होने के वाद जव उनका वंध होता है तो वह
दि वंध है तथा पुनः आठवे गुणस्थान में पहुँचने पर जव उनका वंध-
च्छेद हो जाता है तो वह वंध सान्त कहलाता है। इस प्रकार उनमें
दि-सान्त यह चौथा भंग घटित होता है।

प्रत्याख्यानावरण कपाय चतुष्क का वंध पाचवे गुणस्थान तक
नादि है किन्तु छठे गुणस्थान में उसका अभाव हो जाने से सान्त
ता है। अत' अनादि-सान्त भंग होता है। छठे गुणस्थान से गिरने
र जव पुनः वंध होने लगता है और छठे गुणस्थान के प्राप्त करने
र उसका अभाव हो जाता है तव चौथा सादि-सान्त भंग घटित होता
। अप्रत्याख्यानावरण कपाय चतुष्क का वंध चौथे गुणस्थान तक
नादि है, लेकिन पाचवें गुणस्थान में उसका अन्त हो जाता है अतः
सरा अनादि-सान्त भंग वनता है तथा पाचवे गुणस्थान से गिरने पर
नः वन्ध और जव पाचवें गुणस्थान के प्राप्त होने पर अवंध करने
गता है तव सादि-सान्त चौथा भंग होता है।

मिथ्यात्व, स्त्यानर्द्धित्रिक, अनन्तानुवंधी कपाय चतुष्क का अनादि
वंधक मिथ्यादृष्टि जव सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर उनका वंध नहीं
करता है तव दूसरा अनादि-सान्त भंग और पुनः मिथ्यात्व में गिर

रूप होने से प्रश्न होता है कि ध्रुव प्रकृतियों का सदैव अनादि से अनं
काल तक बंध, उदय होता रहेगा और अध्रुव प्रकृतियों का सादिसा
बंध, उदय होता है। इसलिये अनादि-अनंत और सादि-सान्त यह
भंग मानना चाहिये।

इसका समाधान यह है कि संसारी जीव कर्मों का कर्ता औ
भोक्ता है। अनादि से अनन्तकाल तक यह क्रम चलता है। लेकिन
जीव भव्य है—मुक्तिप्राप्ति की योग्यता वाले है तथा अभव्य—मुत्ति
प्राप्ति की योग्यता वाले नही है, उनकी अपेक्षा से अनादि-अनंत आ
चार भंग होते है। जिनका बंध और उदय प्रकृतियो में स्पष्टीकर
किया जा रहा है।

कर्म प्रकृतियों में होने वाले चार भंगो के नाम पूर्व में वतलाये
चुके है। उनमें से ध्रुववंधिनी प्रकृतियों में तीसरे भंग के सिवाय
अनादि-अनंत, अनादि-सान्त, सादि-सात यह तीन भंग होते है—
इस प्रकार है—

पहला अनादि-अनंत भंग अभव्य जीवों की अपेक्षा से होता है
क्योकि अभव्य जीवो के ध्रुववंधिनी प्रकृतियो का बंध अनादि-अन
होता है। अनादि-सान्त दूसरा भंग भव्य जीवो की अपेक्षा घटि
होता है। क्योंकि पाच ज्ञानावरण, पाच अंतराय और चार दर्शनावर
इन चौदह प्रकृतियो के वंध की अनादि सन्तान जव दसवे गुणस्थान
विच्छिन्न हो जाती है तव अनादि-सान्त भंग होता है तथा ग्यारह
उपशान्तमोह गुणस्थान में उक्त चौदह प्रकृतियों का वंध न करके मर
हो जाने अथवा ग्यारहवे गुणस्थान का समय पूरा हो जाने के कार
कोई जीव ग्यारहवे गुणस्थान से च्युत होकर जव पुन' उक्त चौद
प्रकृतियों का वंध करता है और दसवें गुणस्थान मे पुनः उनका वंध
च्छेद करता है तव सादि-सान्त नामक चतुर्थ भंग घटित होता है

संज्वलन कषाय के बंध का निरोध जब कोई जीव नौवें गुणस्थान
करता है तब अनादि-सान्त भंग घटित होता है और जब वही जीव
वे गुणस्थान से च्युत होकर पुनः संज्वलन कषाय का बंध करता है
ा पुनः नौवे गुणस्थान को प्राप्त करने पर उसका निरोध करता है
साादि-सान्त चौथा भंग होता है।

निद्रा, प्रचला, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात,
र्माण, भय और जुगुप्सा ये तेरह प्रकृतियां आठवे गुणस्थान में
च्छिन्न हो जाती है तब इनका अनादि-सान्त भंग होता है और
ाठवे गुणस्थान से पतन होने के बाद जब उनका बंध होता है तो वह
ादि बंध है तथा पुनः आठवे गुणस्थान में पहुँचने पर जब उनका बंध-
च्छेद हो जाता है तो वह बंध सान्त कहलाता है। इस प्रकार उनमें
ादि-सान्त यह चौथा भंग घटित होता है।

प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का बंध पाचवे गुणस्थान तक
नादि है किन्तु छठे गुणस्थान में उसका अभाव हो जाने से सान्त
ोता है। अतः अनादि-सान्त भंग होता है। छठे गुणस्थान से गिरने
र जब पुनः बंध होने लगता है और छठे गुणस्थान के प्राप्त करने
र उसका अभाव हो जाता है तब चौथा सादि-सान्त भंग घटित होता
। अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का बंध चौथे गुणस्थान तक
नादि है, लेकिन पाचवें गुणस्थान में उसका अन्त हो जाता है अतः
सरा अनादि-सान्त भंग बनता है तथा पाचवें गुणस्थान से गिरने पर
न: वन्ध और जब पाचवे गुणस्थान के प्राप्त होने पर अबंध करने
गता है तब सादि-सान्त चौथा भंग होता है।

मिथ्यात्व, स्त्यानर्द्धित्रिक, अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क का अनादि
बंधक मिथ्यादृष्टि जब सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर उनका बंध नहीं
करता है तब दूसरा अनादि-सान्त भंग और पुनः मिथ्यात्व में गिर

कर उक्त प्रकृतियों का बंध करने और पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति पर बंध नही करने पर चौथा सादि-सान्त भंग होता है। इस ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों में तीसरे सादि-अनंत भंग के सिवाय शेष अनंत, अनादि-सान्त और सादि-सान्त ये तीन भंग होते है।

अब ध्रुवोदया प्रकृतियों में भंगो को घटित करते है। ध्रु प्रकृतियों में पहला अनादि-अनंत और दूसरा अनादि-सान्त य भंग होते है। ध्रुवोदया २७ प्रकृतियों के नाम यथास्थान बतलाये चुके है। उनमें से मिथ्यात्व प्रकृति में विशेषता है। इसलिए भंगों के बारे में अलग से कथन किये जाने से शेष छव्वीस प्रकृ के बारे में स्पष्टीकरण करते है।

निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, क वर्णचतुष्क, पाच ज्ञानावरण, पाच अंतराय और चार दर्शना इन छव्बीस ध्रुवोदयी प्रकृतियो मे पहला अनादि-अनन्त भंग अ जीवों की अपेक्षा घटित होता है। क्योकि अभव्य जीवो के ध्रुवं प्रकृतियों के उदय का न तो आदि है और न अंत ही होता है।

दूसरा अनादि-सान्त भंग भव्य जीवों की उपेक्षा घटित होता पांच ज्ञानावरण, पांच अंतराय और चार दर्शनावरण इन न प्रकृतियों का उदय वारहवे गुणस्थान तक तो जीवो को अनादि से है, लेकिन वारहवें गुणस्थान के अंत में जव इनका विच्छेद जाता है तव वह उदय अनादि-सान्त कहा जाता है। इसी प्र निर्माण, स्थिर, अस्थिर आदि शेष बची हुई वारह प्रकृतियो अनादि उदय तेरहवे सयोगिकेवली गुणस्थान के अंत मे विच्छि हो जाता है तव उनका उदय अनादि-सांत कहलाता है।

इस प्रकार मिथ्यात्व के सिवाय शेप ध्रुव्रोदया प्रकृतियों में के दो ही भंग घटित होते है—अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-अन

ौर भव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-सान्त। शेप दो भंग—सादि-अनंत और सादि-सान्त घटित नही होते है। क्योकि किसी प्रकृति के उदय का विच्छेद होने के पश्चात पुनः उदय होने लगता हो तो वह उदय सादि कहलाता है। लेकिन उक्त ध्रुवोदयी प्रकृतियों का उदयविच्छेद बारहवे, तेरहवे गुणस्थान के अंत में हो जाने पर पुन: उनका उदय नही होता है और उन गुणस्थानो के प्राप्त हो जाने के वाद जीव नीचे के गुणस्थानों में नही आकर मुक्ति को ही प्राप्त करता है। अतः उक्त प्रकृतियों का सादि उदय नही होता है। इसलिए शेप दो भंग भी नही होते है।

छव्वीस ध्रुवोदयी प्रकृतियों में आदि के दो भंग होते है, लेकिन मिथ्यात्व मे अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त यह तीन भंग होते है। अनादि-अनंत भंग अभव्य जीवो की अपेक्षा से, अनादि-सान्त भंग अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीवों की अपेक्षा से घटित होता है। अनादि-अनंत भंग अभव्य जीवो की अपेक्षा से मानने का कारण यह है कि उनके मिथ्यात्व के उदय का अभाव न तो कभी हुआ है और न होगा। भव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-सात भंग इसलिए माना जाता है कि पहले पहल सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर उनके अनादि-कालीन मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है। चौथा सादि-सान्त भंग उस भव्य जीव की अपेक्षा घटित होता है जो सम्यक्त्व के छूट जाने के पश्चात पुनः मिथ्यात्व को प्राप्त करके भी पुनः सम्यक्त्व को पाकर उसका अभाव कर देता है। इस प्रकार ध्रुवोदया मिथ्यात्व प्रकृति में तीन भंग घटित होते है।

अध्रुवबन्धिनी और अध्रुवोदयी प्रकृतियो में केवल सादि-सान्त भंग ही घटित होता है। क्योंकि उनका बंध और उदय अध्रुव है, कभी होता है और कभी नही होता है। इस प्रकार वंध और उदय प्रकृतियों में भंगो का क्रम समझना चाहिए।

बंध एवं उदय प्रकृतियों के उक्त ध्रुव, अध्रुव भेदों में भंगो
घटित करने का सारांश यह है कि मिथ्यात्व को छोड़कर शेष
प्रकृतियो में पहले दो—अनादि-अनंत, अनादि-सान्त भंग तथा मि
में तीन—अनादि-अनंत, अनादि-सान्त तथा सादि-सान्त भंग
है। ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और स
सान्त यह तीन भंग घटित होते है। अध्रुव बंध व उदय प्रकृति
सिर्फ सादि-सान्त यह एक भंग होता है। यह भंग भव्य और अ
जीवों की पारिणामिक स्थिति के कारण बनते है। ग्रन्थकार ने सू
में प्रकृतियों मे घटित होने वाले भंगों का संकेत गाथा ५ में क
दिया है कि—

> पढमविया धुवउदइसु धुवबंधिसु तइअवज्ज भंगतिगं ।
> मिच्छम्मि तिन्नि भंगा दुहावि अधुवा तुरिअ भंगा ॥

इस प्रकार से ध्रुव-अध्रुव बंध, उदय प्रकृतियों के नाम और
घटित होने वाले भंगों की संख्या का कारण सहित स्पष्टीकरण
के पश्चात अव दो गाथाओं मे ध्रुव, अध्रुव सत्ता प्रकृतिय
गिनाते है।

ध्रुव-अध्रुव सत्ता प्रकृतियां—

> **तसवन्नवीस सगतेय-कम्म धुवबंधि सेस वेयतिगं ।**
> **आगिइतिग वेयणियं दुजुयल सगउरल सासचऊ ॥८॥**
> **खगइतिरिदुग नीयं धुवसता सम्म मीस मणुयदुगं ।**
> **विउव्विक्कार जिणाऊ हारसगुच्चा अधुवसंता ॥९॥**

शब्दार्थ—तसवन्नवीस—त्रस आदि वीस व वर्ण आदि वीस
प्रकृतिया, सगतेयकम्म तैजस कार्मण सप्तक, धुवबंधि—ध्रुवबंधिनी,
सेस—बाकी की, वेयतिगं—वेदत्रिक, आगिइतिग—आकृतित्रिक—छह

सस्थान, छह सहनन और पाच जाति, वेयणियं—वेदनीय, दुजुयल—दो युगल, सगउरल—औदारिक-सप्तक, सासचऊ श्वासचतुष्क।

खगईतिरिदुग खतिद्विक और तिर्यचद्विक, नीय—नीच गोत्र, धुवसंता—ध्रुवसत्ता, सम्म—सम्यक्त्व मोहनीय, मीस—मिश्र मोहनीय, मणुयदुगं मनुष्यद्विक, विउव्विक्कार-वैक्रिय एकादश, जिण—जिन नामकर्म, आऊ—चार आयु, हारसग—आहारकसप्तक, उच्चा उच्च गोत्र, अधुव संता—अध्रुव सत्ता।

गाथार्थ—त्रसवीशक और वर्णवीशक, तैजस-कार्मण सप्तक, बाकी की ध्रुवबन्धिनी प्रकृतिया, तीन वेद, आकृतित्रिक, वेदनीय, दो युगल, औदारिक सप्तक, उच्छ्वास चतुष्क तथा—

विहायोगतिद्विक, तिर्यचद्विक, नीच गोत्र, ये सब ध्रुवसत्ता प्रकृतियां है। सम्यक्त्व, मिश्र, मनुष्यद्विक, वैक्रिय-एकादश, तीर्थंकर नामकर्म, चार आयु, आहारक-सप्तक और उच्च गोत्र ये अध्रुव सत्ता प्रकृतिया जानना चाहिये।

विशेषार्थ—बंध एवं उदय प्रकृतियों का ध्रुव व अध्रुव के भेद से र्गीकरण करने के पश्चात् इन दोनो गाथाओ में ध्रुव सत्ता और ध्रुव सत्ता वाली प्रकृतियों की संख्या बतलाई है। कुछ प्रकृतियों के नाम बतलाये है और कुछ प्रकृतियों का संज्ञाओं द्वारा निर्देश या है।

बंध-योग्य प्रकृतियां १२० है और उदययोग्य १२२ प्रकृतिया है, किन सत्ता प्रकृतियों की संख्या १५८ है।[1] जिनके नाम प्रथम ...

---

[1] वध की अपेक्षा उदय, सत्ता प्रकृतियो के अन्तर का कारण ग मे देखिये।

ग्रन्थ मे स्पष्ट किये गये है और संख्या इस प्रकार है—ज्ञानावरण
दर्शनावरण ६, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नामकर्म १०३,
२, अंतराय ५। कुल मिलाकर (५ + ६ + २ + २८ + ४ + १०३ + २
१५८ भेद हो जाते है।

इन १५८ प्रकृतियों का ध्रुव और अध्रुव सत्ता रूप मे कथन
के लिये निम्नलिखित संज्ञाओं का उपयोग किया गया है। संज्ञाओं
उनमे गर्भित प्रकृतियों के नाम इस प्रकार है—

त्रसवीशक— त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सु
आदेय, यशःकीर्ति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अ
दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति।[1]

वर्णवीशक—पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श।[2]

तैजस कार्मण सप्तक—तैजस शरीर, कार्मण शरीर, तैजस
बंधन, तैजसकार्मण बंधन, कार्मण-कार्मण बन्धन, तैजस संघ
कार्मण संघातन।

आकृतित्रिक—छह संस्थान—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल,
कुब्ज, वामन, हुंड। छह **संहनन**—वज्रऋषभनाराच, ऋषभना
नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त। **पांच जाति**—(जाति ना
के भेद) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।

युगलद्विक—हास्य और रति का युगल तथा शोक व अर
युगल।

औदारिकसप्तक—औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, अ

---

१. त्रस से लेकर यशःकीर्ति तक की प्रकृतिया त्रसदशक और स्था
अयशःकीर्ति तक की प्रकृतिया स्थावरदशक कहलाती है।

२. वर्ण चतुष्क मे गर्भित नामो को प्रथम कर्मग्रन्थ मे देखिये।

ः संघात, औदारिक बंधन, औदारिक-तैजस बंधन, औदारिक-र्मण बंधन, औदारिक-तैजस-कार्मण बंधन।

उच्छ्वास चतुष्क—उच्छ्वास, आतप, उद्योत, पराघात।

खगतिद्विक—शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति।

तिर्यंचद्विक—तिर्यंचगति तिर्यंचानुपूर्वी।

मनुष्यद्विक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी।

वैक्रियएकादश—देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, क्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपाग, वैक्रिय संघात, वैक्रियवैक्रिय बंधन, क्रियतैजस बंधन, वैक्रियकार्मण बंधन, वैक्रिय-तैजस-कार्मण बंधन।

आहारकसप्तक—आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, आहारक-घातन, आहारक-आहारक बंधन, आहारक-तैजस बंधन, आहारक-र्मण बंधन, आहारक-तैजस-कार्मण बंधन।

इन संज्ञाओं में गृहीत प्रकृतियों तथा कुछ प्रकृतियों के नाम निर्देश र्वक ध्रुव-अध्रुव सत्ता वाली प्रकृतियों की अलग अलग संख्या बत-ाई है। तसवन्नवीस से लेकर नीयं ध्रुवसंता पद तक ध्रुव सत्ता ाली प्रकृतियों के नाम है तथा सम्ममीस मणुयदुगं से लेकर हार-गुच्चा पद तक अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों के नाम है। कुल मिलाकर १५८ प्रकृतियां हो जाती है।

बंध और उदय में ध्रुवबंधिनी और ध्रुवोदया प्रकृतियों की संख्या अध्रुवबंधिनी और अध्रुवोदया की अपेक्षा कम है, लेकिन इसके वेपरीत सत्ता में ध्रुवसत्ता प्रकृतियों की संख्या अधिक और अध्रुव-सत्ता प्रकृतियों की संख्या कम है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि बं‴ के समय ही किसी प्रकृति का उदय हो जाये और किसी प्रकृति उदय के समय ही उस प्रकृति का बंध भी हो जाये यह आवश्यक

है। किन्तु जो बंधदशा में है और जिसका उदय हो रहा है, उ
सत्ता अवश्य होती है। इसी कारण ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियो
संख्या अधिक और अध्रुव सत्ता वाली प्रकृतियों की संख्या कम है।

त्रसादि बीस से लेकर नीच गोत्र पर्यन्त की प्रकृतियो को ध्
सत्ता वाली मानने के कारण को स्पष्ट करते है।

त्रसादि बीस, वर्णादि बीस और तैजस-कार्मण सप्तक की
सभी संसारी जीवों के रहती है। समस्त ध्रुवबंधिनी प्रकृतिया ध्रुव
वाली होती है। क्योंकि जिनका बंध सर्वदा हो रहा है उनकी अ
ही ध्रुव सत्ता होगी। लेकिन वर्णवीशक में वर्णचतुष्क और तै
कार्मण सप्तक मे तैजस, कार्मण शरीर का अलग से निर्देश कर
जाने से सैंतालीस ध्रुवबंधिनी प्रकृतियो में से इन छह प्रकृतिय
कम करके शेष ४१ प्रकृतियों का संकेत किया है। तीनों वेदों
बंध और उदय अध्रुव बतलाया है किन्तु उनकी सत्ता ध्रुव है। क्
वेदो का बंध क्रम-क्रम से होता है लेकिन उनके एक साथ रह
किसी प्रकार का विरोध नही है। परस्पर दलों की संक्राति होने
अपेक्षा वेदनीयद्विक को ध्रुवसत्ता माना है। हास्य-रति और श
अरति इन दोनों युगलों की सत्ता नौवे गुणस्थान तक सदैव रहत
अत. इनकी सत्ता को ध्रुव माना है। औदारिक सप्तक की सत्ता
सदा रहती है। क्योंकि मनुष्य व तिर्यंच गति मे इनका उदय र
है तथा देव व नरक गति में इनका बंध होता है। इसीलिये इ
ध्रुवसत्ता माना है। इसी प्रकार उच्छ्‌वास चतुष्क, विहायो
युगल, तिर्यंचद्विक, नीच गोत्र की सत्ता भी सदैव रहती है। सम्य
की प्राप्ति होने से पहले सभी जीवो मे ये प्रकृतिया सदा रहती
इसीलिए इनको ध्रुवसत्ता कहा जाता है।

ध्रुवसत्ता प्रकृतियों के ध्रुवसत्ता वाली मानने के कारण को स्पष्ट करने के बाद अब शेष प्रकृतियो को अध्रुवसत्ता वाली मानने के कारण को स्पष्ट करते है।

सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय की सत्ता अभव्यों के तो होती ही नही है किन्तु भव्यो में भी बहुतों को नही होती है। तेजस्काय और वायुकाय के जीव जब मनुष्यद्विक की उद्वलना कर देते है तब मनुष्यद्विक की सत्ता नही होती है, इसीलिये मनुष्यद्विक को अध्रुवसत्ता माना है। वैक्रिय एकादश प्रकृतियों की सत्ता अनादि निगोदिया जीव के नही होती है तथा जिसने त्रस पर्याय प्राप्त नही की हो, उसके बंध का अभाव होने से अथवा बंध करके स्थावर में जाने पर उनकी स्थिति का क्षय होने से तथा एकेन्द्रिय मे जाकर उनकी उद्वलना करने वाले जीव के भी सत्ता नही रहने से वैक्रिय एकादश की सत्ता अध्रुव मानी है।

सम्यक्त्व के होते हुए भी तीर्थंकर नामकर्म किसी को होता है और किसी को नही होता है तथा स्थावरों के देवायु और नरकायु का, अहमिन्द्रो (नव ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर के देव) के तिर्यंचायु का, तेजस्काय व वायुकाय और सप्तम नरक के नारकों के मनुष्यायु का सर्वथा बंध न होने के कारण उनकी सत्ता नही रहती है। इसीलिए इन प्रकृतियों की गणना अध्रुव सत्ता वाली प्रकृतियो मे की जाती है।

आहारकसप्तक की सत्ता संयम के होने पर भी किसी के होती है और किसी के नही होती है। सभी संयमधारियो को आहारक शरीर होना ही चाहिए, ऐसा नियम नही है। उच्च गोत्र भी अनादि निगोदिया जीवों के नही होता है, उद्वलन हो जाने पर तेजस्काय और वायुकाय के जीवों के उच्च गोत्र नही होता है। इसीलिये अट्ठाईस प्रकृतियां अध्रुवसत्ता है।

इस प्रकार से सत्ता प्रकृतियों के १५८ भेदों में से कितनी कौन-कौन सी प्रकृतिया ध्रुवसत्ता और अध्रुवसत्ता है, इस कथन करने के वाद अव आगे की तीन गाथाओं में कुछ प्रकृतियों गुणस्थानों की अपेक्षा ध्रुवसत्ता और अध्रुवसत्ता का निरू करते है।

पढमतिगुणेसु मिच्छं नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं।
सासाणे खलु सम्म संतं मिच्छाइदसगे वा ॥१०॥
सासणमीसेसु धुव मीस मिच्छाइनवसु भयणाए।
आइदुगे अण नियमा भइया मीसाइनवगम्मि ॥११॥
आहारसत्तगं वा सव्वगुणे वितिगुणे विणा तित्थं।
नोभयसंते मिच्छो अंतमुहुत्तं भवे तित्थे ॥१२॥

शब्दार्थ—**पढमतिगुणेसु**—पहले तीन गुणस्थानो मे, **मिच्छं**—मिथ्यात्व, **नियमा**—निश्चित रूप से, **अजयाइ**—अविरति आदि, **अट्ठगे**—आठ गुणस्थानो मे, **भज्जं**—भजना से (विकल्प से), **सासाणे**—सासादन गुणस्थान मे, **खलु**—निश्चय से, **सम्मं** सम्यक्त्व मोहनीय, **संतं** – विद्यमान होती है, **मिच्छाइदसगे**—मिथ्यात्व आदि दस गुणस्थानो मे, **वा**—विकल्प से।

सासणमीसेसु—सासादन और मिश्र गुणस्थान मे, **धुव**—नित्य, **मीसं**—मिश्र मोहनीय, **मिच्छाइनवसु**—मिथ्यात्व आदि नौ गुणस्थानो मे, **भयणाए**—विकल्प से, **आइदुगे**—आदि के दो गुणस्थानो मे, **अण**—अनतानुवधी, **नियमा**—निश्चय से, **भइया**—विकल्प से, **मीसाइनवगम्मि**—मिश्रादि नौ गुणस्थानो मे।

आहारसत्तगं—आहारक सप्तक, **सव्वगुणे**—सभी गुणस्थानो में, **वा**—विकल्प मे, **वितिगुणे**—दूसरे तीसरे गुणस्थान मे, **विणा**—विना, **तित्यं**—तीर्थंकर नामकर्म, **न**—नही होता है, **उभयसंते**—

दोनो की सत्ता, मिच्छो—मिथ्यात्वी, अंतमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त, भवे—होती है, तित्थे—तीर्थंकर नामकर्म के होने पर भी।

गाथार्थ—पहले तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व मोहनीय की सत्ता अवश्य होती है और अविरति आदि आठ गुणस्थानों में भजनीय है, सासादन गुणस्थान मे सम्यक्त्व मोहनीय की सत्ता निश्चित रूप से होती है और मिथ्यात्व आदि दस गुण-स्थानों मे विकल्प से होती है।

सासादन और मिश्र गुणस्थान में मिश्र प्रकृति की सत्ता निश्चित रूप से रहती है। मिथ्यात्व आदि नौ गुणस्थानो में विकल्प से है। पहले दो गुणस्थानों मे अनन्तानुबंधी कषाय की सत्ता अवश्य होती है और मिश्र आदि नौ गुणस्थानो मे भजनीय है।

आहारक सप्तक सभी गुणस्थानों मे विकल्प से है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान के सिवाय शेष गुणस्थानों में तीर्थंकर नामकर्म विकल्प से होता है और दोनों (आहारक सप्तक व तीर्थंकर नामकर्म) की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नही आता है। यदि तीर्थंकर नामकर्म की सत्तावाला कोई जीव मिथ्यात्व में आता है तो सिर्फ अन्त-र्मुहूर्त तक के लिये आता है।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओ द्वारा गुणस्थानों में कुछ प्रकृतियों की सत्ता विषयक स्थिति का स्पष्टीकरण किया गया है कि कौन-सी प्रकृति किस गुणस्थान तक निश्चित व विकल्प होती है।

मिथ्यात्व व सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता का नियम

मिथ्यात्व प्रकृति की सत्ता के बारे में बतलाया है कि 'पढमतिगुणेसु मिच्छं नियमा' पहले तीन गुणस्थानो में मिथ्यात्व

प्रकृति की सत्ता अवश्य होती है। साथ ही यह भी कहा है 'सासाणे खलु सम्मं संतं' सासादन गुणस्थान में सम्यक्त्व मोह प्रकृति निश्चित रूप से है। यानी मिथ्यात्व मोहनीय और सम्य मोहनीय के निश्चित अस्तित्व का कथन किया गया है।

इस प्रकार से मिथ्यात्व मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय गुणस्थानों मे निश्चित सत्ता बतलाने के साथ-साथ इन दोनो प्रकृ की विकल्पसत्ता वाले गुणस्थानों का संकेत क्रमशः 'अजयाइअ भज्जं' व 'मिच्छाइदसगे वा' पदों से किया है कि मिथ्यात्व प्रकृति सत्ता चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि आदि आठ गुणस्थानो में भजनी तथा सम्यक्त्व प्रकृति सासादन के सिवाय पहले मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में विकल्प से होती है। इसके कारण को स्पष्ट करते है

पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान मे मिथ्यात्व प्रकृति की इसलिये मानी जाती है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में तो मिथ्यात्व सत्ता रहती ही है। उपशम सम्यक्त्व के काल में कम से कम एक सम और अधिक से अधिक छह आवलिका काल शेष रहने पर कोई-क जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त करते है,[1] उस समय उन जीवो मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता अवश्य रहती है। इसीलि दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व की सत्ता वतलाने के साथ सम्यक्त्व भी सत्ता बतलाई है।

---

१. उवसमसम्मत्ताओ चयओ मिच्छ अपान्नमाणस्स ।
सासायणसम्मत्त तयतरालम्मि छावलिय ॥
—विशे० भाष्य ५३

उपशम सम्यक्त्व के काल मे अधिक से अधिक ६ आवलिका शेप रहने प अनतानुबंधी कषाय के उदय से उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर जव त जीव मिथ्यात्व मे नही आता तव तक वह उस समयावधि के लिये सासाद सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

जब कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम बार सम्यक्त्व प्राप्त करने के अभिमुख होता है तब करणलब्धि के बल से प्रथमोपशम सम्यक्त्व के समय मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों के तीन रूप हो जाते हैं—शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध दलिक सम्यक्त्व, अर्धशुद्ध मिश्र और अशुद्ध मिथ्यात्व मोहनीय कहलाते है। उपशम सम्यक्त्व के अंत में उक्त तीन पुजो मे से यदि मिथ्यात्व मोहनीय का उदय हो जाता है तो पहला गुणस्थान, यदि मिश्र (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व) मोहनीय का उदय होता है तो तीसरा मिश्र गुणस्थान हो जाता है। इस प्रकार पहले और तीसरे गुणस्थान मे मिथ्यात्व की सत्ता रहती है। इसीलिये पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान मे मिथ्यात्व की सत्ता मानी गई है।

पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान के सिवाय चौथे अविरति आदि आठ गुणस्थानो मे मिथ्यात्व की सत्ता होने और न होने का कारण यह है कि यदि उन गुणस्थानों में मिथ्यात्व का क्षय कर दिया जाता है यानी क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है तो मिथ्यात्व की सत्ता नही रहती है और यदि मिथ्यात्व का उपशम किया जाता है तो मिथ्यात्व की सत्ता अवश्य रहती है। मिथ्यात्व की सत्ता रहने के कारण ही उपशम श्रेणि वाला ग्यारहवे गुणस्थान से पतित होता है।

दूसरे सासादन गुणस्थान के सिवाय मिथ्यात्व आदि दस गुणस्थानों मे सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता विकल्प से मानने यानी होती भी है और नही भी होती है, का कारण यह है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के जिसने कभी भी मिथ्यात्व के शुद्ध, अर्धशुद्ध, अशुद्ध यह तीन पुंज नही किये तथा जिस सादि मिथ्यादृष्टि जीव ने सम्यक्त्व (शुद्ध पुज) की उद्वलना कर दी है, उसके सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता नही होती है, शेष मिथ्यादृष्टि जीवों के उसकी सत्ता होती है। इसी तरह मिथ्यात्व गुणस्थान में सम्यक्त्व की उद्वलना करके

मिश्र गुणस्थान में आने वाले जीव के सम्यक्त्व की सत्ता नही र
है, शेष जीवो के रहती है।

चौथे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक क्षायिक स
ग्दृष्टि के सम्यक्त्व मोहनोय प्रकृति को सत्ता नही होती है कि
क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दृष्टि को उसकी सत्ता अव
रहती है।

इस प्रकार मोहनीय कर्म की प्रकृति मिथ्यात्व और सम्यक्त्व
सत्ता का विचार आदि के ग्यारह गुणस्थानों में किया गया। अन्त
तीन गुणस्थानों में मोहनीय कर्म का क्षय हो जाता है अतः इ
सत्ता नही रहती है। अब आगे मिश्र मोहनीय और अनन्तानु
कषाय की सत्ता का विचार करते है।

मिश्र मोहनीय और अनन्तानुबंधी की सत्ता का नियम

मिश्र मोहनीय की निश्चित रूप से किस गुणस्थान में सत्ता ह
है, इसके लिये कहा है—'सासणमीसेसु धुवं मीसं—सासादन और मि
गुणस्थान में मिश्र (सम्यगुमिथ्यात्व) मोहनीय की सत्ता नियम
होती है। इसका कारण यह है कि 'प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्रा
के समय जो मिथ्यात्व के तीन पुज हो जाते है और उस सम्यक्त्व
काल में जब कम से कम एक समय और अधिक से अधिक
आवलिका काल शेप रह जाता है तब सासादन गुणस्थान की प्रा
होती है। उस समय उस जीव के परिणाम निश्चित रूप से न
सम्यक्त्व रूप होते है और न मिथ्यात्व रूप किंतु सम्यक्त्वांश भी हो
है और मिथ्यात्वाश भी। इसीलिये मिश्र प्रकृति की सत्ता रहती है
इसीलिये दूसरे गुणस्थान में मिश्र प्रकृति की सत्ता मानने का विध
किया है।

तीसरा मिश्र गुणस्थान मिश्र मोहनीय के उदय के बिना हो
ी है। इसीलिये तीसरे गुणस्थान में मिश्र प्रकृति की ध्रुवसत्ता का

और विकल्प से पाये जाने वाले गुणस्थानों के बारे में कहा है कि
नच्छाइनवसु भयणाए' यानी दूसरे और तीसरे गुणस्थान के सिवाय
पहले मिथ्यात्व, चौथे, पाचवे, छठे, सातवे, आठवे, नौवे, दसवे, ग्यारहवें,
न नौ गुणस्थानो मे अध्रुवसत्ता है। क्योंकि जिस मिथ्यादृष्टि जीव
मिश्र प्रकृति की उद्वलना की है, उसके व अनादि मिथ्यात्वी के
मिश्र प्रकृति की सत्ता नही है। चौथे आदि आठ गुणस्थानों में क्षायिक
सम्यग्दृष्टि के मिश्र प्रकृति की सत्ता नही होती है, शेष जीवो के इसकी
सत्ता होती है।

मिश्र मोहनीय प्रकृति की सत्ता का कथन करने के पश्चात अव
अनन्तानुबंधी की सत्ता के वारे में वतलाते है।

अनन्तानुबंधी के निश्चित गुणस्थानों के वारे मे कहा है—'आइदुगे
ाण नियमा' आदि के दो—पहले, दूसरे गुणस्थानों में अनन्तानुबंधी की
ध्रुवसत्ता है। क्योकि दूसरे गुणस्थान तक अनन्तानुबंधी का बंध होता
है, इसीलिये उसकी सत्ता अवश्य रहेगी। शेष तीसरे आदि नौ गुण-
स्थानो मे उसकी सत्ता अध्रुव है—'भइया मीसाइनवगम्मि।' क्योंकि
अनन्तानुबंधी कषाय का विसंयोजन करने वाले के अनन्तानुबंधी की
सत्ता नही होती है।

अनंतानुबंधी की अध्रुवसत्ता के विषय मे ऊपर कार्म-
ग्रन्थिक मत का उल्लेख किया गया है कि तीसरे आदि नौ गुण-
स्थानो मे विकल्प से सत्ता है। लेकिन कर्मप्रकृति[1] और पंच-

---

1 संजोयणा उ नियमा दुसु पचसु होइ भइयव्व।

—कर्मप्रकृति (सत्ताधिकार)

दो गुणस्थानो मे अनन्तानुवधी नियम से होती है और पाँच गुणस्थानो
मे भजनीय है।

संग्रह[1] में तीसरे से लेकर सातवे तक पॉच गुणस्थानों मे सत्ता मानी

कर्मग्रन्थ मे ग्यारहवे गुणस्थान तक और कर्मप्रकृति व पंचसंग्र सातवे गुणस्थान तक अनंतानुबंधी कषाय की सत्ता मानने के अ का कारण यह है कि कर्मप्रकृति व पंचसंग्रहकार उपशमश्रेणि अनंतानुबंधी का सत्व नही मानते है और कर्मग्रन्थकार उसका स्वीकार करते है। कर्मप्रकृतिकार के मंतव्य का साराश यह है चारित्र मोहनीय के उपशम का प्रयास करने वाला अनंतानुबंधी अवश्य विसंयोजन करता है।

आहारक सप्तक और तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता का नियम

आहारक सप्तक की गुणस्थानों में सत्ता वतलाने के लिये कहा आहारसत्तगं वा सव्वगुणे। यानी आहारक सप्तक की विकल्प से सभी गुणस्थानों में है। ऐसा कोई गुणस्थान नही कि वारे में आहारक सप्तक की सत्ता नियम से होने का कथन किया सके अर्थात् सभी गुणस्थानों मे इसकी अध्रुव सत्ता है।

इसका कारण यह है कि आहारक शरीर नामकर्म प्रशस्त प्र है और इसका वंध किसी-किसी विशुद्ध चारित्रधारक अप्रमत्त सं को होता है।[2] जब कोई अप्रमत्त संयमी आहारक शरीर का

---

१ सासायणत नियमा पचसु भज्जा अओ पढमा। —पंचसग्रह
गो० कर्मकाड गाथा ३९१ मे उक्त मतभेद का 'णत्थि अण उवसमगे द्वारा उल्लेख किया है तथा दोनो मतो को स्थान दिया है।

२ (क) शुभ विशुद्धमव्याघाति चाहारक चतुर्दशपूर्वधरस्यैव।
—तत्त्वार्थसूत्र २

(ख) आहारक शरीर और तीर्थंकर प्रकृति के वध के कारण का पचसग्रह मे किया है —
तित्थयराहाराण वधे सम्मत्तसजमा हेऊ। —पंचसंग्रह
तीर्थंकर प्रकृति क वन्ध मे सम्यक्त्व और आहारक के वध मे संयम कारण

शुद्ध परिणामों के कारण ऊपर के गुणस्थानो मे जाता है तब
। अशुद्ध परिणामों के कारण ऊपर के गुणस्थानों से नीचे के गुण-
ो मे आता है तब उसके आहारक सप्तक की सत्ता बनी रहती
लेकिन जो अप्रमत्त संयमी मुनि आहारक सप्तक का बंध
बिना ही ऊपर के गुणस्थानो में जाता है अथवा नीचे के
थानों मे आता है, उसके उन गुणस्थानों मे आहारक सप्तक
सत्ता नही पायी जाती है । इसी विभिन्नता के कारण
ारक सप्तक की सत्ता सभी गुणस्थानों में विकल्प से मानी
है ।

आहारक सप्तक के समान ही तीर्थंकर नामकर्म भी प्रशस्त
ति है । क्योंकि उसका बंध सम्यक्त्व के सद्भाव में होता है और
भी चौथे गुणस्थान से लेकर आठवे गुणस्थान के छठे भाग तक
सी-किसी विशुद्ध सम्यग्दृष्टि को होता है। लेकिन गुणस्थानों
इसकी सत्ता के सम्बन्ध में गाथा मे संकेत किया है कि 'बितिगुणे
णा तित्थं'—दूसरे और तीसरे गुणस्थान के सिवाय शेष गुणस्थानों
सत्ता विकल्प से होती है । इसका कारण यह है कि किसी जीव के
थे से लेकर आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक में तीर्थंकर प्रकृति का
। होने पर जब वह शुद्ध परिणामो के कारण ऊपर के गुणस्थानों
जाता है तो उनमे तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता पाई जाती है । लेकिन
ह जीव जिसने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया है, अशुद्ध परिणामों के
ारण ऊपर से नीचे के गुणस्थानों मे भी आता है तो मिथ्यात्व गुण-
थान में भी आता है, लेकिन दूसरे और तीसरे गुणस्थान में नही ही
ाता है, इसीलिये दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़कर शेष बारह
ुणस्थानों मे तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता रह सकती है । किन्तु
ीव विशुद्ध सम्यक्त्व के होने पर भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध

करता है तो उसके सभी गुणस्थानों मे तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता
पाई जाती है।

उक्त कथन का फलितार्थ यह है कि दूसरे और तीसरे गुण
में तो तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता नही पाई जाती है और शेष गुण
में उसका बंध करने वालों के संभव है लेकिन जिसने बंध ही नही
उसके सत्ता होती ही नही। इसीलिये तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता
मानी है।

नीचे में मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति के वंधक को
का कारण यह है कि किसी जीव ने पूर्व में नरकायु वाधी हो
उसके बाद क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर तथाविध अ
सायों के फलस्वरूप तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया हो त
समय में सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप
नरक मे जन्म लेता है। इसी कारण तीर्थंकर प्रकृति के वंध
मिथ्यात्व गुणस्थान की प्राप्ति का कथन किया जाता है।

तीर्थंकर प्रकृति वाले को मिथ्यात्व गुणस्थान की प्राप्ति हो
भी वह अन्तर्मुहूर्त समय तक ही वहाँ ठहरता है—अंतमुहुत्त
तित्थे। इसका कारण यह है कि पहले जिस जीव ने नरकायु व
किया हो और वाद में वेदक सम्यग्दृष्टि होकर तीर्थंकर प्रकृ
वंध कर ले तो वह जीव मरण काल आने पर सम्यक्त्व से च्युत
मिथ्यादृष्टि हो जाता है और मिथ्यात्व दशा मे नरक में
लेकर अन्तर्मुहूर्त के वाद सम्यग्दृष्टि हो जाता है। यह कथन
चित तीर्थंकर नामकर्म की अपेक्षा से है। क्योंकि निकाचित त
नामकर्म की सत्ता वाला अन्तर्मुहूर्त से अधिक मिथ्यात्व गुणस्थ
नहीं ठहरता है और पर्याप्त होकर तुरन्त सम्यक्त्व को प्राप
लेता है।

इस प्रकार सिर्फ आहारक सप्तक अथवा सिर्फ तीर्थंकर प्रकृति की ...ा वाला पहले मिथ्यात्व गुणस्थान को भी प्राप्त कर सकता है। ...कन जिसके आहारक सप्तक और तीर्थंकर प्रकृति, दोनो का अस्तित्व ... उसके मिथ्यात्व गुणस्थान की प्राप्ति नही होने को स्पष्ट करते हैं ... 'नोभयसंते मिच्छे' उभय की सत्ता वाला जीव मिथ्यादृष्टि ...ी होता है। अर्थात् जिस जीव के आहारक व तीर्थंकर दोनों प्रकृति ... सत्ता है, उसका पतन नही होने से मिथ्यात्व गुणस्थान मे नही ...ता है।

इस प्रकार ध्रुवसत्ताक और अध्रुवसत्ताक प्रकृतियों का निरूपण ...रने के साथ मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व मोहनीय, अनन्तानुवंधी ...तुष्क तथा तीर्थंकर व आहारक सप्तक इन पन्द्रह प्रकृतियों की ...णस्थानो में सत्ता का विचार किया गया। इनमे से आदि की सात ...प्रशस्त और शेष आठ प्रशस्त प्रकृतियो मे प्रधान है।

मिथ्यात्व आदि उक्त पन्द्रह प्रकृतियो की गुणस्थानों मे सत्ता का ...थन विशेष कारण से किया गया है। क्योंकि मिथ्यात्व, मिश्र, ...म्यक्त्व मोहनीय, अनन्तानुबंधी चतुष्क इन सात प्रकृतियों का जीव ... उत्थान-पतन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक इन प्रकृतियों की ...त्ता रहती है तब तक जीव अपने लक्ष्य—मोक्ष के कारण सम्यक्त्व की ...ाप्ति नही कर सकता है। इनके सद्भाव में जीव यथार्थ लक्ष्य को ...ही समझकर संसार में परिभ्रमण करता रहता है। लेकिन जब इन ...कृतियों को निष्क्रिय, निस्सत्व वना डालता है तो संसार के बंधनों को ...ोड़कर अनन्त काल के लिये आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है।

जैसे मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियाँ अप्रशस्त प्रकृतियों में मुख्य है ...ैसे ही आहारक सप्तक और तीर्थंकर नामकर्म ये आठ प्रकृतियाँ ...शस्त प्रकृतियों मे प्रधान है। क्योंकि आहारक सप्तक का वंध विरले ...ही तपस्वियों को होता है और तीर्थंकर प्रकृति तो उनकी अपेक्षा भी

किसी-किसी को बंधती है। इसीलिये अप्रशस्त और प्रशस्त प्रकृति प्रधान प्रकृतियों के गुणस्थानों का विवेचन किया है। अब आगे और अघाति प्रकृतियों की संख्या बतलाते हैं।

घाति-अघाति प्रकृतियाँ

केवलजुयलावरणा पणनिद्दा बारसाइमकसाया।
मिच्छं ति सव्वघाइ, चउणाणतिदंसणावरणा ॥१३॥
संजलण नोकसाया विग्घ इय देसघाइय अघाई।
पत्तेयतणुट्ठाऊ तसवीसा गोयदुग वन्ना ॥१४॥

शब्दार्थ— **केवलजुयल**—केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन, **आवरणा**—आवरण, **पण**—पांच, **निद्दा**—निद्रायें, **बारस**—बारह, **आइमकसाया**—आदि की कषाये, **मिच्छं**—मिथ्यात्व, **ति**—इस प्रकार, **सव्वघाइ**—सर्वघाति, **चउ**—चार, **णाण**—ज्ञान, **तिदंसण**—तीन दर्शन, **आवरणा**—आवरण।

संजलण—सञ्ज्वलन, **नोकसाया**—नो कषायें, **विग्घ**—पांच अंतराय, **इय**—ये, **देसघाइ** देशघाति **य**—और, **अघाइ**—अघाति **पत्तेयतणुट्ठ**—प्रत्येक आदि आठ व शरीर आदि आठ प्रकृतियां, **आऊ**—आयु, **तसवीसा**—त्रसवीशक, **गोयदुग**—गोत्रद्विक, वेदनीयद्विक, **वन्ना**—वर्णचतुष्क।

गाथार्थ केवलद्विक आवरण, पांच निद्रायें, आदि की बारह कषाय और मिथ्यात्व ये सर्वघाति प्रकृतिया है। चार ज्ञानावरण, तीन दर्शनावरण तथा—

संज्वलन कषाय चतुष्क, नौ नो कषायें और पांच अंतराय ये देशघाती प्रकृतियां जानना चाहिये। आठ प्रत्येक

प्रकृतिया, शरीरादि अष्टक, चार आयु, त्रसवीशक, गोत्रद्विक, वेदनीयद्विक और वर्णचतुष्क ये प्रकृतियाँ अघातिनी है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में कर्म प्रकृतियों का घाति और घाति की अपेक्षा वर्गीकरण किया गया है कि घाति प्रकृतियों की ख्या कितनी है और वे कौन-कौन है और अघाति प्रकृतियों की ख्या कितनी और उनमे कौन-कौन-सी प्रकृतियो को ग्रहण किया या है।

यद्यपि सामान्य तौर पर तो सभी कर्म संसार के कारण है और व तक कर्म का लेशमात्र है तव तक आत्मा स्व-स्वरूप में अवस्थित ही कहलाती है। आत्मविकास की पूर्णता में कुछ न्यूनता वनी रहती । लेकिन उनमे से कुछ कर्म ऐसे होते है जो आत्मगुणो की अभि-यक्ति को रोकते है और कुछ ऐसे होते है जो अभिव्यक्ति में व्यवधान ही डालकर संसार मे बनाये रखते है। इसी दृष्टि से कर्मों के घाति ौर अघाति यह दो प्रकार माने जाते है। ज्ञानावरण आदि आठ मूल र्मों मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार घाती ौर वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र ये चार अघाती है। घातिकर्म की त्तरप्रकृतिया घातिनी और अघातिकर्म की उत्तर प्रकृतिया अघातिनी कहलाती है।

जो प्रकृतियां आत्मा के मूलगुणों का घात करती है, वे घातिनी कहलाती है और जो उनका घात करने में असमर्थ है, वे अघातिनी है। घाति प्रकृतियों में भी दो प्रकार है—सर्वघातिनी, देशघातिनी। जो सर्वघातिनी है वे आत्मा के गुणों को पूरी तरह घातती है अर्थात् जिनके रहने पर यथार्थ रूप में आत्मिक गुण प्रकट नही हो पाते हैं और देशघातिनी प्रकृतियां यद्यपि आत्मगुणों की घातक अवश्य लेकिन उनके अस्तित्व में भी अल्पाधिक रूप मे आत्मगुणों का प्र

होता रहता है। गाथाओं मे घाती और अघाती के रूप मे कि
के नाम वतलाने के साथ-साथ विशेप रूप से घाति कर्म प्रकृतियो
देशघाती और सर्वघाती यह दो उपभेद और वतलाये है। जिससे
बाते स्पष्ट हो जाती है कि समस्त घाती कर्म प्रकृतियां कितनी
कौन-कौन सी है तथा उनमें से अमुक प्रकृतिया सर्वघातिनी
अमुक प्रकृतिया देशघातिनी है। उनके नाम इस प्रकार है—

'केवलजुयलावरणा पणनिद्दा बारसाइमकसाया मिच्छं सव्वघाई' इस गाथांश में सर्वघातिनी प्रकृतियो के नाम व संख्या निर्देश किया गया है कि—

(१) **ज्ञानावरण**—केवलज्ञानावरण।

(२) **दर्शनावरण**—केवलदर्शनावरण, पाच निद्रायें—निद्रा, नि निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि।

(३) **मोहनीय**—अनंतानुवन्धी क्रोध, मान, माया, ल अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व।[1]

कुल मिलाकर ये २० है। इनमें ज्ञानावरण की १, दर्शनावरण क और मोहनीय की १३ प्रकृतियो का ग्रहण किया गया है जो जी मूल गुणों को सर्वांश में घात करने से सर्वघातिनी कहलाती जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—केवलज्ञानावरण आत्मा के के ज्ञान गुण को आवृत करता है। जव तक केवलज्ञानावरण दूर न तव तक केवलज्ञान उत्पन्न नही होता है। इसीलिये केवलज्ञाना को सर्वघाती कहा जाता है। लेकिन यह ध्यान मे रखना चाहिये

---

१. केवलिय नाणदसण आवरण वारसाइमकसाया।
मिच्छत्त निद्दाओ इय वीस सव्ववाईओ॥

— पचसंग्रह ३

मेघपटल के द्वारा सूर्य के पूरी तरह आच्छादित होने पर भी की प्रभा का उतना अंश अनावृत रहता है जिससे दिन-रात्रि का र ज्ञात हो, वैसे ही सव जीवों के केवलज्ञान का अनन्तवा भाग आवृत ही रहता है। क्योकि यदि केवलज्ञानावरण उस अनंतवें ग को भी आवृत कर ले तो जीव और अजीव मे कोई अंतर ही ो रह सकेगा। इसका फलितार्थ यह हुआ कि केवलज्ञानावरण के ने तक केवलज्ञान उत्पन्न नही होता है, लेकिन उसके सद्‌भाव में ज्ञान का अनंतवां भाग अनावृत रहता है। जिसको आच्छादित रने की शक्ति केवलज्ञानावरण तक में भी नही है। ज्ञान के अनंतवें ग के अतिरिक्त केवलज्ञान का सर्वात्मना आवरक होने से केवल-नावरण को सर्वघाती कहा जाता है।

केवलदर्शनावरण केवलदर्शन को पूरी तरह आवृत करता है। फिर । उसका अनन्तवा भाग अनावृत ही रहता है। केवलज्ञान और केवल-र्शन सहभावी है, अत. आत्मा के दर्शनगुण के अनंतवे भाग के अना-त रहने के कारण को केवलज्ञानावरण की तरह समझ लेना ाहिए।

निद्रा-पंचक भी जीव को वस्तुओं के सामान्य प्रतिभास को नही ोने देती है। इन्द्रियो के अववोध मे रुकावट डालती है। इसीलिये नको सर्वघातिनी प्रकृतियो मे ग्रहण किया है। बारह कषायों मे से अनन्तानुवन्धी कषाय जीव के सम्यक् ज्ञान प्राप्ति के मूल कारण म्यक्त्व का ही घात करती है और विना सम्यक्त्व के जीव को सिद्धि प्राप्त होना असंभव है। अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्याना-वरण कषायें जीव के स्वरूपलाभ के हेतु चारित्र गुण का घात करती है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशचारित्र का और प्रत्याख्याना-वरण कषाय सर्वविरति चारित्र का घात करती है। मिथ्यात्व के

पर सम्यक्त्व की उत्पत्ति असंभव ही है, वह सम्यक्त्व गुण का स
त्माना घात करती है, इसीलिये उसे सर्वघाती में ग्रहण किया है।

सर्वघातिनी प्रकृतियों का कथन करने के बाद अब देशघा
प्रकृतियों के नाम बतलाते है—'चउणाणतिदंसणावरणा संजलण
कसाया विग्घं इय देसघाइयं'—चार ज्ञानावरण, तीन दर्शनाव
संज्वलन कषाय चतुष्क, नौ नो कषाय और पांच अन्तराय कर्म
देशघाति प्रकृतियां है। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार है—

(१) **ज्ञानावरण**—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय ज्ञानावरण।

(२) **दर्शनावरण**—चक्षु, अचक्षु, अवधि दर्शनावरण।

(३) **मोहनीय**—संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य,
अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेद।

(४) **अंतराय**—दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अन्तराय।[1]

इनमें ज्ञानावरण की ४, दर्शनावरण की ३, मोहनीय
१३ और अन्तरायकर्म की ५ प्रकृतिया है। जो कुल मिल
२५ होती है। ये प्रकृतियां आत्मा के गुणो का एकदेश घात
से देशघातिनी कहलाती है। इनको देशघाती मानने के कार
स्पष्ट करते है कि मतिज्ञानावरण आदि चारों ज्ञानावरण के
ज्ञानावरण द्वारा आच्छादित नही हुए ऐसे ज्ञानांश का आवरण
है। यदि कोई छद्मस्थ जीव मत्यादि ज्ञानचतुष्क के विषयभूत
को न जाने तो वही मतिज्ञानादि के आवरण का उदय सम
चाहिए। किन्तु मति आदि चारो ज्ञान के अविषयभूत (केवलज्ञा

---

१. नाणावरणचउक्क दसणतिग नोकसाय विग्घपण।
सजलण देसघाइ, तइयविगप्पो इमो अन्नो॥
—पंचसग्रह ३

षयभूत) अनन्त गुणो को जानने में जो उसकी असमर्थता है, उसे लज्ञानावरण का उदय समझना चाहिये।

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण भी केवल-र्शनावरण से अनावृत केवलदर्शन के एकदेश को घातते है। नके उदय मे जीव चक्षुदर्शन आदि के विषयभूत विपयों को पूरी रह नही देख सकता है, किन्तु उनके अविषयभूत अनंतगुणों को केवल-र्शनावरण के उदय होने के कारण ही देखने मे असमर्थ होता है।

संज्वलन कषाय चतुष्क और हास्यादि नौ नो कषाये चारित्र गुण । सर्वात्मना घात करने मे तो सक्षम नही है किन्तु मूल गुणो और त्तर गुणों मे अतिचार लगाती है। इसीलिये इनको देशघातिनी माना । जबकि अन्य कषायो का उदय अनाचार का जनक है।[1]

अन्तराय कर्म की दानान्तराय आदि पाचों प्रकृतिया देशघातिनी सलिये मानी जाती है कि दान, लाभ, भोग और उपभोग के योग्य ो पुद्गल है वे समस्त पुद्गल द्रव्य के अनंतवे भाग है। यानी सभी द्गल द्रव्य इस योग्य नही है कि उनका लेन-देन आदि किया जा सके, ान-देन और भोगने में आने योग्य पुद्गल बहुत थोडे है। साथ ही यह ी जानना चाहिये कि भोग्य पुद्गलो मे भी एक जीव सभी पुद्गलो का ान, लाभ, भोग, उपभोग नही कर सकता है। सभी जीव अपने पने योग्य पुद्गल अंश का ग्रहण करते रहते है। अत दानान्तराय, ाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय देशघाती है। वीर्यान्तराय

सव्वेवि य अइयारा सजलणाण तु उदयओ होति।
मूलच्छेज्ज पुण होइ वारसण्ह कसायाण।

—पंचाशक ८४

संज्वलन कषाय के उदय से समस्त अतिचार होते है, किन्तु शेप बारह कषाय के उदय से व्रत के मूल का ही छेदन हो जाता है।

को भी देशघाती मानने का कारण यह है कि वीर्यान्तराय का ज
होते हुए भी सूक्ष्म निगोदिया जीव के इतना क्षयोपशम अवश्य र
है जिससे आहार परिणमन, कर्म-नोकर्म वर्गणाओ का ग्रहण, गत्य
गमन रूप वीर्यलब्धि होती है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम
तरतमता के कारण ही सूक्ष्म निगोदिया से लेकर बारहवे गुणस
तक के जीवों के वीर्य (शक्ति, सामर्थ्य) की हीनाधिकता पाई जाती
यह सब केवली के वीर्य का एकदेश है। यदि वीर्यान्तराय
सर्वघाती होता तो जीव के समस्त वीर्य को आवृत करके उसे ज
निश्चेष्ट कर देता। इसीलिये वीर्यान्तराय कर्म देशघाती है।

यहाँ सर्वघाती की २० और देशघाती की २५ प्रकृतियाँ बतल
जो कुल मिलाकर ४५ है, सो बंध की अपेक्षा से समझना चाहिये।
उदय की अपेक्षा विचार करते है तो सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय
मिलाने पर ४७ प्रकृतियां होती है। इन दोनों में सम्यक्त्व मोहनीय
देशघाती में और मिश्र मोहनीय का सर्वघाती प्रकृतियों में समा
होता है।[1] तब सर्वघाती २१ और देशघाती २६ प्रकृतियां है।

---

१ गो० कर्मकाड मे वध व उदय की अपेक्षा सर्वघाती और देशघाती प्रकृति
को गिनाया है—

केवलणाणावरण दसणछक्क कसायवारसय।
मिच्छ च सव्वघादी सम्मामिच्छ अबधम्हि ॥३९॥

केवलज्ञानावरण, छह दर्शनावरण (केवलदर्शनावरण, पाचनिद्रा
वारह कपाय (अनन्तानुवंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रो
मान, माया, लोभ) मिथ्यात्व मोहनीय ये २० प्रकृतिया सर्वघाती हैं
सम्यगमिथ्यात्व प्रकृति भी उदय व सत्ता अवस्था मे सर्वघाती है। पर
यह सर्वघाती जुदी ही जाति की है।

णाणावरणचउक्क तिदसण सम्मगं च संजलण।
णव णोकसाय विग्घ छव्वीसा देसघादीओ ॥४०॥

ज्ञानावरण चतुष्क, दर्शनावरणत्रिक, सम्यक्त्व, सज्वलन क्रोधादि चार, न
नो कपाय, पाच अतराय ये छव्वीस भेद देशघाती है।

घाती और देशघाती प्रकृतियों का विशेष स्पष्टीकरण

सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और चारित्र का सर्वथा घात करने वाली से केवलज्ञानावरण आदि वीस प्रकृतिया सर्वघाती और शेप वीस प्रकृतिया ज्ञानादि गुणों का देशघात करने वाली होने से देश-ी है ।[1]

केवलज्ञानावरण आदि वीस प्रकृतिया अपने द्वारा ज्ञान, दर्शन, यक्त्व और चारित्र गुण का सर्वथा घात करती है। मिथ्यात्व और न्तानुबंधी कषाय चतुष्क सम्यक्त्व का सर्वथा घात करती है। ोकि उनके उदय होने से कोई भी सम्यक्त्व प्राप्त नही होता है। लज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण अनुक्रम से केवलज्ञान और लदर्शन को पूर्ण रूप से आवृत करते है। निद्रा, निद्रा-निद्रा आदि व निद्राये दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त दर्शनलब्धि को र्था आच्छादित करती है तथा अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्या-वरण कषाय चतुष्क अनुक्रम से देशचारित्र और सकलचारित्र का र्था घात करती है।

इस प्रकार उक्त सभी प्रकृतियां सम्यक्त्व आदि गुणो का सर्वथा ात करने वाली होने से सर्वघाती कहलाती है। उक्त सर्वघाती बीस कृतियों के सिवाय चार घाति कर्मों की मतिज्ञानावरण आदि पच्चीस कृतियां ज्ञानादि गुणो के एकदेश का घात करने वाली होने से देश-ाती है। जिसका स्पष्टीकरण यहा किया जाता है।

केवलज्ञानावरण कर्म ज्ञानस्वरूप आत्मगुण को पूर्ण रूप से आवृत रने की प्रवृत्ति करे तो भी वह जीव के स्वभाव को सर्वथा ढकने में

---

[1] सम्मत्तनाणदमण चरित्तघाइत्तणाउ घाईओ।
तम्सेस देमघाइत्तणाउ पुण देसघाइओ ॥

— पंचसंग्रह ३।१८

समर्थ नही होता है। यदि सर्वथा सम्पूर्ण रूप में ढक ले तो जी
अजीव हो जाये और उससे जड और चेतन के वीच रहने वाले भेद का
अभाव हो जायेगा। यानी जीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा।
जिस प्रकार सघन वादलों के द्वारा सूर्य, चन्द्र का प्रकाश आच्छादित
किये जाने पर भी उनके प्रकाश का सर्वथा अभाव नही हो जाता है।
वे उनके प्रकाश को पूर्णरूप से आच्छादित नही कर पाते है।
सम्पूर्णतया आच्छादित कर ले तो रात्रि दिन के भेद का भी अ
हो जाये। शास्त्रो मे कहा भी है कि गाढ़ मेघ का उदय होने पर
चन्द्र, सूर्य का कुछ प्रकाश होता है, वैसे ही ,केवलज्ञानावरण कर्म
द्वारा पूर्णतया केवलज्ञान के आवृत होने पर भी जो कुछ भी तत्
मंद, तीव्र या अति तीव्र प्रकाश रूप ज्ञान का एकदेश जिसको म
ज्ञानादि कहा जाता है, उस एकदेश को यथायोग्य रीति से म
श्रुत, अवधि और मनपर्याय ज्ञानावरण के द्वारा आच्छादित कि
जाने से वे देशघाती कहलाते है। इसी प्रकार केवलदर्शनावरण के
द्वारा सम्पूर्ण रूप से केवलदर्शन के आच्छादित किये जाने पर
तत्सम्बन्धी मंद, अति मंद या विशिष्ट आदि रूप जो प्रभा जिस
चक्षुदर्शन आदि संज्ञा है, उस प्रभा को यथायोग्य रीति से च
अचक्षु या अवधि दर्शनावरण कर्म ढाक लेते है। अतएव वे भी द
के एकदेश को आवृत करने वाले होने से देशघाती है तथा निद्रा आ
पांच प्रकृतियाँ यद्यपि केवलदर्शनावरण द्वारा अनावृत केवलद
सम्वन्धी प्रभा रूप दर्शन के सिर्फ एकदेश का घात करती है तो
दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली दर्शनलब्धि
सम्पूर्ण रूप से आच्छादन करने वाली होने से सर्वघाती क
जाती है।

संज्वलन कपाय चतुष्क और हास्यादि नौ नो कपायें आदि
वारह कपायों के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई चारित्रलब्धि को देश
च्छादित करने वाली है। क्योंकि वे सिर्फ अतिचार लगाती है।

ये अनाचार स्थिति की जनक है यानी जिनके उदय से सम्यक्त्व
गुणों का विनाश होता है, वे सर्वघाती कहलाती है और जो
ये मात्र अतिचार उत्पन्न करती है वे देशघाती कहलाती है।
लन कषाय के उदय से सिर्फ अतिचार लगते है और आदि की बारह
ायो के उदय से मूल का नाश होता है अर्थात् व्रतों से पतन होता
लेकिन संज्वलन कषायो के रहने से व्रतों में अतिचार तो अवश्य
जाते है, किन्तु व्रतों का समूलोच्छेद नही होने से देशघाती है।
ग्रहण, धारण योग्य जिस वस्तु को जीव दे नही सके, प्राप्त नही
सके अथवा भोगोपभोग नही कर सके आदि यह सब दानान्तराय
दि कर्मों का विषय है और ग्रहण, धारण आदि करने योग्य वस्तुयें
त में विद्यमान सब द्रव्यों के अनन्तवे भाग प्रमाण ही है। इस-
ये तथारूप सर्वद्रव्यों के एकदेश के दानादि का विघात करने
ली होने से—दानान्तराय आदि देशघाती है। ज्ञान के एक देश को
च्छादित करने वाली होने से जैसे मतिज्ञानावरण आदि देशघाती
वैसे ही सर्वद्रव्यो के एकदेशविषयक दानादि का विघात करने वाली
ने से दानान्तराय आदि देशघाती है।

घाती प्रकृतियों की संख्या, नाम आदि बतलाने के बाद अब अघाती
कृतियों का कथन करते है।

घाती प्रकृतियाँ

बंधयोग्य १२० और उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में से क्रमशः ४५
ौर ४७ घाती प्रकृतियों को कम करने पर शेष ७५ प्रकृतियाँ अघाती
। जिनके नामों का संकेत गाथा में इस प्रकार किया है—

अघाइ पत्तेयतणुट्ठाऊ तसवीसा गोयदुग वन्ना—आठ प्रत्येक
प्रकृतियाँ, शरीर आदि आठ पिड प्रकृतियो के भेद तथा त्रसवीशक
और गोत्रद्विक, वेदनीयद्विक, वर्णचतुष्क—ये सब अघाती प्रकृतियाँ
है। ये सभी नाम, गोत्र, वेदनीय और आयुकर्म की उत्तरप्रकृतिया है।
ये अपने अस्तित्व तक जीव को संसार मे टिकाये रखने के

किसी गुण का घात करने वाली नही होने से अघाती कहलाते
इनके नाम क्रमशः इस प्रकार है—

(१) **वेदनीय कर्म**—साता वेदनीय, आसाता वेदनीय।

(२) **आयु कर्म**—नरक, तिर्यच, मनुष्य, देव आयु।

(३) **नाम कर्म**—पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, तीर्थकर, निर्माण, उपघात, पाँच शरीर—औदारिक, वैक्रिय, तैजस, कार्मण, तीन अंगोपांग—औदारिक अंगोपाग, वैक्रिय पाग, आहारक अंगोपांग, छह संस्थान—समचतुरस्र, न्यग्रोध मंडल, स्वाति, वामन, कुब्जक, हुण्डक, छह संहनन—वज्रऋ नाराच, ऋषभनाराच, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त, पाँच जा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, चार गति— तिर्यच, मनुष्य, देव, विहायोगतिद्विक—शुभ विहायोगति, अ विहायोगति, आनुपूर्वी चतुष्क—नरकानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी, म नुपूर्वी, देवानुपूर्वी, त्रसवीशक (त्रस दशक व स्थावर दशक), वर्ण, रस, स्पर्श।

(४) **गोत्र**—उच्च गोत्र, नीच गोत्र।

उक्त प्रकृतियों के नामोल्लेख में वेदनीय की २, आयु की ४, की ६७ और गोत्र कर्म की २ प्रकृतियां है। कुल मिलाकर २+ ६७+२=७५ होती है।

इस प्रकार से घाति और अघाती की अपेक्षा प्रकृतियों का व करण करने के पश्चात् अव पुण्य, पाप (शुभ, अशुभ, प्रशस्त, अप्रश के रूप में उनका विभाजन करते है।

पुण्य-पाप प्रकृतियां—

सुरनरतिगुच्च साय तसदस तणुवंगवइरचउरंसं।
परघासग तिरिआऊं वन्नचउ पणिंदि सुभखगइ ॥१५॥

पाँच संस्थान, दूसरी विहायोगति और पॉच संहनन, तिर्यंचद्विक, असातावेदनीय, नीच गोत्र, उपघात, एकेन्द्रिय विकले-न्द्रियत्रिक, नरकत्रिक तथा—

स्थावर दशक, वर्ण चतुष्क, पैतालीस घाति प्रकृतिया, कुल मिलाकर ये बयासी पाप प्रकृतिया है। वर्ण चतुष्क को पुण्य और पाप प्रकृतियों दोनो में ग्रहण किया है। अतः पुण्य प्रकृतियो में शुभ और पाप प्रकृतियों अशुभ समझना चाहिये।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओ मे पुण्य प्रकृतियो के बया तथा पाप प्रकृतियों के बयासी नाम बतलाये है। पुण्य और प्रकृतियों के रूप मे किया गया यह वर्गीकरण १२० बंध प्रकृतिय है। यद्यपि बयालीस और बयासी का कुल जोड़ १२४ होता है जबकि बंध प्रकृतियां १२० है तो इसका कारण स्पष्ट कर ग्रन्थकार ने कहा है कि 'दोसुवि वन्नाइगहा सुहा असुहा' वर्ण चतु वर्ण, गंध, रस, स्पर्श प्रकृतियां शुभ भी है और अशुभ रूप अतः ये चार प्रकृतिया शुभ रूप पुण्य और अशुभ रूप पाप प्रकृ में ग्रहण की जाती है, इसी कारण पुण्य और पाप प्रकृतिय संख्या क्रमशः ४२ और ८२ बतलाई गई है। यदि वर्ण चतुष्क दोनों वर्गों में न गिने तब पुण्य और पाप प्रकृतियो की संख्या क्र ३८ और ७८ होगी और जब वर्ण चतुष्क प्रकृतियो को किसी एक मे मिलाया जायेगा तब ४२ और ७८ अथवा ३८ और ८२ होगी। स्थिति में कुल जोड़ १२० होगा जो बंध प्रकृतियो का है।

बंध प्रकृतियों के घाती और अघाती के भेद से गणना कर पश्चात पुण्य और पाप के रूप मे भेद गणना करने का कारण य कि जिस प्रकृति का रस—अनुभाग, विपाक आनन्ददायक होता है, पुण्य और जिस प्रकृति का रस दुखदायक होता है वह पाप प्र

से पुण्य प्रकृतियों में शुभ अनुभाग भी वंधता है। लेकिन इसमें
यह है कि शुभ परिणाम से होने वाला अनुभाग प्रकृष्ट होता है
अशुभ अनुभाग निकृष्ट तथा अशुभ परिणाम से वँधने वाला
अनुभाग प्रकृष्ट और शुभ अनुभाग निकृष्ट होता है। कर्म प्र
के पुण्य और पाप रूप भेद करने का यही कारण है।

पुण्य और पाप के रूप में वर्गीकृत प्रकृतियों में घाती
अघाती दोनों प्रकार की कर्म प्रकृतिया है। उनमें से ४५ घाती प्र
तो आत्मा के मूल गुणों को क्षति पहुँचाने के कारण पाप प्र
ही हैं लेकिन अघाती प्रकृतियो मे से भी तेतीस प्रकृतिया पाप
तथा वर्णादि चार प्रकृतियां अच्छी होने पर पुण्य प्रकृतियो में
बुरी होने पर पाप प्रकृतियों में ग्रहण की जाती है। अतः पुण्य
प्रसिद्ध ४२ और पाप रूप से प्रसिद्ध ८२ प्रकृतियां निम्न प्रकार है

४२ पुण्य प्रकृतियाँ—

सुरत्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु), मनुष्यत्रिक (मनु
मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु), उच्च गोत्र, त्रस दशक (त्रस, बादर, प
प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति), औ
आदि पांच शरीर, अंगोपागत्रिक (औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय अंग
आहारक अंगोपांग), वज्रऋषभनाराच संहनन, समचतुरस्र सं
पराघात सप्तक (पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, ती
निर्माण), तिर्यचायु, वर्णचतुष्क, पंचेन्द्रिय जाति, शुभविहाय
साता वेदनीय।

८२ पाप प्रकृतियां—

४५ घाती प्रकृतियां (ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, मोहनीय
अन्तराय ५), पहले को छोड़कर पांच संस्थानत था पांच संहनन,
विहायोगति, तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी, असातावेदनीय, नीच
प त, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, नरकगति, नर...

नरकायु, स्थावर दशक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, ्र, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति) वर्ण चतुष्क ।[1]

इस प्रकार से पुण्य-पाप प्रकृतियों[2] का कथन करने के बाद क्रम । परावर्तमान और अपरावर्तमान प्रकृतियो को बतलाते है । ्न अपरावर्तमान प्रकृतियो की संख्या कम होने से पहले उनका चन किया जा रहा है ।

रावर्तमान प्रकृतियाँ

नामधुवबधिनवगं दसण पणनाणविग्घ परघायं ।
भयकुच्छमिच्छसासं जिण गुणतीसा अपरियत्ता ।।१८।।

पचसग्रह मे पुण्य और पाप प्रकृतियो के बजाय प्रशस्त और अप्रशस्त प्रकृतियो के रूप मे गणना की है—

मणुयतिग देवतिगं तिरियाऊसास अट्ठतणुभगं ।
विहगइ वण्णाइ सुभ तसाइ दस तित्थ निम्माण ।।
चउरसउसभआयव पराघाय पणिदि अगुरुसाउच्चं ।
उज्जोय च पसत्था सेसा बासीइ अपसत्ता ।

—पंचसंग्रह ३।२१, २२

गो० कर्मकाड गा० ४१, ४२ मे पुण्य प्रकृतिया और ४३, ४४ मे पाप प्रकृतिया गिनाई है। दोनो ग्रन्थो की गणना बराबर है । लेकिन कर्मकाड मे इतनी विशेषता है भेद विवक्षा से ६८ और अभेद विवक्षा से ४२ पुण्य प्रकृतियाँ तथा पाप प्रकृतियाँ बन्ध दशा मे भेद विवक्षा से ९८ और अभेद विवक्षा से ८२ बतलाई है । उदय दशा मे सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व को मिलाकर भेद विवक्षा से १०० और अभेद विवक्षा से ८४ बताई है । पाच बधन, पाच सघात और वर्णादि २० मे से १६ इस प्रकार २६ प्रकृतियो के भेद और अभेद से पुण्य प्रकृतियो मे तथा वर्णादि २० मे से १६ प्रकृतियो के भेद और अभेद से पाप प्रकृतियो मे अतर पड़ता है ।

शब्दार्थ—**नाम**—नामकर्म की, **ध्रुवबंधिनवग**—ध्रुवबंधिनी नौ प्रकृतियाँ, **दंसण**—दर्शनावरण, **पण**—पाँच, **नाण**—ज्ञानावरण, **विग्घ**—अन्तराय, **परघायं**—पराघात, **भयकुच्छमिच्छ**—भय, जुगुप्सा और मिथ्यात्व, **सासं**—उच्छ्वास नामकर्म, **जिण** तीर्थंकर नामकर्म, **गुणतीसा** उनतीस, **अपरियत्ता**—अपरावर्तमान।

गाथार्थ—नामकर्म की ध्रुवबंधिनी नौ प्रकृतियां, चार दर्शनावरण, पाच ज्ञानावरण, पांच अंतराय, पराघात, भय, जुगुप्सा, मिथ्यात्व, उच्छ्वास और तीर्थंकर ये उनतीस प्रकृतियां अपरावर्तमान प्रकृतियां है।

विशेषार्थ—गाथा में उनतीस प्रकृतियो के नाम गिनाये हैं जो अपरावर्तमान है। ये उनतीस प्रकृतियां किसी दूसरी प्रकृति के बंध, उदय अथवा बंध-उदय दोनों को रोक कर अपना बन्ध, उदय या बंध-उदय को नहीं करने के कारण अपरावर्तमान कहलाती है, जिनके नाम इस प्रकार है—

(१) **ज्ञानावरण**—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय, केवलज्ञानावरण।

(२) **दर्शनावरण**—चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल दर्शनावरण।

(३) **मोहनीय**—भय, जुगुप्सा, मिथ्यात्व।

(४) **नामकर्म**—वर्ण चतुष्क, तैजस, कार्मण शरीर, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, तीर्थंकर।

(५) **अन्तराय**—दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अन्तराय।

मिथ्यात्व को अपरावर्तमान प्रकृति मानने पर जिज्ञासु का प्रश्न है कि सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय के उदय मे मिथ्यात्व का उदय नही होता है। ये दोनो ही मिथ्यात्व के उदय की विरोधिनी प्रकृतियां है। अतः मिथ्यात्व को अपरावर्तमान प्रकृति नही मानना चाहिये।

इसका उत्तर यह है कि मिथ्यात्व का बंध और उदय पहले
ात्व गुणस्थान में होता है, किन्तु वहा मिश्र मोहनीय व सम्यक्त्व
नीय का उदय व बंध नही होता है। यदि ये दोनो प्रकृतियां
यात्व गुणस्थान मे रहकर मिथ्यात्व के उदय को रोकती और
 उदय मे आती तो अवश्य ही विरोधिनी कही जा सकती थी।
न इनका उदयस्थान अलग-अलग है, यानी मिश्र मोहनीय का
 तीसरे गुणस्थान मे और सम्यक्त्व मोहनीय का उदय चौथे
स्थान मे और मिथ्यात्व का उदय पहले गुणस्थान में होता है।
: एक ही गुणस्थान मे रहकर परस्पर मे एक दूसरे के बंध अथवा
य का विरोध नही करती है। इसीलिये मिथ्यात्व को अपरावर्तमान
ा है। इसी प्रकार अन्य प्रकृतियो के बारे में समझना चाहिये कि
का वंध, उदय स्थान या बंधोदयस्थान भिन्न-भिन्न है।

अब आगे की गाथा में परावर्तमान और क्षेत्रविपाकी प्रकृतियां
लाते है।

वर्तमान व क्षेत्रविपाकी प्रकृतियाँ

तणुअट्ठ वेय दुजुयल कसाय उज्जोयगोयदुग निद्दा।
तसवीसाउ परित्ता खित्तविवागाऽणुपुव्वीओ ॥१६॥

शब्दार्थ—तणुअट्ठ—शरीरादि अष्टक की तेतीस प्रकृतिया, वेय - तीन वेद, दुजुयल—दो युगल, कसाय—सोलह कषाय, उज्जोयगोयदुग—उद्योतद्विक, गोत्रद्विक, वेदनीयद्विक, निद्दा—पाँच निद्रायें, तसवीस—त्रसवीशक, आउ—चार आयु, परित्ता—परावर्तमान, खित्तविवागा—क्षेत्रविपाकी आणुपुव्वीओ—चार आनुपूर्वी।

गाथार्थ—शरीरादि अष्टक, तीन वेद, दो युगल, सोलह कषाय, उद्योतद्विक, गोत्रद्विक, वेदनीयद्विक, पाँच निद्राये, त्रस वीशक और चार आयु ये परावर्तमान प्रकृतियाँ है। चार आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी है।

विशेषार्थ—गाथा में परावर्तमान और क्षेत्रविपाकी प्रकृति कथन किया है।

परावर्तमान प्रकृतियाँ दूसरी प्रकृतियों के बंध, उदय अथवा दय दोनों को रोक कर अपना बंध, उदय या बंधोदय क कारण परावर्तमान कहलाती है। इनमें अघाती—वेदनीय, आयु, गोत्र कर्मों की अधिकांश प्रकृतियों के साथ घाती कर्म दर्शनाव मोहनीय की भी प्रकृतियाँ है। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार

(१) **दर्शनावरण**—निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला- स्त्यानर्द्धि।

(२) **वेदनीय**—साता वेदनीय, असाता वेदनीय।

(३) **मोहनीय**—अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क, अप्रत्याख्यान कषाय चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, संज्वलन कषाय हास्य, रति, शोक, अरति, स्त्री, पुरुष, नपुसक वेद।

(४) **आयुकर्म**—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आयु।

(५) **नामकर्म**—शरीराष्टक की ३३ प्रकृतिया (औदारिक, आहारक शरीर, औदारिक अंगोपाग आदि तीन अंगोपांग, छह सं छह संहनन, एकेन्द्रिय आदि पांच जाति, नरकगति आदि चार शुभ-अशुभ विहायोगति, चार आनुपूर्वी), आतप, उद्योत, त्रस स्थावर दशक।

(६) **गोत्रकर्म**—उच्च गोत्र, नीच गोत्र।

इस प्रकार ५+२+२३+४+५५+२=९१ प्रकृतियां परावर्त-
है। इनमें से अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क आदि सोलह कषाय और
निद्राये ध्रुवबंधिनी होने से तो बंधदशा में दूसरी प्रकृतियों का
ोध नही करती है लेकिन उदयकाल में सजातीय प्रकृति को रोक
प्रवृत्त होती है, क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभ में से एक जीव को
समय में एक कषाय का उदय होता है। इसी प्रकार पांच निद्राओं
कसी एक का उदय होने पर शेष चार निद्राओं का उदय नही होता
अत: परावर्तमान है।

स्थिर, शुभ, अस्थिर, अशुभ ये चार प्रकृतिया उदयदशा में विरो-
ी नही है किन्तु वन्धदशा में विरोधिनी है। क्योंकि स्थिर के साथ
थर का और शुभ के साथ अशुभ का बंध नही होता है। इसलिए
ारों प्रकृतियां परावर्तमान है। शेष ६६ प्रकृतिया बंध और उदय
ों स्थितियों में परस्पर विरोधिनी होने से परावर्तमान है।

इस प्रकार से परावर्तमान कर्म प्रकृतियों का वर्णन करने के साथ
कार द्वारा निर्दिष्ट ध्रुववन्धि आदि अपरावर्तमान पर्यन्त वारह
ों का विवेचन किया जा चुका है। जिनका विवरण पृ० ७२ पर
गये कोष्टक में देखिये।

अव कर्म प्रकृतियो का विपाक की अपेक्षा निरूपण करते है।

विपाक से आशय रसोदय का है। कर्मप्रकृति में विशिष्ट अथवा
वेध प्रकार के फल देने की शक्ति को और फल देने के अभिमुख होने
विपाक कहते है। जैसे आम आदि फल जव पक कर तैयार होते
तव उनका विपाक होता है। वैसे ही कर्म प्रकृतियां भी जव
ना फल देने के अभिमुख होती है तव उनका विपाककाल कह-
ता है।

गाथार्थ—शरीरादि अष्टक, तीन वेद, दो युगल, सोलह कषाय, उद्योतद्विक, गोत्रद्विक, वेदनीयद्विक, पाँच निद्रायें, त्रस वीशक और चार आयु ये परावर्तमान प्रकृतियाँ है। चार आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी है।

विशेषार्थ—गाथा में परावर्तमान और क्षेत्रविपाकी प्रकृतियों कथन किया है।

परावर्तमान प्रकृतियाँ दूसरी प्रकृतियों के बंध, उदय अथवा दय दोनों को रोक कर अपना बंध, उदय या बंधोदय करने कारण परावर्तमान कहलाती है। इनमें अघाती—वेदनीय, आयु, गोत्र कर्मों की अधिकांश प्रकृतियों के साथ घाती कर्म दर्शनावरण मोहनीय की भी प्रकृतियाँ है। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार है

(१) **दर्शनावरण**—निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रच स्त्यानर्द्धि।

(२) **वेदनीय**—साता वेदनीय, असाता वेदनीय।

(३) **मोहनीय**—अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क, अ त्य।ख्यानाव कषाय चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, संज्वलन कषाय चतु हास्य, रति, शोक, अरति, स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद।

(४) **आयुकर्म**—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आयु।

(५) **नामकर्म**—शरीराष्टक की ३३ प्रकृतियां (औदारिक, वैक्रि आहारक शरीर, औदारिक अंगोपांग आदि तीन अंगोपाग, छह संस्था छह संहनन, एकेन्द्रिय आदि पांच जाति, नरकगति आदि चार ग शुभ-अशुभ विहायोगति, चार आनुपूर्वी), आतप, उद्योत, त्रस दश स्थावर दशक।

(६) **गोत्रकर्म**—उच्च गोत्र, नीच गोत्र।

इस प्रकार ५+२+२३+४+५५+२=९१ प्रकृतियां परावर्त-
मान है। इनमें से अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क आदि सोलह कषाय और
पांच निद्राये ध्रुवबंधिनी होने से तो बंधदशा में दूसरी प्रकृतियों का
विरोध नही करती है लेकिन उदयकाल में सजातीय प्रकृति को रोक
कर प्रवृत्त होती है, क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभ में स एक जीव को
एक समय में एक कषाय का उदय होता है। इसी प्रकार पाच निद्राओं
में किसी एक का उदय होने पर शेष चार निद्राओं का उदय नही होता
है। अत: परावर्तमान है।

स्थिर, शुभ, अस्थिर, अशुभ ये चार प्रकृतियां उदयदशा मे विरो-
धिनी नही है किन्तु बन्धदशा में विरोधिनी है। क्योंकि स्थिर के साथ
अस्थिर का और शुभ के साथ अशुभ का बंध नही होता है। इसलिए
ये चारों प्रकृतिया परावर्तमान है। शेष ६६ प्रकृतियां बंध और उदय
दोनो स्थितियों में परस्पर विरोधिनी होने से परावर्तमान है।

इस प्रकार से परावर्तमान कर्म प्रकृतियो का वर्णन करने के साथ
ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट ध्रुवबन्धि आदि अपरावर्तमान पर्यन्त बारह
द्वारों का विवेचन किया जा चुका है। जिनका विवरण पृ० ७२ पर
दिये गये कोष्टक में देखिये।

अब कर्म प्रकृतियो का विपाक की अपेक्षा निरूपण करते है।

विपाक से आशय रसोदय का है। कर्मप्रकृति में विशिष्ट अथवा
विविध प्रकार के फल देने की शक्ति को और फल देने के अभिमुख होने
को विपाक कहते है। जैसे आम आदि फल जब पक कर तैयार होते
है, तब उनका विपाक होता है। वैसे ही कर्म प्रकृतियां भी जब
अपना फल देने के अभिमुख होती है तब उनका विपाककाल कह-
लाता है।

कर्म प्रकृतियों के ध्रुवबन्धी आदि भेद

कर्म प्रकृति	ध्रुवबंधी	अध्रुवबंधी	ध्रुवोदय	अध्रुवोदय	ध्रुव सत्ता	अ० सत्ता	सर्व घाति	देश घा	अघाति	परा व.	अपरा व०	पुण्य	पाप
ओघ १५८	४७	७३	२७	९५	१३०	२८	२०	२५	७५	९१	२९	४२	८२
ज्ञाना० ५	५	०	५	०	५	०	०	०	०	०	५	०	५
दर्शना० ९	९	०	४	५	९	०	६	३	०	५	४	०	९
वेद० २	०	२	०	२	२	०	०	०	२	२	०	१	१
मोह० २८*	१९	७	१	२७	२६	२	१३	१३	०	२३	३	०	२६
आयु ४	०	४	०	४	०	४	०	०	४	४	०	३	१
नाम १०३	९	५८	१२	५५	८२	२१	०	०	६७	५५	१२	३७	३४
गोत्र २	०	२	०	२	१	१	०	०	२	२	०	१	१
अत० ५	५	०	५	०	५	०	०	५	०	०	५	०	५

* मोहनीय कर्म मे सम्यक्त्व देशघाती और मिश्र मोहनीय सर्वघाती है तथा ये दोनो सत्तावर्गमान और पाप प्रकृतियां ...
द्वारा [illegible] समझना चाहिये ।

यह विपाक दो प्रकार का है—हेतुविपाक और रसविपाक ।[1] पुद्ग-
गादि रूप हेतु के आश्रय से जिस प्रकृति का विपाक—फलानुभव होता
है, वह प्रकृति हेतुविपाकी कहलाती है तथा रस के आश्रय अर्थात् रस
की मुख्यता से निर्दिश्यमान विपाक जिस प्रकृति का होता है, वह प्रकृति
सविपाकी कहलाती है। इन दोनो प्रकार के विपाको में से भी
प्रत्येक के पुन. चार-चार भेद है। पुद्गल, क्षेत्र, भव और जीव रूप हेतु
के भेद से हेतुविपाकी के चार भेद है यानी पुद्गलविपाकी, क्षेत्र-
विपाकी, भवविपाकी और जीवविपाकी । इसी प्रकार से रसविपाक
के भी एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रीस्थानक और चारस्थानक ये चार
भेद है। यहाँ कर्म प्रकृतियो के रसोदय के हेतुओं[2]—स्थानो के आधार
से होने वाले पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी और जीव-
विपाकी भेदो का वर्णन करते है, यानी कौन-सी कर्म प्रकृतियां पुद्गल-
विपाकी आदि है।

क्षेत्रविपाकी प्रकृतिया

उक्त चार प्रकार के विपाको मे से यहां पहले क्षेत्रविपाकी प्रकृ-
तियों को बतलाया है कि—'खित्तविवागाऽणुपुव्वीओ'—आनुपूर्वी
नामकर्म क्षेत्रविपाकी है। यानी आनुपूर्वी नामकर्म की नरकानुपूर्वी,
तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी—ये चारो प्रकृतिया क्षेत्र-
विपाकी है।

---

१ दुविहा विवागओ पुण हेउविवागाओ रसविवागाओ ।
एक्केक्काविय चउहा जओ चसद्दो विगप्पेण ॥

—पचसंग्रह ३।४४

२ जा ज समेच्च हेउ विवाग उदय उवेंति पगईओ ।
ता तव्विवागसन्ना सेसभिहाणाइ सुगमाइ ॥

—पंचसंग्रह ३।४५

आकाश को क्षेत्र कहते है। जिन प्रकृतियों का उदय क्षेत्र में ही होता है, वे क्षेत्रविपाकिनी कही जाती है। यों तो सभी प्रकृतियों का उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा को लेकर होता है। लेकिन जिसकी मुख्यता होती है, वहा उसकी मुख्यता से उसका नामकरण किया जाता। आनुपूर्वियों को क्षेत्रविपाकी मानने का कारण यह है कि इनका उदय क्षेत्र में ही होता है। क्योंकि जब जीव परभव के लिये गमन करता है तब विग्रहगति के अन्तराल क्षेत्र में आनुपूर्वी अपना विपाक—उदय दिखाती है।[1] उसे उत्पत्तिस्थान के अभिमुख रखती है।

क्षेत्रविपाकी प्रकृतियों को बतलाने के बाद अब जीव और भव विपाकी प्रकृतियों का कथन करते है।

जीवविपाकी और भवविपाकी प्रकृतियां

घणघाइ दुगोय जिणा तसियरतिग सुभगदुभगचउ सास।
जाइतिग जियविवागा आऊ चउरो भवविवागा ॥२०

---

१ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो सप्रदायो मे आनुपूर्वी को क्षेत्रविपाकी माना है। लेकिन स्वरूप को लेकर मतभेद है। श्वेताम्बर सप्रदाय मे एक शरीर को छोडकर दूसरा शरीर धारण करने के लिये जब जीव जाता है तब आनुपूर्वी कर्म श्रेणि के अनुसार गमन करते हुए उस जीव को उसके विश्रेणि मे स्थित उत्पत्तिस्थान तक ले जाता है। आनुपूर्वी का उदय केवल वक्रगति मे माना है—'पुव्वी उदओ वक्के।'

—प्रथम कर्मग्रन्थ, गाथा ४

लेकिन दिगम्बर संप्रदाय मे आनुपूर्वी कर्म पूर्व शरीर को छोडने के बाद और नया शरीर धारण करने के पहले अर्थात् विग्रहगति मे जीव का आकार पूर्व शरीर के समान बनाये रखता है और उसका उदय ऋजु और वक्र दोनो गतियो मे होता है।

शब्दार्थ—**घणघाइ**—घातिकर्मों की प्रकृतिया, **दुगोय**—गोत्रद्विक, वेदनीयद्विक, **जिणा**—तीर्थंकर नामकर्म, **तसियरतिग**—त्रसत्रिक और इतर—स्थावरत्रिक, **सुभगदुभगचउ**—सुभग चतुष्क, दुर्भग चतुष्क, **सासं**—उच्छ्वास, **जाइतिग**—जातित्रिक, **जिय-विवागा**—जीवविपाकी, **आऊ चउरो**—चार आयु, **भवविवागा**—भवविपाकी ।

गाथार्थ—सैतालीस घाति प्रकृतिया, गोत्रद्विक, वेदनीय-द्विक, तीर्थंकर नामकर्म, त्रसत्रिक, स्थावरत्रिक, सुभग चतुष्क, दुर्भग चतुष्क, उच्छ्वास, जातित्रिक, ये जीवविपाकी प्रकृतियां है और चार आयु भवविपाकी है ।

विशेषार्थ—गाथा मे जीवविपाकी और भवविपाकी प्रकृतियो के नाम बतलाये है ।

जो प्रकृतियां जीव में ही साक्षात् फल दिखाती है अर्थात् जीव के ज्ञान आदि स्वरूप का घात आदि करती है वे जीवविपाकी प्रकृतिया कहलाती है तथा भवविपाकी प्रकृतिया वे है जिनका बंध वर्तमान भव मे हो जाने पर भी वर्तमान भव का त्याग करने के पश्चात् अपने उस योग्य भव की प्राप्ति होने पर विपाक दिखलाती है ।

गाथा में जीवविपाकी प्रकृतियों के नाम और संख्या इस प्रकार बतलाई है—

४७ घाति प्रकृतियां (ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, मोहनीय २८, अंतराय ५), दो गोत्र, दो वेदनीय, तीर्थंकर नामकर्म, त्रसत्रिक (त्रस, बादर, पर्याप्त), स्थावरत्रिक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त), सुभग चतुष्क (सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति), दुर्भग चतुष्क (दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति), उच्छ्वास नामकर्म, जातित्रिक (एकेन्द्रिय आदि

पाच जाति, नरक आदि चार गति, शुभ-अशुभ विहायोगति), इ
मिलाकर ये ७८ प्रकृतिया जीवविपाकी है ।

इनको जीवविपाकी मानने का कारण यह है कि क्षेत्र आदि
अपेक्षा के विना ही जीव को ज्ञान, दर्शन आदि आत्मगुणों तथा उ
उच्छ्वास आदि मे अनुग्रह, उपघात रूप साक्षात फल
है । जैसे कि ज्ञानावरण की प्रकृतियो के उदय से जीव अज्ञानी होत
दर्शनावरण के उदय से जीव के दर्शनगुण का घात होता है, मोह
कर्म की प्रकृतियों के उदय से जीव के सम्यक्त्व और चारित्रगु
घात होता है तथा पाच अन्तरायों के उदय से जीव दान आ
या ले नही सकता है । साता और असाता वेदनीय के उदय से
ही सुखी और दुखी होता है इत्यादि । अतः गाथा में वताई ग
प्रकृतिया जीवविपाकी है ।

'आऊ चउरो भवविवागा' यानी नरकायु, तिर्यचायु, मनु
देवायु ये चारो आयु भवविपाकी है । क्योकि परभव की अ
वंध हो जाने पर भी जब तक जीव वर्तमान भव को त्या
अपने योग्य भव को प्राप्त नही करता है, तब तक आयु कर्म का
नही होता है । अतः परभव में उदय योग्य होने से आयुक
प्रकृतियां भवविपाकी है ।

इस प्रकार से जीवविपाकी और भवविपाकी प्रकृतियों का क
करने के वाद अव आगे की गाथा में पुद्गलविपाकी प्रकृतियों के ना
व वंधद्वार का वर्णन करने के लिये वंध के भेदों को वतलाते है ।

पुद्गलविपाकी प्रकृतियां और वंध के भेद

नामधुवोदय चउतणु वघायसाहारणियर जोयतिगं ।
पुग्गलविवागि वंधो पयइठिइरसपएसत्ति ॥२१॥

शब्दार्थ—**नामधुवोदय**—नामकर्म की ध्रुवोदय बारह प्रकृतियाँ, **चउतणु** तनुचतुष्क, **उवघाय**—उपघात, **साहारण**—साधारण, **इयर**—इतर– प्रत्येक, **जोयतिगं**– उद्योतत्रिक, **पुग्गलविवागि**—पुद्गलविपाकी, **बधो**—वध, **पयइठिइ** - प्रकृति और स्थितिबंध, **रसपएस** – रसबध और प्रदेशवध, **त्ति**—इस प्रकार।

गाथार्थ—नामकर्म की ध्रुवोदयी बारह प्रकृतियां, शरीर चतुष्क, उपघात, साधारण, प्रत्येक, उद्योतत्रिक ये छत्तीस प्रकृतिया पुद्गलविपाकी है। प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, रसबंध और प्रदेशबंध ये बंध के चार भेद है।

विशेषार्थ—गाथा मे पुद्गलविपाकी प्रकृतियों को बताने के अलावा के चार भेदों को बतलाया है। जिनमे आगे की गाथाओ में स्कार वंध आदि विशेषताओ का वर्णन किया जाने वाला है।

सर्वप्रथम पुद्गलविपाकी प्रकृतियोको गिनाया है कि 'नामधुवोदय पुग्गलविवागि' नामकर्म की बारह ध्रुववंधिनी प्रकृतिया (निर्माण, थर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क) था तनुचतुष्क (तैजस, कार्मण शरीर को छोड कर औदारिक आदि न शरीर, तीन अंगोपाग, छह संस्थान, छह संहनन), उपघात, धारण, प्रत्येक, उद्योतत्रिक (उद्योत, आतप, पराघात) ये प्रकृतिया द्गलविपाकी है। जिनकी कुल संख्या छत्तीस है।

उक्त प्रकृतिया शरीर रूप में परिणत हुए पुद्गल परमाणुओ में अपना फल देती है, अतः पुद्गलविपाकी है। जैसे कि निर्माण नामर्म के उदय से शरीर रूप परिणत पुद्गल परमाणुओं मे अंग-उपांग नियमन होता है। स्थिर नामकर्म के उदय से दांत आदि स्थिर था अस्थिर नामकर्म के उदय से जीभ आदि अस्थिर होते है। शुभ

नामकर्म के उदय से मस्तक आदि शुभ और अशुभ नामकर्म के उद
से पैर आदि अशुभ अवयव कहलाते है। शरीर नामकर्म के उदय
ग्रहीत पुद्‌गल शरीर रूप वनते है और अंगोपांग नाम-कर्म के द्वार
शरीर में अंग-उपाग का विभाग होता है। संस्थान नामकर्म के उद
से शरीर का आकार वनता है और संहनन नामकर्म के उदय
हड्डियों का बन्धनविशेष होता है। इसी प्रकार उपघात, साधार
प्रत्येक आदि प्रकृतियां भी शरीर रूप परिणत पुद्‌गलो मे अपना फ
देती है। इसीलिये निर्माण आदि पराघात पर्यन्त छत्तीस प्रकृति
पुद्‌गलविपाकी है।[1]

इस प्रकार से क्षेत्र, जीव, भव, पुद्‌गल विपाकी प्रकृतियो
वतलाने के बाद अब कुछ प्रकृतियों के विपाक भेदों के वारे में विशे
स्पष्टीकरण करते है।

यद्यपि सभी कर्मप्रकृतियां जीव मे कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्ति
होने के कारण किसी न किसी रूप मे जीव मे ही अपना फल देती है
जैसे आयुकर्म का भवधारण रूप विपाक जीव में ही होता
है, क्योंकि आयुकर्म का उदय होने पर जीव को ही भव धारण करना
पड़ता है और क्षेत्रविपाकी आनुपूर्वी कर्म भी श्रेणि के अनुसार गमन

---

१ गो० कर्मकाड गा० ४७—४९ मे भी विपाकी प्रकृतियो को गिनाया है
दोनो मे इतना अतर है कि कर्मकाड मे पुद्‌गलविपाकी प्रकृतियों की
सख्या ६२ वतलाई है और कर्मग्रन्थ मे ३६। इस अतर का कारण यह
कि कर्मग्रन्थ मे वधन और सघात प्रकृतियो को छोड दिया है
वर्णचतुष्क के सिर्फ मूल ४ भेद लिये है, उत्तर २० भेद नही लिये हैं। इ
कार १०+१६=२६ प्रकृतियो को कम करने से ६२—२६=
तिया शेष रहती हैं।

रने रूप जीव के स्वभाव को स्थिर रखता है। पुद्गलविपाकी प्रकृतया जीव मे ऐसी शक्ति पैदा करती है कि जिससे जीव अमुक प्रकार पुद्गलो को ग्रहण करता है। तथापि क्षेत्रविपाकी आदि प्रकृतियां त्र आदि की मुख्यता, विशेषता से अपना फल देने के कारण क्षेत्रविपाकी, ीवविपाकी आदि कहलाती है।[1] लेकिन कुछ प्रकृतियों के वर्गीकरण ो लेकर जिज्ञासु के प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया जाता है।

ति-अरति मोहनीय संबधी स्पष्टीकरण

रति और अरति मोहनीय कर्म जीवविपाकी है। लेकिन इस पर जज्ञासु प्रश्न करता है कि उक्त दोनो प्रकृतियो का उदय पुद्गलों के ाश्रय से होने के कारण पुद्गलविपाकी है। कंटकादि अनिष्ट ुद्गलो के संसर्ग से अरति का विपाकोदय और पुष्पमाला, चन्दन ादि इष्ट पदार्थों के संयोग से रति मोहनीय का उदय होता है। इस ्कार पुद्गल के संबध से दोनो का उदय होने से उनको पुद्गलविपाकी मानना चाहिये। जीवविपाकी कहना योग्य नही है।

इसका समाधान यह है कि पुद्गल के संबंध के बिना भी इनका दय होता है। क्योकि कंटकादि के संबंध के बिना भी प्रिय, अप्रिय स्तु के दर्शन-स्मरण आदि के द्वारा रति-अरति के विपाकोदय का नुभव होता है। पुद्गलविपाकी तो उसे कहते है जिसका उदय ुद्गल के संबध के बिना होता ही नही है। लेकिन रति और अरति ा उदय जैसे पुद्गलों के संसर्ग से होता है, वैसे ही उनके संसर्ग के बिना ी होता है। अतः रति और अरति को पुद्गल के संयोग के बिना भी

---

1 सपप्प जीयकाले उदय काओ न जंति पगईओ।
एवमिणमोहहेउं आसज्ज विसेसय नत्थि ॥

— पंचसंग्रह ३।४९

उदय में आने के कारण जीवविपाकी माना गया है, न कि पुद्गल
विपाकी।

इसी प्रकार क्रोध आदि कषायों को भी जीवविपाकी समझ
चाहिये कि तिरस्कार करने वाले शब्दो जो कि पौद्गलिक है, को सु
कर जैसे क्रोध आदि का उदय होता है वैसे ही पुद्गलों का संबध
बिना स्मरण आदि के द्वारा भी उनका उदय होता है। अतः क्रो
आदि कषायें पुद्गलविपाकी न होकर जीवविपाकी है।

गति नामकर्म संबधी स्पष्टीकरण

गति नामकर्म जीवविपाकी है। इस पर जिज्ञासु प्रश्न करत
कि जैसे आयुकर्म जिस भव की आयु का बंध किया हो, उसी भ
उसका उदय होता है अन्यत्र नही। वैसे ही गति नामकर्म का
अपने-अपने भव में उदय होता है। अपने भव के सिवाय अन्य भ
उसका उदय नही होता है। अतः आयुकर्म की तरह गति नाम
को भी भवविपाकी मानना युक्तिसंगत है।

इसका उत्तर यह है कि आयुकर्म और गति नामकर्म के वि
में अन्तर है। क्योंकि जिस भव की आयु का बंध किया हो, उ
सिवाय अन्य किसी भी भव में विपाकोदय द्वारा उसका उदय
होता है। स्तिवुकसंक्रम द्वारा भी उदय नही होता है। जैसे
मनुष्यायु का उदय मनुष्य भव में ही होता है, इतर भव में न
अतः अपने उदय के लिये स्व-निश्चित भव के साथ अव्यभिचारी
से आयुकर्म भवविपाकी माना जाता है यानी किसी भी भव के
आयुकर्म का बंध हो जाने के पश्चात् जीव को उसी भव में अ
लेना पड़ता है। किन्तु गति नामकर्म के उदय के लिये यह
। क्योंकि अपने भव के बिना भी अन्य भव में स्तिवुकस

ारा उदय होता है। अर्थात् विभिन्न परभवो के योग्य बांधी हुई ातियो का उस ही भव में संक्रमण आदि द्वारा उदय हो सकता है। ैसे कि चरम शरीरी जीव के परभव के योग्य बाँधी हुई गतिया उसी भव मे क्षय हो जाती है। अतः गति नामकर्म भव का नियामक नही होने से भवविपाकी नही है। तात्पर्य यह है कि स्वभव में ही उदय होने से आयुकर्म भवविपाकी है और गति नामकर्म अपने भव मे विपाकोदय द्वारा और परभव मे स्तिबुकसंक्रम द्वारा इस प्रकार स्व और पर दोनो भवो में उदय संभव होने से भवविपाकी नही है।

आनुपूर्वी कर्मसम्बन्धी स्पष्टीकरण

आनुपूर्वी कर्म क्षेत्रविपाकी है। लेकिन यहां जिज्ञासु प्रश्न उपस्थित करता है कि विग्रहगति के विना भी संक्रमण के द्वारा आनुपूर्वी का उदय होता है अत उसे क्षेत्रविपाकी न मानकर गति की तरह जीव-विपाकी माना जाना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि आनुपूर्वियों का स्वयोग्य क्षेत्र के सिवाय अन्यत्र भी संक्रमण द्वारा उदय होने पर भी जैसे उसका क्षेत्र की प्रधानता से विपाक होता है, वैसा अन्य किसी भी प्रकृति का नही होता है। इसलिये आनुपूर्वियो के रसोदय में आकाश प्रदेश रूप क्षेत्र असाधारण हेतु है। जिससे उसको क्षेत्रविपाकी माना गया है।

प्रकृतियों के क्षेत्रविपाकी आदि भेदों का प्रदर्शक यंत्र इस प्रकार है—

कर्म प्रकृतियों के क्षेत्रविपाकी आदि भेद

कर्मप्रकृति	क्षेत्रविपाकी	भवविपाकी	जीवविपाकी	पुद्गलविपाकी
ओघ १२२	४	४	७८	३६
ज्ञाना० ५	०	०	५	०
दर्शना० ६	०	०	६	०
वेदनीय २	०	०	२	०
मोहनीय २८	०	०	२८	०
आयु ४	०	४	०	०
नाम ६७	४	०	२७	३६
गोत्र २	०	०	२	०
अंतराय ५	०	०	५	०

बंध के भेद और उनके लक्षण

इस प्रकार से ध्रुवबंधी आदि पुद्गलविपाकी पर्यन्त सोलह वर्गों में प्रकृतियों का वर्गीकरण करने के पश्चात प्रकृतिबंध आदि का वर्णन करने के लिये सबसे पहले बंध के भेद बतलाते है कि 'बंधो पइयठिइ-रसपएस त्ति' प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश ये बंध के चार भेद हैं। लक्षण नीचे लिखे अनुसार है—

मा और कर्म परमाणुओ के संबधविशेष को अथवा आत्मा

और कर्मप्रदेशों के एक क्षेत्रावगाह होने को बंध कहते है। आत्मा की रागद्वेषात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशों में विद्यमान अनन्तानन्त कर्म-परमाणु चुम्बक की तरह आकर्षित होकर आत्मप्रदेशो से संश्लिष्ट हो जाते है। ये कर्म परमाणु रूप, रस, गंध और स्पर्श गुण वाले होने से पौद्गलिक है। जो पुद्गल कर्म रूप मे परिणत होते है, वे अत्यन्त सूक्ष्म रज—धूलि के समान है, जिनको इन्द्रिया नही जान सकती है, किन्तु केवलज्ञानी अथवा परम अवधिज्ञानी अपने ज्ञान द्वारा उनको जान सकते है।

जैसे कोई व्यक्ति शरीर में तेल लगाकर धूलि में लौटे तो वह धूलि उसके सर्वांग शरीर में चिपट जाती है, वैसे ही संसारावस्थापन्न जीव के आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन—हलन-चलन होने से अनन्तानन्त कर्मयोग्य पुद्गल परमाणुओ का आत्मप्रदेशों के साथ संबंध होने लगता है। जिस प्रकार अग्नि से संतप्त लोहे का गोला प्रति समय अपने सर्वांग से जल को खीचता है, उसी प्रकार संसारी जीव अपनी योग-प्रवृत्ति द्वारा प्रतिक्षण कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता रहता है और दूध-पानी व अग्नि तथा गर्म लोहे के गोले का जैसा सम्वन्ध होता है, वैसा ही जीव और कर्म परमाणुओं का संबंध हो जाता है। इस प्रकार के संबंध को ही बंध कहते है।

जीव द्वारा कर्मपुद्गलों के ग्रहण किये जाने पर यानी बंध होने पर उनमे चार अंशो का निर्माण होता है, जो वंध के प्रकार कहलाते है। जैसे कि गाय-भैंस आदि द्वारा खाई गई घास आदि दूध रूप मे परिणत होती है, तब उसमे मधुरता का स्वभाव निर्मित होता है, उस स्वभाव के अमुक समय तक उसी रूप मे बने रहने की कालमर्यादा आती है, उस मधुरता में तीव्रता-मंदता आदि विशेषतायें भी होती है और उस दूध का कुछ परिमाण (वजन) भी होता है। इसी प्रकार

जीव द्वारा ग्रहण किये गये और आत्मप्रदेशों के साथ संश्लिष्ट कर्म पुद्गलों में भी चार अंशो का निर्माण होता है, जिनको क्रमश' प्रकृति बंध, स्थितिवन्ध, रसबन्ध और प्रदेशबंध कहते है।[1] उनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार है—

(१) **प्रकृतिबन्ध**—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलो मे भिन्न-भिन्न शक्तियों—स्वभावों के उत्पन्न होने को प्रकृतिबंध कहते है। यहां प्रकृति शब्द का अर्थ स्वभाव है।[2] दूसरी परिभाषा के अनुसार स्थितिबंध, रसबंध और प्रदेशबंध के समुदाय को प्रकृतिवंध कहते है।[3] अर्थात् प्रकृतिबंध कोई स्वतंत्र वंध नही है किन्तु शेष तीन बंधों के समुदाय का ही नाम है।

---

१ (क) चउव्विहे बधे पण्णत्ते, त जहा—पगइबधे, ठिइबधे, अणुभावबन्धे पएसबंधे। —**समवायांग, समवाय**

(ख) प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधय.। —तत्वार्थसूत्र८।

२. दिगम्बर साहित्य मे प्रकृति शब्द का सिर्फ स्वभाव अर्थ माना है—
प्रकृति स्वभाव , प्रकृति स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्।
—**तत्वार्थसूत्र** ८।३ (सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक टीक
पयडी सील सहावो····· ··· —**गो० कर्मकांड**

३ ठिईबंधो दलस्स ठिई पएसबधो पएसगहणं जं।
ताण रसो अणुभागो तस्समुदाओ पगइबधो॥
—**पंचसंग्रह** ४३२

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि स्वभाव अर्थ मे अनुभाग बंध का मतलव कर्म की फलजनक शक्ति की शुभाशुभता तथा तीव्रता-मदता से ही है, परन्तु समुदाय अर्थ मे अनुभाग बध से कर्म की फलजनक शक्ति और उसकी शुभाशुभता तथा तीव्रता-मदता इतना अर्थ विवक्षित है।
श्वेताम्बर साहित्य मे प्रकृति शब्द के स्वभाव और समुदाय दोनो अर्थ ग्रहण किये गये हैं।

(२) **स्थितिबन्ध**—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में अपने स्वभाव को न त्यागकर जीव के साथ रहने के काल की मर्यादा को स्थितिवन्ध कहते है।

(३) **रसबध**—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में फल देने की न्यूनाधिक शक्ति के होने को रसवंध कहते है।

रसवंध को अनुभागबंध[1] या अनुभावबंध भी कहते है।

(४) **प्रदेशबंध**—जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धों का संवन्ध होना प्रदेशवंध कहलाता है।[2]

सारांश यह है कि जीव के योग और कषाय रूप भावो का निमित्त पाकर जब कार्मण वर्गणाये कर्मरूप परिणत होती है तो उनमें चार बाते होती है, एक उनका स्वभाव, दूसरी स्थिति, तीसरी फल देने की शक्ति और चौथी अमुक परिमाण मे उनका जीव के साथ सम्बन्ध होना। इन चार वातों को ही वंध के प्रकृति, स्थिति, रस, प्रदेश ये चार प्रकार कहते है।

इनमे से प्रकृतिवंध और प्रदेशवंध जीव की योगशक्ति पर तथा स्थिति और फल देने की शक्ति कषाय भावों पर निर्भर है।[3] अर्थात् योगशक्ति तीव्र या मन्द जैसी होगी, बंध को प्राप्त कर्म पुद्गलों का

[1] दिगम्वर साहित्य मे अनुभाग वध ही विशेपतया प्रचलित है।

[2] स्वभाव प्रकृति प्रोक्तः स्थिति कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेय. प्रदेशो दलसञ्चय.॥
— स्वभाव को प्रकृति, काल की मर्यादा को स्थिति, अनुभाग को रस और दलो की सख्या को प्रदेश कहते है।

[3] पयडिपएसबधा जोगेहिं कसायओ इयरे।

—पंचसंग्रह २०४

स्वभाव और परिमाण भी वैसा ही तीव्र या मंद होगा। इसी प्र
जीव के कषाय भाव जैसे तीव्र या मंद होंगे, बंध को प्राप्त परमा
की स्थिति और फलदायक शक्ति भी वैसी ही तीव्र या मंद हो
इसको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते है—

जीव की योगशक्ति को हवा, कषाय को चिपकने वाली गोंद
कर्म परमाणुओं को धूलि मान ले। जैसे हवा के चलने पर धूलि
कण उड-उड़ कर उन स्थानों पर जमा हो जाते है जहाँ कोई चिप
वाली वस्तु गोंद आदि लगी होती है। इस प्रकार जीव के प्र
शारीरिक, वाचनिक और मानसिक परिस्पन्दन—क्रिया से कर्म पुद्
का आत्मा में आस्रव होता है जो जीव के संक्लेश परिणामों की स
यता पाकर आत्मा से बंध जाते है। हवा मंद या तीव्र जैसी होती
धूलि उसी परिमाण में उडती है और गोंद वगैरह जितनी चिपक
वाली होती है, धूलि भी उतनी ही स्थिरता के साथ वहाँ ठहर जा
है। इसी तरह योगशक्ति जितनी तीव्र होती है, आगत कर्म प
माणुओ की संख्या भी उतनी ही अधिक होती है तथा कपाय की तीव्र
के अनुरूप कर्म परमाणुओं में उतनी ही अधिक स्थिति और उतना
अधिक अनुभाग का वंध होता है।

प्रकृतिवंध आदि चारों बंधों के स्वरूप को समझाने के लिये प्रथ
कर्मग्रन्थ में मोदक (लड्डुओं) का दृष्टात दिया गया है।[1] जिसक
सारांश इस प्रकार है—

जैसे कि वातनाशक पदार्थों से वने हुए लड्डुओं का स्वभाव वा
को नाश करने का है, पित्तनाशक पदार्थों से बने हुए मोदक का स्वभाव
पित्त को शान्त करने का और कफनाशक पदार्थों से वने मोदक का

---

१ पगइठिइरसपएसा त चउहा मोयगस्स दिट्ठंता।

—प्रथम कर्मग्रन्थ, गा० १

वभाव कफ को नष्ट करने का है । वैसे ही आत्मा के द्वारा ग्रहण कये गये कर्म पुद्‌गलों मे से कुछ में आत्मा के ज्ञान गुण को घात करने ी, कुछ में दर्शन गुण को आच्छादित करने की, कुछ में आत्मा के ानन्त सामर्थ्य को दबाने आदि की शक्तियां पैदा होती है । इस प्रकार भेन्न-भिन्न कर्म पुद्‌गलों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रकृतियों के, शक्तियों के वंध को, स्वभावों के उत्पन्न होने को प्रकृतिवंध कहते है ।

उक्त लड्‌डुओं मे से कुछ की एक सप्ताह, कुछ की पन्द्रह दिन आदि तक अपनी शक्ति—स्वभाव रूप में बने रहने की कालमर्यादा होती है । इस कालमर्यादा को स्थिति कहते है । स्थिति के पूर्ण होने पर लड्‌डू अपने स्वभाव को छोड़ देते है, अर्थात् बिगड़ जाते है नीरस हो जाते है । इसी प्रकार कोई कर्मदलिक आत्मा के साथ सत्तर कोड़ाकोडी सागरोपम तक, कोई वीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक आदि रहते हे । इस प्रकार भिन्न-भिन्न कर्म परमाणुओं में पृथक्-पृथक् स्थितियों का यानी अपने स्वभाव का त्याग न कर आत्मा के साथ बने रहने की काल मर्यादाओं का वन्ध होना स्थितिबंध कहलाता है । स्थिति के पूर्ण होने पर वे कर्म अपने स्वभाव का परित्याग कर देते है, यानी आत्मा से अलग हो जाते है ।

जैसे कुछ लड्‌डुओं में मधुर रस अधिक, कुछ में कम, कुछ में कटुक रस अधिक, कुछ मे कम आदि इस प्रकार मधुर, कटुक रस आदि की न्यूनाधिकता देखी जाती है । इसी प्रकार कुछ कर्म परमाणुओं में शुभ या अशुभ रस अधिक, कुछ मे कम, इस तरह विविध प्रकार के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम शुभ-अशुभ रसों का कर्मपुद्‌गलों मे उत्पन्न होना रसवंध है ।

कुछ लड्‌डुओं का वजन दो तोला, कुछ का छटांक आदि होता है । इसी प्रकार किन्ही कर्मस्कंधों के परमाणुओ की संख्या अधिक और

किन्ही की कम होती है। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न कर्म परमाणुओं
संख्याओं से युक्त कर्मदलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना प्रदे
वन्ध है।

इस प्रकार से प्रकृतिवंध आदि चारों वंध प्रकारों का स्वरू
समझना चाहिए। अव आगे की गाथा में पहले प्रकृतिबंध का वर्ण
करते हुये मूल प्रकृतियों के बंध के स्थान और उनमें भूयस्कार, अल्पतर
अवस्थित और अवक्तव्य बंधो को वतलाते है।

मूल प्रकृतियों के भूयस्कार आदि बंध

मूलपयडीण अट्ठसत्तछेगबंधेसु तिन्नि भूगारा।
अप्पतरा तिय चउरो अवट्ठिया ण हु अवत्तव्वो ॥२२॥

शब्दार्थ—**मूलपयडीण** – मूल प्रकृतियो के, **अट्ठसत्तछेगबंधेसु**—आठ, सात, छह और एक के वधस्थान मे, **तिन्नि**—तीन, **भूगारा**—भूयस्कार बध, **अप्पतरा**—अल्पतर बध, **तिय**—तीन, **चउरो**—चार **अवट्ठिया**—अवस्थित बध, **ण हु**—नही, **अवत्तव्वो**—अवक्तव्य बध।

गाथार्थ—मूल प्रकृतियो के आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, छह प्रकृतिक और एक प्रकृतिक बंध स्थानों में तीन भूयस्कार वंध होते है। अल्पतर बंध तीन और अवस्थित वंध चार होते है। अवक्तव्य वंध नही होता है।

विशेषार्थ—गाथा में मूल कर्म प्रकृतियों के वंधस्थानों को वतल
के साथ-साथ उनके भूयस्कार आदि वंधो की संख्या का कथन किया है

एक समय में एक जीव के जितने कर्मों का वंध होता है, उन
समूह को एक वंधस्थान कहते है। वंधस्थान का विचार मू
और उनकी उत्तर प्रकृतियों दोनों में किया जाता है। कर्म के ज्ञान
, दर्शनावरण आदि आठ मूल भेद है और उनकी वंध प्रकृति

क सौ बीस है। इस गाथा में सिर्फ मूल प्रकृतियो मे बंधस्थान तलाये है।

सामान्य तौर पर प्रत्येक जीव आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मो ा प्रत्येक समय बंध करते है। क्योंकि आयुकर्म का बंध प्रतिसमय होकर नियत समय पर होता है। अतः आयु कर्म के वंध के नियत मय के अलावा सात कर्मों का बंध होता ही रहता है। जब कोई ोव आयुकर्म का भी बंध करता है तब उसके आठ कर्मों का बंध ोता है। इस प्रकार से सात और आठ दो बंधस्थानों को समझना ाहिये।

दसवे गुणस्थान में पहुँचने पर आयु और मोहनीय कर्मो के सिवाय ाष छह कर्मो का ही वंध होता है। क्योंकि आयुकर्म का वंध सातवे णस्थान तक ही होता है और मोहनीय का वंध नौवे गुणस्थान तक ो। दसवे गुणस्थान से आगे ग्यारहवे, बारहवें और तेरहवे गुणस्थान ा सिर्फ एक साता वेदनीय का वंध होता है।[1] शेष कर्मो के बंध का नरोध दसवे गुणस्थान में हो जाता है। यह छह और एक कर्म-ंध के स्थान के बारे मे स्पष्टीकरण किया गया है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि मूल कर्म प्रकृतियो के चार बंध-थान है—आठ प्रकृति का, सात प्रकृति का, छह प्रकृति का, एक प्रकृति

जा अपमत्तो सत्तट्ठबधगा सुहुम छण्हमेगस्स।
उवसतखीणजोगी सत्तण्ह नियट्टी मीस अनियट्टी। —पचसंग्रह २०६

—अप्रमत्त गुणस्थान तक सात या आठ कर्मो का वन्ध होना है। सूक्ष्म-सपराय गुणस्थान मे छह कर्मो का और उपशान्तमोह, क्षीणमोह एव सयोगि केवली गुणस्थान मे एक वेदनीय कर्म का वध होता है। निवृत्ति-करण, मिश्र और अनिवृत्तिकरण गुणस्थान मे आयु के विना सात कर्मो का ही वध होता है।

का। अर्थात् कोई जीव एक समय में आठों कर्म का, कोई सात का, कोई छह कर्मों का और कोई जीव एक समय में एक प्रकृ ही बंध करता है। इसके सिवाय ऐसी कोई स्थिति नही जहां एक दो या तीन या चार या पांच कर्मों का वंध होता हो।

इन चार वंधस्थानों में 'तिन्नि भूगारा' तीन भूयस्कार, 'अ तिय' तीन अल्पतर और 'चउरो अवट्ठिया' चार अवस्थित होते है किन्तु 'ण हु अवत्तव्वो' अवक्तव्य वंध नही होता है।[1] स्पष्टीकरण यहां किया जा रहा है।

भूयस्कार बन्ध

पहले समय में कम प्रकृतियों का वंध करके दूसरे समय में अधिक कर्म प्रकृतियों के वन्ध को भूयस्कार बंध कहते है। प्रकृतियों में इस प्रकार के वंध तीन ही होते है, जो इस प्रकार है—

कोई जीव ग्यारहवें—उपशान्तमोह गुणस्थान में एक—साता नीय का बंध करके वहां से गिरकर जब दसवे गुणस्थान में आता है वहा छह कर्मों का वंध करता है। यह पहला भूयस्कार बंध है। जीव दसवे गुणस्थान से च्युत होकर जब नीचे के गुणस्थानों मे आ है तब वहाँ सात कर्मों का वंध करता है। यह दूसरा भूयस्कार ब

---

१ गो० कर्मकाड मे भी मूल प्रकृतियो के बंधस्थान और उनमे भूयस्का जिसे वहा भुजाकार कहा है, आदि वन्ध इस प्रकार वतलाये है—

> चत्तारि तिण्णि तिय चउ पयडिट्ठणाणि मूलपयडीण।
> भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि कमे होंति॥
>
> —गो० कर्मकाड

—मूल प्रकृतियो के वन्धस्थान चार है, इन स्थानो मे भुजाकार, अ और अवस्थित ये तीन प्रकार के वन्ध होते है। 'य' शब्द से अवक्तव्य वन्ध समझना चाहिये किन्तु वह चौथा वन्ध मूल प्रकृति नहीं होता है।

वही जीव आयुकर्म का बंध काल आने पर जब आठो कर्मों का करता है तब तीसरा भूयस्कार बंध होता है। इस प्रकार एक से, छह से सात और सात से आठ कर्मो का बंध होने के कारण चार स्थानो मे भूयस्कार बंध तीन होते है।

उक्त चार बंधस्थानों मे इन तीन भूयस्कार बंधो के सिवाय कल्प से अन्य तीन भूयस्कर वंधों की कल्पना की जाये तो वे संभव ो है। विकल्प से अन्य तीन भूयस्कार वन्धो की कल्पना इस प्रकार जाती है—पहला एक को वाध कर सात कर्मों का बंध करना, रा—एक को वाध कर आठ कर्मों का बंध करना, तीसरा—छह वाधकर आठ कर्मो का बंध करना।

इन तीन भूयस्कार वंधो के विकल्पो में से आदि के दो भूयस्कार दो तरह से हो सकते है—१. गिरने की अपेक्षा से, २. मरण की क्षा से। किन्तु गिरने की अपेक्षा से आदि के दो भूयस्कार वंध ालिये नही हो सकते है कि ग्यारहवे गुणस्थान से पतन क्रमश' होता अक्रम से नही होता है। अर्थात् ग्यारहवे गुणस्थान से गिरकर व दसवे गुणस्थान मे आता है और दसवे से नौवे मे आता है दि। यदि जीव ग्यारहवे गुणस्थान से गिरकर सीधा नौवे में या तवे गुणस्थान में आता है तो एक को वाध कर सात का या आठ र्मो का वंध कर सकने से पहला, दूसरा भूयस्कार वंध वन सकता था। न्तु पतनः क्रमश' होता है अतः ये दो भूयस्कार वंध पतन की अपेक्षा वन नही सकते है। इसी प्रकार छह को वांधकर आठ कर्मो का न्ध रूप तीसरा भूयस्कार बंध भी नही वनता है क्योकि छह कर्मो वंध दसवे गुणस्थान मे होता है और आठ कर्मो का वंध सातवे र उसके नीचे के गुणस्थान मे होता है। यदि जीव दसवे गुणस्थान एकदम सातवे गुणस्थान में आ सकता तो वह छह को वांध कर ाठ का वन्ध कर सकता था, किन्तु पतन क्रमशः होता है अर्थात्

दसवे गुणस्थान से गिरकर जीव नौवे गुणस्थान में ही आता है,
तीसरा भूयस्कार वन्ध भी नही वन सकता है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि ऊपर के गुणस्थान से पतन
दम न होकर क्रमशः ग्यारहवें, दसवें, नौवें आदि में होता है,
पतन की अपेक्षा एक को वाधकर सात का वन्ध करना, एक को
कर आठ कर्मों का वन्ध करना, छह को वांधकर आठ कर्मों का
करना यह तीनों भूयस्कार बंध नही बनते है।

अव रहा मरण की अपेक्षा आदि के दो भूयस्कार बंधों का
सकना। सो ग्यारहवे गुणस्थान मे मरण करके जीव देवगति में
जन्म लेता है[1] और वहां वह सात ही कर्मों का बंध करता है,
देवगति में छह मास की आयु शेष रहने पर ही आयु का वन्ध
है। अत मरण की अपेक्षा से एक का वन्ध करके आठ का वन्ध
सकना संभव नही है। इसलिये यह भूयस्कार बंध नही हो स
है। किन्तु एक को बांधकर सात का बंध रूप भूयस्कार संभ
लेकिन उसके वारे में यह ज्ञातव्य है कि जो एक को बाधकर सात
का बन्ध करता है तो वन्धस्थान सात का ही रहता है, इ
उसको जुदा नही गिना जाता है।[2] यदि वंधस्थान का भेद हो

१ वद्धाऊ पडिवन्नो सेढिगओ व पसतमोहो वा।
जइ कुणइ कोइ काल वच्चइ तोऽणुत्तरसुरेसु ॥
—विशेषावश्यक भाष्य

यदि कोई वद्धायु जीव उपशम श्रेणि चढता है और श्रेणि के म
किसी गुणस्थान मे अथवा ग्यारहवें गुणस्थान मे यदि मरण करता
नियम से अनुत्तरवासी देवो मे उत्पन्न होता है।

२ तेनो उत्तर कहे छे के जो पण एक वध थी सातकर्म वध करे
वधस्थानक सातनु एकज छे ते भणी जुदो न लेख्यो, वन्धस्थानक
होय तो जुदो भूयस्कार लेखवाय। — पंचम कर्मग्रन्थ

कार भी अलग से माना जाता। इसका आशय यह है कि उक्त भूयस्कारों में छह को बाधकर सात का वंधरूप एक भूयस्कार ा आये है। एक को बंध कर सात के बन्ध रूप भूयस्कार में भी का ही वंधस्थान होता है अतः उसे पृथक् नही गिनाया गया है। प्रकार उपशम श्रेणि से उतरने पर तीन ही भूयस्कार वन्ध है।

तर बन्ध

भूयस्कार वन्ध से नितान्त उलटा अल्पतर बंध होता है। अधिक का वंध करके कम कर्मों के बंध करने को अल्पतर बंध कहते है। तर वंध भी भूयस्कार वंध की तरह तीन ही होते है। वे इस र है—

आयु कर्म के वंध काल मे आठ कर्मों का बंध करके जब जीव कर्मो का वंध करता है तव पहला अल्पतर वंध होता है। नौवे ान में सात कर्मों का बंध करके दसवे गुणस्थान के प्रथम समय जीव मोहनीय के विना शेष छह कर्मो का बंध करता है तव ा अल्पतर वंध होता है तथा दसवे गुणस्थान मे छह कर्मो का वंध ग्यारहवे या वारहवे गुणस्थान मे एक कर्म का वंध करता है तीसरा अल्पतर वंध होता है। यहाँ भी आठ का वंध करके छह एक का वंध रूप तथा सात का बंध करके एक का वंध रूप अल्प- ंध नही हो सकते है। क्योंकि अप्रमत्त और अनिवृत्तिकरण गुण- से जीव एकदम ग्यारहवें गुणस्थान में नही जा सकता है और प्रमत्त से एकदम दसवे गुणस्थान में जाता है। अतः अल्पतर वंध ीन ही जानना चाहिए।

भूयस्कार और अल्पतर वंधों में इतना अन्तर है कि गुणस्था के समय भूयस्कार वंध और आरोहण के समय अ है। लेकिन गुणस्थानों में आरोहण और अवरोहण

होता है, एकदम नही, अतः दोनो वंधों के तीन-तीन भेद होते हैं। विकल्पो की संभावना नही है।

मूल कर्मों मे भूयस्कार और अल्पतर वंधों का कथन करने पश्चात अव अवस्थित वंध को कहते है।

अवस्थित बन्ध

पहले समय मे जितने कर्मों का वंध किया है, दूसरे समय उतने ही कर्मों के वंध करने को अवस्थित वंध कहते है। अर्था को वांध कर आठ का, सात को वाध कर सात का, छह को वा छह का और एक को बांध कर एक का बंध करने को अवस्थि कहते है। बंधस्थान चार है, अतः अवस्थित बंध भी चार होते है

अवक्तव्य बन्ध

एक भी कर्म को न बाधकर पुनः कर्म बंध को अवक्तव्य वंध है। यह बंध मूल कर्मों के बंधस्थानों में नही होता है। क्योंकि ते गुणस्थान तक तो बराबर कर्मबंध होता रहता है लेकिन चौद गुणस्थान मे ही किसी कर्म का बंध नही होता है और चौदहवे स्थान में पहुँचने के बाद जीव लौटकर नीचे के गुणस्थान मे नही है जिससे एक भी कर्म का बन्ध नही करने से पुनः कर्मबंध करने अवसर ही नही आता है। इसीलिये मूल कर्म प्रकृतियों में अवक्त वंध भी नही होता है।[1]

इस प्रकार से मूल कर्म प्रकृतियों मे बंधस्थानों और उनके भू स्कार आदि वन्धों को वतलाने के वाद अव आगे की गाथा मे भूयस्कार आदि वंधो के लक्षणो को कहते है।

भूयस्कार आदि वंधों के लक्षण

> एगादहिगे भूओ एगाईऊणगम्मि अप्पतरो।
> तम्मत्तोऽवट्ठियओ पढमे समए अवत्तव्वो ॥२३॥

१ अन्बंधगो न बंधइ इइ अव्वत्तो अओ नत्थि। —पंचसंग्रह

शब्दार्थ—**एगादहिगे**—एकादि अधिक प्रकृतियो का वध होने से, **भूओ**—भूयस्कार वध, **एगाईऊणगम्मि**—एकादि प्रकृति के द्वारा हीन वध होने से, **अप्पतरो**—अल्पतर वध, **तम्मत्तो**—उतनी प्रकृतियो का वध होने से, **अवट्ठियओ**—अवस्थित वध, **पढमेसमए**—अवन्धक होने के वाद पुनर्बन्ध के पहले समय मे, **अवत्तव्वो**—अवक्तव्य वन्ध।

गाथार्थ—एकादि अधिक प्रकृतियों का वन्ध होने से भूयस्कार बन्ध होता है। एकादि प्रकृतियो के द्वारा हीन बंध होने पर अल्पतर वन्ध और उतनी ही प्रकृतियो का बन्ध होने से अवस्थित बन्ध होता है तथा अवन्धक होने के वाद पुनः वंध के पहले समय में बन्ध हो, उसे अवक्तव्य वंध कहते है।

विशेषार्थ—गाथा में भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य के लक्षण बतलाये है।

भूयस्कार वंध का लक्षण वतलाते हुए कहा है कि—'एगादहिगे [illegible]'—एक, दो आदि अधिक प्रकृतियो के वाधने पर भूयस्कार वंध [illegible] है। अर्थात् जैसे एक को वॉधकर छह को बाधना, छह को बाध- [illegible] सात को वॉधना और सात को वॉधकर आठ को वॉधना भूयस्कार [illegible] है।

लेकिन अल्पतर वंध भूयस्कार वंध से उलटा है। यानी 'एगाई- [illegible]गम्मि अप्पतरो'—एक, दो आदि हीन प्रकृतियो का वंध करने [illegible] अल्पतर वंध होता है। अर्थात् जैसे आठ को वाधकर [illegible] को वाधना, सात को वांधकर छह को वांधना और छह को वाध- एक को वाधना अल्पतर वन्ध कहलाता है।

अवस्थित वंध उसे कहते है—तम्मत्तोऽवट्ठियओ—जिसमे प्रति-[illegible]य समान प्रकृतियो का वंध हो अर्थात् पहले समय मे जितने कर्मो [illegible] वन्ध किया हो, आगे के समयो मे भी उतने ही कर्मो का वन्ध

करना अवस्थित वन्ध कहलाता है। जैसे आठ कर्म को वाधकर
का, सात को वाधकर सात का, छह को वाधकर छह का, ए
वांधकर एक का वन्ध करना अवस्थित वन्ध है और किसी भी कर्म
वन्ध न करके पुनः कर्म वन्ध करने पर पहले समय में अवक्तव्य
होता है—'पढमे समए अवत्तव्वो।'

भूयस्कार आदि बंधों विषयक विशेष स्पष्टीकरण

भूयस्कार आदि उक्त चार प्रकार के बंधों के संवन्ध में यह वि
जानना चाहिए कि भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य वन्ध केवल
समय में ही होते हैं और अवस्थित वंध द्वितीय आदि समयों
है। जैसे कोई छह कर्मों का वंध करके सात का वंध करता है
भूयस्कार बंध है लेकिन दूसरे समय मे यही भूयस्कार नही हो
है क्योकि प्रथम समय में सात का बंध करके यदि दूसरे समय
का बंध करता है तो भूयस्कार बदल जाता है और छह कर्म
करता है तो अल्पतर हो जाता है तथा सात का करता है
स्थित हो जाता है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि प्रकृतिसंख्या मे परिव
बिना अधिक वॉधकर कम वाधना, कम बाधकर अधिक वाध
कुछ भी न वाधकर पुनः बाधना केवल एक बार ही संभव है
पहली बार बाधे हुए कर्मों के बराबर पुन उतने ही कर्मों को
पुनः संभव है। अतः एक ही अवस्थित बन्ध लगातार कई स
हो सकता है, किन्तु शेष तीन बंधो मे यह संभव नही है।

इस प्रकार के भूयस्कार आदि वंधों के लक्षण और मूल
उनकी होने वाली संख्या वतलाकर उत्तर प्रकृतियों में विशे
कथन करने के पूर्व सामान्य से उत्तर प्रकृतियो मे भूयस्का
चारो वंधों को स्पष्ट करते है।

सामान्य से उत्तर प्रकृतियों के उनतीस वंधस्थान होते

...ा प्रकार है—एक, सत्रह, अठारह, उन्नीस, वीस, इक्कीस, वाईस, ...्वीस, तिरेपन, चौवन, पचपन, छप्पन, सत्तावन, अट्ठावन, उनसठ, ...ठ, इकसठ, तिरेसठ, चौसठ, पेंसठ, छियासठ, सडसठ, अडसठ, उन-...तर, सत्तर, इकहत्तर, वहत्तर, तिहत्तर और चौहत्तर। ये उनतीस ...स्थान है, जिनमे भूयस्कार वन्ध अट्ठाईस होते है। जो इस ...कार है —

उपशान्तमोह गुणस्थान मे एक वेदनीय का वंध कर गिरते समय ...सवे गुणस्थान मे ज्ञानावरण पाच, दर्शनावरण चार, अंतराय पाच, ...च्च गोत्र और यश:कीर्ति के साथ वेदनीय का वन्ध करने से सत्रह ...कृति के वंध से प्रथम समय में पहला भूयस्कार बंध होता है।

दसवे गुणस्थान से पतित होने पर नौवे गुणस्थान मे सज्वलन ...ोभ के साथ अठारह प्रकृति का वंध करने पर दूसरा भूयस्कार वंध ...ोता है। संज्वलन माया के साथ उन्नीस प्रकृतियो को वाधने से ...ीसरा भूयस्कार वन्ध और संज्वलन मान के साथ वीस को वाधने से ...ौथा भूयस्कार वन्ध, संज्वलन कोध के साथ इक्कीस का वंध करने ...े पाचवा भूयस्कार वंध तथा पुरुष वेद के साथ वाईस का बंध करने ...े छठा भूयस्कार और उसके साथ हास्य, रति, भय और जुगुप्सा ...इन चार प्रकृतियो का अधिक वन्ध करने से अपूर्वकरण के सातवे भाग मे छव्वीस का वंध करने से सातवा भूयस्कार बन्ध होता है। उसके मध्य आठवे गुणस्थान के छठे भाग में देवप्रायोग्य नामकर्म की सत्ताईस प्रकृतियों का वंध करने से तिरेपन का वंध, यह आठवा भूयस्कार, पुनः तीर्थंकर नामकर्म सहित देवप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियो को वाधने पर चौवन के वंध का नौवा भूयस्कार वन्ध तथा आहारकद्विक सहित तीस का वंध करने से पचपन का वंध करने पर दसवा भूय-स्कार और इन पचपन को तीर्थंकर नामकर्म सहित वाधने से छप्पन

करना अवस्थित वन्ध कहलाता है। जैसे आठ कर्म को बाध
का, सात को बाधकर सात का, छह को बाधकर छह का,
बाधकर एक का वन्ध करना अवस्थित वन्ध है और किसी भी
वन्ध न करके पुनः कर्म वन्ध करने पर पहले समय में अवक्त
होता है—'पढमे समए अवत्तव्वो।'

भूयस्कार आदि बधों विषयक विशेष स्पष्टीकरण

भूयस्कार आदि उक्त चार प्रकार के बंधों के संबन्ध में यह
जानना चाहिए कि भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य वन्ध केव
समय में ही होते है और अवस्थित बंध द्वितीय आदि समयों
है। जैसे कोई छह कर्मों का बंध करके सात का बंध करता है
भूयस्कार बंध है लेकिन दूसरे समय में यही भूयस्कार नही हो
है क्योंकि प्रथम समय में सात का बंध करके यदि दूसरे समय
का बंध करता है तो भूयस्कार वदल जाता है और छह कर्म
करता है तो अल्पतर हो जाता है तथा सात का करता है त
स्थित हो जाता है।

उक्त कथन का साराश यह है कि प्रकृतिसंख्या मे परिव
बिना अधिक बाँधकर कम बाधना, कम बांधकर अधिक बाधन
कुछ भी न बांधकर पुनः बाधना केवल एक बार ही संभव है,
पहली बार बाधे हुए कर्मों के बराबर पुनः उतने ही कर्मों को
पुनः संभव है। अतः एक ही अवस्थित वन्ध लगातार कई सम
हो सकता है, किन्तु शेष तीन बंधों मे यह संभव नही है।

इस प्रकार के भूयस्कार आदि बंधों के लक्षण और मूल क
उनकी होने वाली संख्या बतलाकर उत्तर प्रकृतियों में विशेष
कथन करने के पूर्व सामान्य से उत्तर प्रकृतियो में भूयस्कार
चारों बंधों को स्पष्ट करते हैं।

सामान्य से उत्तर प्रकृतियों के उनतीस बंधस्थान होते हैं

। प्रकार है—एक, सत्रह, अठारह, उन्नीस, वीस, इक्कीस, वाईस, छब्वीस, तिरेपन, चौवन, पचपन, छप्पन, सत्तावन, अट्ठावन, उनसठ, साठ, इकसठ, तिरेसठ, चौसठ, पेंसठ, छियासठ, सडसठ, अडसठ, उनहत्तर, सत्तर, इकहत्तर, वहत्तर, तिहत्तर और चौहत्तर। ये उनतीस बंधस्थान है, जिनमें भूयस्कार वन्ध अट्ठाईस होते है। जो इस प्रकार है –

उपशान्तमोह गुणस्थान में एक वेदनीय का वंध कर गिरते समय दसवे गुणस्थान मे ज्ञानावरण पाच, दर्शनावरण चार, अंतराय पाच, उच्च गोत्र और यश कीर्ति के साथ वेदनीय का वन्ध करने से सत्रह प्रकृति के वंध से प्रथम समय में पहला भूयस्कार वंध होता है।

दसवे गुणस्थान से पतित होने पर नौवें गुणस्थान मे सञ्वलन लोभ के साथ अठारह प्रकृति का वंध करने पर दूसरा भूयस्कार वंध होता है। संज्वलन माया के साथ उन्नीस प्रकृतियों को वाधने से तीसरा भूयस्कार वन्ध और संज्वलन मान के साथ वीस को बाधने से चौथा भूयस्कार वन्ध, संज्वलन कोध के साथ इक्कीस का बंध करने से पाचवा भूयस्कार वंध तथा पुरुष वेद के साथ वाईस का बंध करने से छठा भूयस्कार और उसके साथ हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन चार प्रकृतियों का अधिक वन्ध करने से अपूर्वकरण के सातवे भाग में छव्वीस का वंध करने से सातवा भूयस्कार बन्ध होता है। उसके मध्य आठवे गुणस्थान के छठे भाग में देवप्रायोग्य नामकर्म की सत्ताईस प्रकृतियों का वंध करने से तिरेपन का वंध, यह आठवा भूयस्कार, पुनः तीर्थंकर नामकर्म सहित देवप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियो को बाधने पर चौवन के बंध का नौवा भूयस्कार वन्ध तथा आहारकद्विक सहित तीस का वंध करने से पचपन का वंध करने पर दसवा भूयस्कार और इन पचपन को तीर्थंकर नामकर्म सहित वाधने से छप्पन

का वंध होने से ग्यारहवा भूयस्कार, अपूर्वकरण के प्रथम भाग मे छ
को जिन नामकर्म रहित तथा निद्रा और प्रचला सहित वाधने
सत्तावन के बंध में वारहवा भूयस्कार तथा जिननाम सहित अट्ठा
का बंध होने पर तेरहवा भूयस्कार, अप्रमत्त गुणस्थान मे उक्त अट्ठा
वन को देवायु सहित उनसठ का वंध करने पर चौदहवा भूयस्कार
देशविरति गुणस्थान में देवप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियो का वंध करते
साथ ज्ञानावरण पाच, दर्शनावरण छह, वेदनीय एक, मोहनीय तेरह
देवायु एक, नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतिया, गोत्र की एक और अंत
राय की पाच, इस प्रकार साठ प्रकृतियो के वाधने से पन्द्रहवा भूय
स्कार, इन साठ के साथ तीर्थंकर नाम का भी वंध करने से इकसठ
के बंध का सोलहवां भूयस्कार, (यहां किसी भी तरह एक जीव को
एक समय मे बासठ प्रकृतियों का बंध संभव नही, अत' उसका
भूयस्कार भी नही कहा है।) चौथे गुणस्थान मे आयु के अवन्धकाल
मे देवप्रायोग्य नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधने पर ज्ञाना
वरण की पांच, दर्शनावरण की छह, वेदनीय की एक, मोहनीय की
सत्रह, गोत्र की एक, नामकर्म की अट्ठाईस और अंतराय की पाँच इन
तिरेसठ प्रकृतियों का बंध करने से सत्रहवॉ भूयस्कार, देवायु के बंध
के साथ चौसठ प्रकृतियों को बाधने से अठाहरवा भूयस्कार, जिन
नामकर्म सहित पैसठ को बॉधने पर उन्नीसवॉ भूयस्कार, चौथे गुण
स्थान में देव हो और उसके द्वारा मनुष्यप्रायोग्य तीस प्रकृतियो के
वाधने पर छियासठ के वंध मे वीसवा भूयस्कार, मिथ्यात्व गुणस्थान
मे ज्ञानावरण की पाच, दर्शनावरण की नौ, वे्दनीय की एक, मोहनीय
की वाईस, आयु की एक, नाम की तेईस, गोत्र की एक और अंतराय
कीं पाच, इन सड़सठ प्रकृतियों का वंध करने पर इक्कीसवां भूयस्कार,
नामकर्म की पच्चीस और आयु रहित अड़सठ के वाधने पर

-ाईसवा भूयस्कार, आयु सहित उनहत्तर का वंध करने से तेईसवा भूयस्कार तथा नामकर्म को छव्वीस प्रकृतियो के साथ सत्तर प्रकृतियो को वाधने से चौवीसवा भूयस्कार तथा आयु रहित और नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियो के साथ इकहत्तर को वाधने पर पच्चीसवा भूयस्कार, नामकर्म की उनतीस प्रकृतियो के साथ वहत्तर के वंध मे छव्वीसवा भूयस्कार, आयु सहित तिहत्तर का वंध करने पर सत्ताईसवा भूयस्कार और नामकर्म की तीस वाधते ज्ञानावरण की पाच, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की एक, मोहनीय की वाईस, आयु की एक, नाम की तीस, गोत्र की एक और अंतराय की पाच, इस प्रकार चौहत्तर का वंध करने से अट्ठाईसवा भूयस्कार होता है।

यहा प्रकारान्तर से अनेक वंधस्थानक संभव है, जिनका स्वयं विचार कर लेना चाहिए। इसी प्रकार से अट्ठाईस अल्पतर बंध भी विपरीतपने (आरोहण) से होते है और अवस्थित वंध उनतीस समझना चाहिए। अवक्तव्य वंध संभव नही है। सर्व उत्तर प्रकृतियों का अवन्धक अयोगि गुणस्थान मे जीव होता है, उस गुणस्थान से तन नही होने के कारण अवक्तव्य बंध नही होता है।

सामान्य से उत्तर प्रकृतियों मे भूयस्कार आदि बंधो का कथन करने के वाद अव आगे की गाथाओं में प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियों में वंधों को वतलाते है।

उत्तर प्रकृतियों के भूयस्कार आदि बध

> **नव छ चउ दसे दुदु तिदु मोहे दु इगवीस सत्तरस।**
> **तेरस नव पण चउ ति दु इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि ॥२४॥**

शब्दार्थ—नव—नौ प्रकृति का, छ—छह प्रकृति का, चउ—चार प्रकृति का बधस्थान, दसे—दर्शनावरण की उत्तर प्रकृतियो का, दु—दो भूयस्कार बध, दु—दो अल्पतर बध, ति—तीन

अवस्थित वध, दु—दो अवक्तव्य वध, मोहे—मोहनीय कर्म मे, दुइगवीस—बाईस, इक्कीस प्रकृतियो का वन्धस्थान, सत्तरस—सत्रह प्रकृतियो का वन्धस्थान, तेरस—तेरह प्रकृतियो का नव नौ का, पण - पाच का, चउ — चार का, ति - तीन का, दु—दो का, इक्को एक प्रकृति का वधस्थान, नव —नौ भूयस्कार वध, अट्ठ —आठ अल्पतर वन्ध, दस — दस अवस्थित वध, दुन्नि - दो अवक्तव्य वध।

गाथार्थ— दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियो के नौ, छह और चार प्रकृतियो के तीन वंधस्थान है और उनमे दो भूयस्कार, दो अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्य वंध होते है। मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों के वाईस, इक्कीस, सत्रह, तेरह, नौ, पांच, चार, तोन, दो और एक प्रकृति रूप दस बंधस्थान होते है तथा उनमें नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्य बंध होते है।

विशेषार्थ—मूल कर्मप्रकृतियों के बंधस्थान और उनमें भूयस्[कार] आदि वन्धो की संख्या वतलाने के वाद इस गाथा से प्रत्येक कर्म [की] उत्तर प्रकृतियो के बन्धस्थान और भूयस्कार आदि वन्धों का क[थन] प्रारम्भ किया गया है।

सबसे पहले दर्शनावरण और मोहनीय कर्म के वंधस्थानों [और] उनमे भूयस्कार आदि वंधो को गिनाया है।

मूल कर्मप्रकृतियो के पाठक्रम के अनुसार सबसे पहले ज्ञानाव[रण] कर्म के वंधस्थानों और उनमें भूयस्कार आदि वंधो को न वतला[कर दर्शनावर]ण और मोहनीय कर्म मे इस प्रकरण को प्रारम्भ करने [का कारण] यह है कि भूयस्कार आदि वंध दर्शनावरण, मोहनीय और

कर्म इन तीन कर्मों की उत्तर प्रकृतियो मे होते है, शेप पाच कर्मों[1] में उनकी संभावना नही है। क्योकि ज्ञानावरण और अंतराय कर्म की पाचो प्रकृतियां एक साथ ही बंधती है और एक साथ रुकती है। जिससे दोनो कर्मों का पंच प्रकृति रूप एक ही वन्धस्थान होता है और जब एक ही बंधस्थान है तो उसमे भूयस्कार आदि बंध संभव नही है। इस दशा मे तो सर्वदा अवस्थित वन्ध रहता है। इसी प्रकार वेदनीय, आयु और गोत्रकर्म की एक समय में एक ही प्रकृति बंधती है। अत इनमें भी भूयस्कार आदि बंध नही होते है।[2]

दर्शनावरण और मोहनीय कर्म के बंधस्थानों व उनमे भूयस्कार आदि बंधो की संख्या नीचे लिखे अनुसार समझना चाहिये।

दर्शनावरण कर्म के बंधस्थान आदि की संख्या

दर्शनावरण कर्म की चक्षुदर्शनावरण आदि नौ प्रकृतिया है और

---

१ ज्ञानावरण, वेदनीय, आयु, गोत्र, अतराय।

२ (क) तिण्णि दस अट्ठ ठाणाणि दसणावरणमोहणामाण।
एत्थेव य भुजगारा सेसेसेय हवे ठाण॥

—गो० कर्मकाड ४५८

—दर्शनावरण, मोहनीय और नाम कर्म मे क्रमश तीन, दस और आठ वन्धस्थान होते है और इन्ही मे भुजाकार वध आदि भी होते है। शेप कर्मो मे केवल एक ही वधस्थान होता है।

(ख) वन्धट्ठाणा तिदसट्ठ दसणावरणमोहनामाण।
सेसाणेगमवट्ठियवन्धो सव्वत्थ ठाण समो॥

—पचसंग्रह २२२

—दर्शनावरण के तीन वन्धस्थान है, मोहनीय के दस वन्धस्थान और नामकर्म के आठ बंधस्थान है तथा शेप कर्मो का एक-एक ही वन्धस्थान है। जितने वन्धस्थान होते हैं, उतने ही अवस्थित वन्ध होते है।

उनमें नौ, छह और चार प्रकृतियों के इस प्रकार से तीन वन्धस्थान होते है—नव छ चउ दंसे। दर्शनावरण कर्म के तीन वन्धस्थान मानने का कारण यह है कि दूसरे सासादन गुणस्थान तक तो सभी प्रकृतियों का वंध होने से नौ प्रकृतिक वंधस्थान होता है। सासादन गुणस्थान के अंत में स्त्यानर्द्धित्रिक के वंध की समाप्ति हो जाती है अतः तीसरे मिश्र गुणस्थान से लेकर आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के के प्रथम भाग तक शेष छह प्रकृतियों का ही वन्धस्थान है और अपूर्वकरण के प्रथम भाग के अन्त में निद्रा और प्रचला के वंध का निरोध हो जाने से आगे दसवे सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक शेष चार प्रकृतियो का ही बन्धस्थान होता है। इस प्रकार दर्शनावरण के नौ प्रकृति रूप, छह प्रकृति रूप और चार प्रकृति रूप ये तीन वंधस्थान है।[1] इनमे भूयस्कर आदि वंध क्रमशः 'दुदु तिदु' दो, दो, तीन दो है, यानी दो भूयस्कर, दो अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्य वन्ध होते है। जो इस प्रकार है—

आठवे अपूर्वकरण गुणस्थान के दूसरे भाग से लेकर दसवे सूक्ष्म संपराय गुणस्थान तक मे से किसी एक गुणस्थान मे चार प्रकृतियों का वन्ध करके जव कोई जीव अपूर्वकरण गुणस्थान के द्वितीय भाग नीचे आकर छह प्रकृतियों का वन्ध करता है तव पहला भूयस्कर वन्ध होता है और वहा से भी गिरकर जव नौ प्रकृतियो का वंध करे

---

१ पञ्चसग्रह के सप्ततिका अधिकार मे भी दर्शनावरण के तीन वधस्थान इसी प्रकार वतलाये हैं—

नवछच्चचउहा वज्झई दुगट्ठ दसमेण दसणावरण ॥१०

दर्शनावरण के तीन वन्धस्थान है। उनमे से पहले, दूसरे गुणस्थान मे का, उनमे आगे आठवें गुणस्थान तक छह प्रकृति का और आगे दस गुणस्थान तक चार प्रकृति का वन्धस्थान होता है।

ै तव दूसरा भूयस्कार वंध होता है। इस प्रकार से दर्शनावरण कर्म
ी उत्तर प्रकृतियों मे दो भूयस्कार वन्ध समझना चाहिये।

भूयस्कार वंध की तरह दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियों में
अल्पतर बंध भी दो समझना चाहिये। क्यों अल्पतर वंध भूयस्कार वंध
े विपरीत होते है। इसीलिये जव कोई जीव नीचे के गुणस्थानों में
नौ प्रकृतियो का वंध करके तीसरे आदि गुणस्थानों में छह प्रकृतियों का
वन्ध करता है तव पहला अल्पतर वन्ध होता है और जव छह का
न्ध करके चार का वन्ध करता है तव दूसरा अल्पतर वंध होता है।
लेकिन अवस्थित वन्ध तीन होते है। क्योंकि दर्शनावरण कर्म के
वन्धस्थान तीन ही है और दो अवक्तव्य वन्ध इस प्रकार समझना
चाहिये कि ग्यारहवे गुणस्थान मे दर्शनावरण का विल्कुल वन्ध न
करके जव कोई जीव वहाँ से गिरकर दसवे गुणस्थान मे चार प्रकृतियों
का वन्ध करता है तव पहला अवक्तव्य वन्ध होता है और जव ग्यारहवे
गुणस्थान में मरण करके अनुत्तर देवो में उत्पन्न होता है.तव वहाँ प्रथम
समय में दर्शनावरण कर्म की छह प्रकृतियो का वन्ध करता है, जो
दूसरा अवक्तव्य वन्ध है।

इस प्रकार से दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियो के बंधस्थानो
और उनमें दो भूयस्कार, दो अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अव-
क्तव्य वंधों का कथन करने के वाद अव मोहनीय कर्म की उत्तर
प्रकृतियो के वन्धस्थानो और भूयस्करादि वंधों को वतलाते है।

मोहनीय कर्म के वंधस्थान आदि की सख्या

मोहनीय कर्म की अट्ठाईस उत्तर प्रकृतियाँ है। लेकिन उनमें से
सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मोहनीय का वंध न होने से वंध
छव्वीस प्रकृतियां है। इनमे वाईस, इक्कीस, सत्रह, तेरह, नौ,
चार, तीन, दो और एक प्रकृति का, इस प्रकार से कुल दस वंध
होते है। वे इस प्रकार है—

स्त्री, पुरुप, नपुसक इन तीन वेदो मे से एक समय मे एक ही
का तथा हास्य-रति व शोक-अरति में से एक समय मे एक ही
का बंध होता है। अतः मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियो में
सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व तथा तीन वेदो में से कोई दो वेद और
हास्य-रति, अरति-शोक, इन दोनो युगलों मे से कोई एक युगल
कम करने से कुल छह प्रकृतियो को कम कर देने पर शेप बाईस प्र
तिया ही एक समय मे वन्ध को प्राप्त होती है। यह पहला बंधस्था
है। इस वंधस्थान की बाईस प्रकृतियाँ इस प्रकार है—

मिथ्यात्व, अनन्तानुवंधी कषाय चतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण क
चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, संज्वलन कषाय चतुष्क,
वेद, एक युगल, भय और जुगुप्सा। इस वाईस प्रकृति रूप वंधस्थ
का बन्ध केवल पहले गुणस्थान में होता है।

दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व के सिवाय शेष इक्कीस प्रकृतियो
तीसरे, चौथे गुणस्थान मे अनन्तानुवंधी क्रोध, मान, माया, लो
सिवाय शेष सत्रह का, पांचवे गुणस्थान मे अप्रत्याख्यानावरण क
चतुष्क का वंध न होने से शेष तेरह प्रकृतियो का वंध होता है
क्रमश दूसरे, तीसरे और चौथे वंधस्थान है। इसके अनन्तर
सातवे और आठवे गुणस्थान मे प्रत्याख्यानावरण कपाय चतु
वन्ध न होने के कारण शेप नौ प्रकृतियो का ही वन्ध होता है। अ
गुणस्थान के अन्त मे हास्य, रति, भय और जुगुप्सा का वन्धवि
हो जाने से नौवे गुणस्थान के प्रथम भाग में पांच प्रकृतियों का ही
स्थान होता है। दूसरे भाग में वेद का अभाव हो जाने से चार
तीसरे भाग मे संज्वलन क्रोध के वंध का अभाव हो जाने के का
तीन ही प्रकृतियो का वंध होता है। चौथे भाग मे संज्वलन मान
वन्ध न होने से दो प्रकृतियो का वन्धस्थान है। पाचवे भा
मान माया का भी वन्ध न होने से केवल एक संज्वलन लोभ

बन्ध होता है। इसके आगे बादर कषाय का अभाव हो जाने से ज्वलन लोभ प्रकृति का भी बंध नही होता है। इस प्रकार मोहनीय र्म के दस बन्धस्थान जानना चाहिये। इन दस वंधस्थानो मे नौ यस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्य बंध होते ।[1] जिनका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

मोहनीय कर्म के भूयस्कार आदि बंध—एक को बाध कर दो का ध करने पर पहला भूयस्कार बंध और दो को बांधकर तीन का बंध रने पर दूसरा भूयस्कार बंध होता है। इसी प्रकार तीन को बाध र चार का बंध करने पर तीसरा, चार को बाधकर पांच का बन्ध रने पर चौथा, पाच का बंध करके नौ का बंध करने पर पाचवा, नौ का बंध करके तेरह का बन्ध करने पर छठा, तेरह का बंध करके सत्रह का बंध करने पर सातवा, सत्रह का बन्ध करके इक्कीस का बन्ध करने पर आठवा और इक्कीस का बन्ध करके बाईस का बन्ध करने पर नौवा भूयस्कार बन्ध होता है।

आठ अल्पतर[2] बंध इस प्रकार है—बाईस का बंध करके सत्रह

---

[1] गो० कर्मकाड मे मोहनीय कर्म के भुजाकारादि बधो मे कुछ अन्तर है, उसमे अधिक माने गये है, जिनका विवरण परिशिष्ट मे दिया गया है।

[2] मोहनीय कर्म के आठ अल्पतर बन्ध होते है। बाईस का बन्ध करके इक्कीस का बन्ध रूप अल्पतर बन्ध नही बनाने का कारण यह है कि बाईस का बन्ध पहले गुणस्थान मे होता है और इक्कीस का बन्ध दूसरे गुणस्थान मे। लेकिन पहले गुणस्थान से जीव दूसरे गुणस्थान मे नही जाता है। दूसरा गुणस्थान अवक्रान्ति की अपेक्षा से है, उत्क्रान्ति की अपेक्षा से नही। यदि जीव पहले गुणस्थान से दूसरे गुणस्थान मे जा सकता तो इक्कीस का अल्पतर बन्ध बन सकता था। लेकिन मिथ्यादृष्टि स

(अगले पृष्ठ

का वंध करने पर पहला अल्पतर और सत्रह का वन्ध करके त
का वन्ध करने पर दूसरा अल्पतर होता है। इसी प्रकार तेरह का व
करके नौ का वन्ध करने पर तीसरा, नौ का वन्ध करके पांच का व
करने पर चौथा, पाच का वन्ध करके चार का वंध करने पर पांच
चार का वन्ध करके तीन का वन्ध करने पर छठा, तीन का वन्ध क
दो का वन्ध करने पर सातवा और दो का वन्ध करके एक का व
करने पर आठवा अल्पतर वन्ध होता है।

वंधस्थान दस होने से अवस्थित वंध भी दस ही होते है।

दो अवक्तव्य वन्ध निम्न प्रकार है—ग्यारहवे गुणस्थान में मोह
कर्म का वन्ध न करके जव कोई जीव वहां से च्युत होकर नौवे गु
स्थान में आता है और वहा संज्वलन लोभ का वन्ध करता है
पहला अवक्तव्य वन्ध होता है और यदि ग्यारहवे गुणस्थान में आयु
क्षय हो जाने के कारण मरकर के कोई जीव अनुत्तरवासी देवो मे
लेता है और वहां सत्रह प्रकृतियों का वन्ध करता है तो दूसरा अव
वन्ध होता है।

दन सम्यग्दृष्टि नही हो सकता है, उपशम सम्यग्दृष्टि ही सासादन गु
को प्राप्त होता है

छालिगसेसा पर आसाण कोइ गच्छेज्जा ।२३।

उवसमत्तद्धातो पडमाणो छावलिगसेसाए उवसमसमत्तद्धा
उक्कोसाते, जहन्नेण एकसमयसेसाए उवसमसमत्तद्धाए सासायणग
कोति गच्छेज्जा, णो सव्वे गच्छेज्जा ।

— कर्मप्रकृति (उपशम क०)

—उपशम सम्यक्त्व के काल मे कम-से-कम एक समय और अधि
अधिक छह आवली शेप रहने पर कोई-कोई उपशम सम्यग्दृष्टि म
सम्यक्त्व को प्राप्त होता है।

अन बाईस का वन्ध करके इक्कीस का वन्ध रूप अल्पतर वन्ध
नही है।

इस प्रकार से मोहनीय कर्म के दस वन्धस्थान और नौ भूयस्कार, अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्य वन्ध वतलाने के वाद नामकर्म तथा ज्ञानावरण आदि कर्मों के वन्धस्थान व भूयस्कार वन्धो का निरूपण करते है।

तिपणछअट्ठनवहिया वीसा तीसेगतीस इग नामे ।
छस्सगअट्ठतिबन्धा सेसेसु य ठाणमिक्किक्कं ॥२५॥

शब्दार्थ—**तिपणछअट्ठनवहिया** - तीन, पाच, छह, आठ और नौ अधिक, **वीसा** — वीस, **तीस** तीस, **एगतीस** इकतीस, **इग**- एक, **नामे**—नामकर्म **छ** – छह भूयस्कार वध, **स्सग**—सात अल्पतर वन्ध, **अट्ठ** —आठ अवस्थित वध, **तिबंधा**—तीन अवक्तव्य वन्ध, **सेसेसु**—वाकी के ज्ञानावरण आदि पाच कर्मों मे **ठाण**—वन्धस्थान **इक्किक्क**—एक-एक ।

गाथार्थ—नामकर्म मे तीन, पाच, छह, आठ और नौ अधिक वीस तथा तीस, इकतीस, एक प्रकृति रूप बंधस्थान होते है तथा इनमे छह भूयस्कार बंध, सात अल्पतर वन्ध, आठ अवस्थित वन्ध और तीन अवक्तव्य वन्ध है। दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्म के सिवाय शेष पाच कर्मों मे एक-एक वन्धस्थान है।

विशेषार्थ—इस गाथा मे नामकर्म के वन्धस्थानों और उनमें भूयस्कार आदि वन्धों की संख्या तथा शेष पांच कर्मों के वन्धस्थानों को वतलाया है।

नामकर्म के आठ वन्धस्थान है, उनमें से कुछ की संख्या संकेत द्वारा वतलाई है। जैसे कि 'तिपणछअट्ठनवहिया वीसा' तीन अधिक वीस, पाच अधिक वीस, छह अधिक वीस, आठ अधिक वीस, नौ अधिक वीस जिनसे क्रमशः तेईस प्रकृति रूप, पच्चीस प्रकृति रूप, छव्वीस प्रकृति

रूप, अट्ठाईस प्रकृति रूप और उनतीस प्रकृति रूप ये पाच बन जाते है और तीन बंधस्थान क्रमश. तीस प्रकृति रूप, इ प्रकृति रूप और एक प्रकृति रूप है। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रक

नामकर्म की बन्धयोग्य ६७ प्रकृतिया है। एक समय मे ए को सभी प्रकृतियों का बन्ध नही होता है। किन्तु उनमें से ए मे एक जीव के तेईस, पच्चीस आदि प्रकृतिया ही बन्ध को प्राप्त है। इसीलिये नामकर्म के आठ बन्धस्थान माने गये है।

पूर्व मे जिन कर्मों के बन्धस्थानो को बतलाया गया है वे जीवविपाकी है—जीव के आत्मिक गुणो पर ही उनका असर है। किंतु नामकर्म का बहुभाग पुद्गलविपाकी है और अधिकतर उपयोग जीवो की शारीरिक रचना मे ही होता है। भिन्न-भिन्न जीवो की अपेक्षा से एक ही बंधस्थान की अ प्रकृतियों मे अन्तर पड जाता है।

वर्ण चतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण और उप नामकर्म की ये नौ प्रकृतियां ध्रुवबन्धिनी है। चारो गति के जीवो के आठवे गुणस्थान के छठे भाग तक इनका बन्ध अवश्य होता इनके साथ तिर्यंचगति, तिर्यचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, औदारिक हुण्ड संस्थान, स्थावर, अपर्याप्त, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अन अयश कीर्ति, सूक्ष्म-बादर मे से कोई एक, साधारण-प्रत्येक मे से एक, इन चौदह प्रकृतियो को ध्रुवबन्धिनी नौ प्रकृतियो के साथ मि पर (१४+९) तेईस प्रकृति का बन्धस्थान होता है। ये तेईस प्रकृ अपर्याप्त एकेन्द्रियप्रयोग्य है, जिनको एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय पंचेन्द्रिय मिथ्यात्वी बाधता है। अर्थात् इस स्थान का बन्धक मरकर एकेन्द्रिय अपर्याप्त मे ही जन्म लेता है।

इन तेईस प्रकृतियो मे से अपर्याप्त प्रकृति को कम करके पर्या

ास और पराघात प्रकृतियो को मिलाने से एकेन्द्रिय पर्याप्त
पच्चीस का वन्धस्थान होता है। उनमे से स्थावर, पर्याप्त
य जाति, उच्छ्वास और पराघात को घटाकर त्रस, अपर्याप्त
जाति, सेवार्त संहनन और औदारिक अंगोपाग के मिलाने से
अपर्याप्त सहित पच्चीस का स्थान होता है। इसी प्रकार
जाति के स्थान मे त्रीन्द्रिय जाति के मिलाने से त्रीन्द्रिय
त सहित पच्चीस का स्थान, त्रीन्द्रिय जाति के स्थान मे चतु-
जाति के मिलाने से चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त सहित पच्चीस का
और चतुरिन्द्रिय जाति के स्थान मे पंचेन्द्रिय जाति के मिलाने
न्द्रिय अपर्याप्त सहित पच्चीस का स्थान होता है। इसमें तिर्यन्च-
स्थान मे मनुष्यगति के मिलाने से मनुष्य अपर्याप्त सहित
स का स्थान होता है।

स प्रकार से पच्चीस प्रकृति वाला बंधस्थान छह प्रकार का होता
र उसको बाधने वाले जीव एकेन्द्रिय पर्याप्तकों में तथा द्वीन्द्रिय
ादि लेकर सभी अपर्याप्त तिर्यन्च और मनुष्यो मे जन्म ले सकते

नुष्यगति सहित पच्चीस प्रकृतिक बंधस्थान में से त्रस, अपर्याप्त,
गति, पंचेन्द्रिय जाति, सेवार्त संहनन और औदारिक अंगोपाग
टाकर स्थावर, पर्याप्त, तिर्यन्चगति, एकेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास,
ात और आतप तथा उद्योत में से किसी एक को मिलाने पर
द्रिय पर्याप्त युक्त छव्वीस का वन्धस्थान होता है। इस स्थान का
जीव एकेन्द्रिय पर्याप्तक मे जन्म लेता है।

नामकर्म की नौ ध्रुववन्धिनी, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक,
र और अस्थिर मे से एक, शुभ और अशुभ मे से एक, सुभग,
य, यश.कीर्ति और अयशःकीर्ति में से एक, देवगति, पंचे-

जाति, वैक्रिय शरीर, पहला संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रिय अं
सुस्वर, शुभ विहायोगति, उच्छ्वास और पराघात इन प्रकृति
देवगति सहित अट्ठाईस का वन्धस्थान होता है। इस स्थान का
मरकर देव होता है।

नरकगति की अपेक्षा अट्ठाईस का वंधस्थान—नौ ध्रुवबं
त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अ
कीर्ति, नरकगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रिय शरीर, हुण्डसंस्थान
कानुपूर्वी, वैक्रिय अंगोपाग, दुःस्वर, अशुभ विहायोगति, उच्
और पराघात, इन प्रकृति रूप नरकगतियोग्य अट्ठाईस का
स्थान होता है।

नौ ध्रुवबंधिनी तथा त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अ
शुभ अथवा अशुभ, दुर्भग, अनादेय, यशःकीर्ति या अयशःकीर्ति, ति
गति, द्वीन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, हुँण्ड संस्थान, तिर्यंचानु
सेवार्त संहनन, औदारिक अंगोपांग, दुःस्वर, अशुभ विहायोगति, उ
वास, पराघात, इन प्रकृति रूप द्वीन्द्रिय पर्याप्तयुत उनतीस प्रकृ
बंधस्थान होता है। इसमें द्वीन्द्रिय के स्थान मे त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रि
स्थान में चतुरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय के स्थान में पंचेन्द्रिय को मिला
क्रमशः त्रीन्द्रिययुत, चतुरिन्द्रिययुत और पंचेन्द्रिययुत उनतीस प्र
का वन्धस्थान होता है।

इस स्थान में यह विशेषता समझना चाहिये कि सुभग और दु
आदेय और अनादेय, सुस्वर और दुःस्वर, प्रशस्त और अप्रशस्त विह
गति, इन युगलो में से एक-एक प्रकृति का तथा छह संस्थानो
छह संहननो मे से किसी एक संस्थान का और किसी एक संहनन
वंध होता है। इसमे तिर्यंचगति और तिर्यचानुपूर्वी को घ
मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी के मिलाने से पर्याप्त मनुष्य सहित उन
वंधस्थान होता है।

नौ ध्रुवबंधिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, या अशुभ, आदेय, यश कीर्ति या अयशःकीर्ति, देवगति, पंचे- जाति, वैक्रिय शरीर, प्रथम संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रिय अंगोपाग, र, प्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास, पराघात, तीर्थंकर, इन प्रकृति देवगति और तीर्थंकर सहित उनतीस का बंधस्थान होता है। प्रकार से उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान छह होते है। इन स्थानो बन्धक द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यचो में मनुष्यगति और देवगति में जन्म लेता है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्तयुत उनतीस ार बन्धस्थानो मे उद्योत प्रकृति के मिलाने से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, रन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्तयुत तीस के चार बंधस्थान होते पर्याप्त मनुष्य सहित उनतीस के बन्धस्थान में तीर्थकर प्रकृति के ने से मनुष्यगति सहित तीस का बंधस्थान होता है। देवगति त उनतीस के बन्धस्थान मे से तीर्थंकर प्रकृति घटाकर आहार- क को मिलाने से देवगतियुत तीस का बंधस्थान होता है। इस र तीस प्रकृतिक बंधस्थान छह होते है।

देवगति सहित उनतीस के बंधस्थान में आहारकद्विक के मिलाने गति सहित इकतीस का बन्धस्थान होता है। एक प्रकृतिक बंध- । में केवल एक यश कीर्ति का ही बन्ध होता है।

इस प्रकार नामकर्म के आठ बंधस्थानों को बतलाकर अब इनमें कार बन्ध आदि की संख्या बतलाते है।

कारादि बध

नामकर्म के बंधस्थान आठ है और उनमें भूयस्कार आदि बन्धो ख्या बतलाने के लिये संकेत दिया है कि 'छस्सगअट्ठति बन्ध छह भूयस्कार, सात अल्पतर, आठ अवस्थित और तीन अवक्त होते है। जिनका विवरण इस प्रकार है—

तेईस का वन्ध करके पच्चीस का वन्ध करना पहला भूय-
वन्ध, पच्चीस का वन्ध करके छब्बीस का वन्ध करना दूसरा भूय-
छब्बीस का वन्ध करके अट्ठाईस का वंध करना तीसरा भूय-
अट्ठाईस का वंध करके उनतीस का वंध करना चौथा भूयस्कार,
तीस का वन्ध करके तीस का वन्ध करना पाचवा भूयस्कार, आहा-
द्विक सहित तीस का वंध करके इकतीस का वन्ध करना छठा भूय-
वन्ध होता है। इस प्रकार छह भूयस्कार वन्ध है।

नौवें गुणस्थान मे एक यश कीर्ति का वन्ध करके वहाँ से
होकर आठवे गुणस्थान मे जब कोई जीव तीस अथवा इकतीस
बन्ध करता है तो वह पृथक् भूयस्कार नही गिना जाता है। क्
उसमे भी तीस अथवा इकतीस का ही वन्ध करता है और यही
पाचवे और छठे भूयस्कार वन्धो में भी होता है, अत उसे पृथक्
गिना है।

यद्यपि कर्मप्रकृति के सत्वाधिकार गाथा ५२ की टीका
उपाध्याय यशोविजयजी ने कर्मों के वन्धस्थानों और उनमे भूय-
आदि वन्धों के वर्णन के प्रसंग में नामकर्म के वन्धस्थानों में छह
स्कार बन्धो को वतलाकर सातवे भूयस्कार के संबन्ध में एक मत
उल्लेख किया है कि एक प्रकृति का बन्ध करके इकतीस का वन्ध
पर सातवा भूयस्कार वन्ध होता है। जैसा कि शतक चूर्णि में
है—एक्काओ वि एक्कतीसं जाइ त्ति भुओगारा सत्त—एक को वा
इकतीस का वन्ध करता है, अतः नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों मे
भूयस्कार वन्ध होते है।

इसका उत्तर यह है कि अट्ठाईस आदि वन्धस्थानो के भूयस्
को वतलाते हुए इकतीस के वन्ध रूप भूयस्कार का पहले ही
लिया है। अतः एक की अपेक्षा से उसे अलग नही गिना जा

यहाँ भिन्न-भिन्न वन्धस्थानों की अपेक्षा से भूयस्कारों के भेदों की
क्षा नही की है, यदि विभिन्न वन्धस्थानों की अपेक्षा विवक्षा की
ये तो वहुत से भूयस्कार हो जायेगे। जैसे कभी अट्ठाईस का बंध
के इकतीस का वन्ध करता है, कभी उनतीस का बन्ध करके इक-
स का बन्ध करता है और कभी एक का वन्ध करके इकतीस का
ध करता है तथा कभी तेईस का वन्ध करके अट्ठाईस का वन्ध
रता है और कभी पच्चीस का वन्ध करके अट्ठाईस का वन्ध करता
। इस प्रकार सात से भी अधिक वहुत से भूयस्कार हो सकते है, जो
हाँ इष्ट नही है। अतः भिन्न-भिन्न वन्धस्थानों की अपेक्षा से भूयस्कार
भेद नही बताये है। इस प्रकार से भूयस्कार बन्ध छह होते है।

अव सात अल्पतर बंध वतलाते है। अपूर्वकरण गुणस्थान में देव-
ति योग्य २८, २९, ३० अथवा ३१ का बन्ध करके १ प्रकृतिक बंध-
थान का वन्ध करने पर पहला अल्पतर बंध होता है। आहारकद्विक
र तीर्थकर सहित इकतीस का बंध करके जो जीव देवलोक में उत्पन्न
ता है, वह प्रथम समय में ही मनुष्यगतियुत तीस प्रकृतियों का बन्ध
रता है, यह दूसरा अल्पतर वन्ध है। वही जीव स्वर्ग से च्युत होकर
नुष्यगति में जन्म लेकर देवगति योग्य तीर्थकर सहित उनतीस
कृतियो का वन्ध करता है तव तीसरा अल्पतर बंध होता है। जब
ोई तिर्यंच या मनुष्य, तिर्यंचगति के योग्य पूर्वोक्त उनतीस प्रकृतियों
ा वन्ध करके विशुद्ध परिणामों के कारण देवगति योग्य अट्ठाईस
कृतियों का वंध करता है तव चौथा अल्पतर वंध, अट्ठाईस प्रकृ-
तिक वन्धस्थान का वन्ध करके संक्लेश परिणामों के कारण जब कोई
जीव एकेन्द्रिय के योग्य छव्वीस प्रकृतियों का बंध करता है तब पाँचवा
अल्पतर वन्ध होता है। छव्वीस का वन्ध करके पच्चीस का व-
करने पर छठा अल्पतर वन्ध होता है तथा पच्चीस का वन्ध क-
ाईस का वन्ध करने पर सातवा अल्पतर बंध होता है ।

आठ वन्धस्थानों की अपेक्षा से आठ ही अवस्थित वन्ध होते है।

ग्यारहवें गुणस्थान में नामकर्म की एक भी प्रकृति को न बा. कर वहाँ से च्युत होकर जब कोई जीव एक प्रकृति का बंध करता तव पहला अवक्तव्य वन्ध होता है तथा ग्यारहवें गुणस्थान मे मर करके कोई जीव अनुत्तर देवों में जन्म लेकर यदि मनुष्यगति यो तीस प्रकृति का बन्ध करता है तव दूसरा अवक्तव्य बन्ध होता है अ मनुष्यगति योग्य उनतीस प्रकृति का बन्ध करता है तो तीसरा अ क्तव्य बन्ध होता है। इस प्रकार तीन अवक्तव्य वन्ध होते हैं।[1]

इस प्रकार से गाथा के तीन चरणों में नामकर्म के बंधस्था और उनमें भूयस्कर आदि बंधों का निर्देश करके शेष कर्मों के बं स्थानों को बतलाने हेतु गाथा के चौथे चरण में संकेत दिया है 'सेसेसु य ठाणमिक्किक्कं'। शेष पाच कर्मों—ज्ञानावरण, वेदनीय, आ गोत्र, अन्तराय—में एक-एक ही बंधस्थान होता है। क्योंकि ज्ञा वरण और अंतराय की पांच-पांच प्रकृतियां एक साथ ही बंधती और एक साथ ही रुकती है। वेदनीय, आयु, गोत्र कर्म की उ प्रकृतियों में भी एक समय में एक-एक प्रकृति का ही बंध होता जिससे इन कर्मों में भूयस्कार आदि बंध नही होते है। क्योंकि ज एक ही प्रकृति का बंध होता है, वहां थोड़ी प्रकृतियो को वांध अधिक प्रकृतियों को बांधना या अधिक प्रकृतियों को बाधकर थो प्रकृतियों को वांधना संभव नही होता है।

---

१ गो० कर्मकाड गा० ५६५ से ५८२ तक नामकर्म के भूयस्कार आ वन्धो की विस्तार से चर्चा की है। उसमे गुणस्थानो की अपेक्षा से भूयस्का आदि वध वतलाये है और जितने प्रकृतिक स्थान को वांधकर जि प्रकृतिक स्थानो का वन्ध सभव है और उन-उन स्थानो मे जितने भग सकते है, उन सवकी अपेक्षा से भूयस्कार आदि को वतलाया है।

यह एक सामान्य नियम है किन्तु वेदनीय के सिवाय शेष चार र्मों में अवक्तव्य और अवस्थित बंध होते है। क्योकि ग्यारहवे गुण-थान में ज्ञानावरण, अंतराय और गोत्र कर्म का वंध न करके जव गेई जीव वहा से च्युत होता है और नीचे के गुणस्थान में आकर पुनः न कर्मों का बंध करता है तव प्रथम समय में अवक्तव्य बंध होता और द्वितीय आदि समयों में अवस्थित बंध होता है तथा त्रिभाग मे व आयु कर्म का बंध होता है तब प्रथम समय में अवक्तव्य बंध ोता है और द्वितीय आदि समयों में अवस्थित बंध होता है। किन्तु दनीय कर्म में केवल अवस्थित बंध ही होता है, अवक्तव्य बंध नही। योंकि वेदनीय कर्म का अबन्ध अयोगि-केवली गुणस्थान में होता है, केन्तु वहां से गिरकर जीव के नीचे के गुणस्थान मे नहीं आने के कारण पुनः वंध नही होता है।

इस प्रकार से कर्मों की बंध-योग्य १२० उत्तर प्रकृतियों में बंध-स्थानों और उनके भूयस्कर आदि बंधों को बतलाया गया है। जिनका कोष्टक पृष्ठ ११६ पर दिया गया है। प्रकृतिबंध का वर्णन करने के वाद अव आगे की गाथाओं में स्थितिबंध का वर्णन करते है।

मूल कर्मो का उत्कृष्ट, जघन्य स्थितिबध

वीसयरकोडिकोडी नामे गोए य सत्तरी मोहे।
तीसयर चउसु उदही निरयसुराउम्मि तित्तीसा ॥२६॥
मुत्तुं अकसायठिइं बार मुहुत्ता जहन्न वेयणिए।
अट्ठट्ठ नामगोएसु सेसएसु मुहुत्तंतो ॥२७॥

शब्दार्थ—**वीस**—वीस, **अयरकोडिकोडी**—कोड़ा-कोडी सागरोपम, **नामे**—नामकर्म की, **गोए**—गोत्रकर्म की, **य**—और **सत्तरी**—सत्तर कोड़ा-कोडी सागरोपम, **मोहे**—मोहनीयकर्म की,

आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियो के बंधस्थान तथा भूयस्कार आदि बन्धों का कोष्टक

आठ कर्म	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अंतराय
उत्तर प्रकृति	५	९	२	२६	४	६७	२	५
कितने बधस्थान	१	३	१	१०	१	८	१	१
कितनी प्रकृतियो का बधस्थान	५	९, ६, ४,	१	२२,२१ १७, १३, ९, ५, ४, ३, २, १	१	२३, २५, २६, २८, २९, ३०, ३०, १,	१	१
भूयस्कार वध	०	२	०	९	०	६	०	०
अल्पतर बध	०	२	०	८	०	७	०	०
अवस्थित वध	१	३	१	१०	१	३	१	१
अवक्तव्य वध	१	२	०	२	१	३	१	१

तोस—तीस कोड़ाकोडी सागरोपम, इयरचउसु—शेष चार कर्मो की, उदही—सागरोपम, निरयसुराउंमि—नारक और देवो की आयु, तित्तीसा—तेतीस सागरोपम ।

मुत्त—छोडकर, अकसाय—अकपायी को, ठिइ—स्थिति, बार मुहुत्ता—वारह मुहूर्त, जहन्न—जघन्य, वेयणिए—वेदनीय कर्म की, अट्ठट्ठ—आठ-आठ मुहूर्त, नामगोएसु—नाम और गोत्र कर्म की, सेसएसु—शेप पाच कर्मों की, मुहुत्तंतो—अन्तर्मुहूर्त ।

गाथार्थ—नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोड़ी सागरोपम होती है। मोहनीय कर्म की सत्तर कोडाकोड़ी सागरोपम, बाकी के चार कर्मों की तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम तथा नारक और देवो की आयु तेतीस सागरोपम है ।

अकषायी को छोड़कर (सकषायी की) वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति वारह मुहूर्त है। नाम और गोत्र कर्म की आठ-आठ मुहूर्त तथा शेष पांच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्त-र्मुहूर्त प्रमाण होती है।

विशेषार्थ—इन दोनों गाथाओं में आठ मूल कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति वतलाई है। नामक्रम से कर्मों की स्थिति न बतलाकर एक जैसी स्थिति वाले कर्मो को एक साथ लेकर उनकी स्थिति का प्रमाण कहा है। जैसे कि नाम और गोत्र कर्म की स्थिति वराबर है तो उनको एक साथ लेकर कहा है कि 'वीसयरकोडिकोडी नामे गोए' नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति वीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। 'तीसयर चउसु उदही' चार कर्मों की स्थिति तीस कोड़ाकोडी सागरोपम है। लेकिन इन चार कर्मो के नामों का में संकेत नही है। क्योंकि नाम और गोत्र की स्थिति अलग से ५

गई है और मोहनीय कर्म की स्थिति 'सत्तरी मोहे' पद से मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम है तथा 'निरयसुराउंमि तित्तीसा' पद द्वारा आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम बतला दी है। अतः इन नाम, गोत्र, मोहनीय और आयुकर्म से शेष रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय इन चार कर्मों की स्थिति तीस कोडाकोड़ी सागरोपम समझना चाहिये।

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाने के बाद उनकी जघन्य स्थिति बतलाने के लिये कहा है 'बार मुहुत्ता जहन्ना वेयणिए' वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है, 'अट्ठ नाम गोएसु' नाम और गोत्र कर्म की आठ-आठ मुहूर्त तथा इन वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म से शेष रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अंतराय इन पांच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त प्रमाण है—सेसएसु मुहुत्तंतो।

उक्त कथन का सारांश यह है कि घातिकर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोडी सागरोपम, मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तथा अघाति कर्म वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम, आयु की तेतीस सागरोपम और नाम व गोत्र की स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम है [1] तथा जघन्य स्थिति क्रमशः इस प्रकार है कि—

---

१ (क) तीस कोडाकोडी तिघादितदियेसु वीस णामदुगे।
सत्तरि मोहे सुद्ध उवही आउस्स तेतीस ॥

—गो० कर्मकांड १२८

(ख) आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम कोटिकोट्यः परा स्थितिः। सप्ततिर्मोहनीयस्य। नामगोत्रयोर्विंशतिः। त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य।

—तत्त्वार्थसूत्र ८। १५, १६, १७, १८

· ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय की अंतर्मुहूर्त, ·दनीय की बारह मुहूर्त, आयु की अन्तर्मुहूर्त, नाम और गोत्र की ाठ-आठ मुहूर्त है ।[1]

स्थितिबन्ध का मुख्य कारण कषाय है। कषायोदयजन्य संक्लिष्ट रिणामों की तीव्रता होने पर उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होता है और षाय परिणामों के मंद होने पर जघन्य स्थिति का बन्ध होता है था मध्यम परिणामों द्वारा अजघन्योत्कृष्ट (मध्यम) स्थिति का न्ध होता है।

यद्यपि प्रकृतिबन्ध के पश्चात उसके स्वामी का वर्णन करना ाहिये था लेकिन बंधस्वामित्व की टीका में उसका विस्तार से वर्णन कये जाने के कारण पुनरावृत्ति न करके यहां स्थितिबन्ध को तलाया है।

बन्ध हो जाने पर जो कर्म जितने समय तक आत्मा के साथ ठहरा रहता है, वह उसका स्थितिबन्ध कहलाता है। कर्म बंधने के बाद ही तत्काल अपना फल देना प्रारम्भ नही कर देते है और न एक साथ ही एक समय मे अपना पूरा फल दे देते है। किन्तु यथासमय फल देना प्रारम्भ करके अपनी शक्ति को क्रम से नष्ट करते है। इस बंधने के समय से लेकर निर्जीर्ण होने के समय तक कर्मों की आत्मा के साथ संबद्ध रहने की अधिकतम और न्यूनतम कालमर्यादा को बतलाने के लिए स्थितिबन्ध का कथन किया जाता है। अधिकतम

---

१ (क) बारस य वेयणीये णामे गोदे य अट्ठ य मुहुत्ता।
भिण्णमुहुत्त तु ठिदी जहण्णय सेसपचण्ह ॥
—गो० कर्मकांड १३९

(ख) अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य । नामगोत्रयोरष्टौ । शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् ।
—तत्वार्थसूत्र ८ । १९,

कालमर्यादा को उत्कृष्ट स्थिति और न्यूनतम कालमर्यादा को जघ
स्थिति कहते है। ऊपर कही गई दोनों गाथाओं में ज्ञानाव
आदि आठ कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बतलाई है।
उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति के बीच जीवो की अध्यवसाययोग
से मध्यम स्थितियों के अनेक प्रकार हो जाते है।

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की जो उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है
वह इतनी अधिक है कि संख्या प्रमाण के द्वारा उसका बतलाना अशक्य
सा है, अतः उसे उपमा प्रमाण के एक भेद सागरोपम द्वारा बतला
गया है तथा एक करोड़ को एक करोड से गुणा करने पर जो राशि
आती है उसे कोड़ाकोडी कहते है। आयुकर्म को छोडकर शेष सा
कर्मों की कोड़ाकोड़ी सागरोपमों के द्वारा उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है।

आयुकर्म ही एक ऐसा कर्म है जिसकी स्थिति कोडाकोड़ी साग
रोपम में नही किन्तु सिर्फ सागरोपम मे बताई है। साथ ही आयुकर्म
की उत्कृष्ट स्थिति बतलाने के बारे में यह भी विशेषता रखी है कि
उसके दो भेदों—नरकायु और देवायु की भी उत्कृष्ट स्थिति बतला दी
गई है। इसका कारण यह है कि मूल आयुकर्म की जो उत्कृष्ट
स्थिति है, वही उत्कृष्ट स्थिति नरकायु और देवायु की भी है। अत
ग्रन्थलाघव की दृष्टि से मूल आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति को अलग
से न बतलाकर दो उत्तर प्रकृतियों के द्वारा उसकी तथा उसकी दो
उत्तर प्रकृतियो की भी उत्कृष्ट स्थिति बतला दी है।

कषायो का उदय दसवे सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक ही होता है
अतः वहाँ तक कर्मों के स्थितिबन्ध की स्थिति है और दसवे गुण
स्थान तक के जीव सकषाय और ग्यारहवे से चौदहवे—उपशान्तमोह
क्षीणमोह, सयोगिकेवली, अयोगिकेवली गुणस्थान तक के जीव अक
कहे जाते है। आठ कर्मों मे से एक वेदनीय कर्म ही ऐसा है जा

षाय जीवों को भी बंधता है और शेष सात कर्म केवल सकषाय
वो को बंधते है । अकषाय जीवो को जो वेदनीय कर्म का वन्ध
ता है, उसकी केवल दो समय की स्थित होती है, पहले समय में
का बन्ध होता है और दूसरे समय मे उसका वेदन होकर निर्जरा
जाती है। अतः कर्मों की जघन्य स्थिति वतलाने के प्रसंग मे वेद-
य कर्म की जो बारह मुहूर्त की जघन्य स्थिति बतलाई वह 'मुत्तुं
सायठिइं' अकषाय जीवो को छोडकर सकषाय जीवो की समझना
हिये। अर्थात् सकषाय वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त[1]
और अकषाय वेदनीय की दो मुहूर्त ।

आगे उत्तर प्रकृतियो के आश्रय से कर्मों के अबाधाकाल
नुदयकाल) का कथन किया जायेगा। अत. उसके अनुसार मूल
तियो का भी अबाधाकाल समझना चाहिये। यानी ज्ञानावरण,
र्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म का तीन हजार वर्ष, मोहनीय
सात हजार वर्ष, नाम तथा गोत्र कर्म का दो हजार वर्ष एवं आयु
र्म का अन्तर्मुहूर्त और पूर्व कोड़ी का तीसरा भाग। स्थिति मे से
बाधाकाल को कम करने पर जो काल बाकी रहे उसे निषेककाल
भोग्यकाल) जानना चाहिये। अबाधाकाल यानी दलिको की रचना
रहित काल। जिस समय जितनी स्थिति वाला जो कर्म आत्मा
धता है और उसके भाग मे जितनी कर्मवर्गणाये आती है, वे वर्गणाये
तने समय पर्यन्त नियत फल दे सकने के लिये अपनी रचना करती
। प्रारम्भ के कुछ स्थानो मे वे रचना नही करती है। इसी को
बाधाकाल कहते है। अबाधाकाल के बाद के पहले स्थान मे अधिक,
सरे मे उससे कम, तीसरे मे दूसरे से कम, इस प्रकार स्थितिबन्ध के
रम समय तक भोगने के लिये की गई कर्मदलिकों की रचना को
षेक कहा जाता है।

---

[1] उत्तराध्ययन मे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण भी कही है।

अवाधाकाल का ऐसा नियम है कि जघन्य स्थिति बन्ध मे मुहूर्त का अवाधाकाल, समयाधिक जघन्य स्थितिबन्ध से लेकर पल्योपम के असंख्य भागाधिक स्थिति बाधने के समय तक समयाधिक अन्तमुहूर्त तथा उसकी अपेक्षा समयाधिक वन्ध से लेकर दूसरे पल्योपम का असंख्यातवां भाग पूर्ण होने तक दो समय अधिक अन्तमुहूर्त का अवाधाकाल होता है। इस प्रकार पल्योपम के असंख्यातवे भागाधिक वंध में समय-समय का अवाधाकाल बढ़ाते जाने पर पूर्ण कोडाकोडी सागरोपम के वंध में सौ वर्ष का अवाधाकाल होता है। उतने काल के जितने समय होते है, उतने स्थानो मे दलिकों की रचना नही होती है।

इस प्रकार से मूल कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बन्ध के पश्चात अब उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का कथन करते हैं।

उत्तर प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबध

> **विग्घावरणअसाए तीसं अट्ठार सुहुमविगलतिगे।**
> **पढमागिइसंघयणे दस दुसुवरिमेसु दुगवुड्ढी ॥२८॥**

शब्दार्थ—**विग्घावरणअसाए**—पाच अन्तराय, पाच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण और असातावेदनीय कर्म की, **तीसं**—तीन कोडाकोडी सागरोपम, **अट्ठार**—अठारह कोडाकोडी सागरोपम, **सुहुमविगलतिगे**—सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिक मे, **पढमागिइसंघयणे**—प्रथम सस्थान और प्रथम सहनन मे, **दस**—दस कोडाकोडी सागरोपम, **दुसु**—दोनो मे, **उवरिमेसु**—उत्तर के सस्थान और संहननो मे, **दुगवुड्ढी**—दो-दो कोड़ाकोडी सागरोपम की वृद्धि।

गाथार्थ—पांच अन्तराय, पाच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण और असाता वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम की है। नामकर्म के भेद सूक्ष्मत्रिक और

विकलत्रिक की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोड़ाकोडी सागर प्रमाण है। पहले संस्थान और पहले संहनन की दस कोड़ाकोडी सागरोपम और आगे के प्रत्येक संस्थान और संहनन की स्थिति में दो-दो सागरोपम की वृद्धि जानना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म सभी उत्तर प्रकृतियो की एवं असाता वेदनीय और नामकर्म की उत्तर प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है।

कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के सम्वन्ध में यह ाना चाहिये कि उनकी स्थिति मूल प्रकृतियो की स्थिति से अलग है किन्तु उत्तर प्रकृतियो की स्थिति मे से जो स्थिति सबसे अधिक ी है, वही मूल प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति मान ली गई है। इसी- ो उत्तर प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति को बतलाते हुए कहा है कि—

'विग्घावरणअसाए तीसं' ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय की श' पाच, नौ और पाच तथा असाता वेदनीय, इन बीस प्रकृतियों की ृष्ट स्थिति मूल कर्म प्रकृतियो के बराबर तीस कोड़ाकोडी साग- म की है।[1] लेकिन नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अधिक विषमता है, अत उसकी उत्तर प्रकृतियों की नामोल्लेख ृत अलग-अलग स्थिति वतलाई है।

नामकर्म की सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण तथा विकल- कद्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ारह सागर है—अट्ठार सुहुमविगलतिगे। संस्थान और संहनन मकर्म के भेदों में से प्रथम संस्थान—समचतुरस्र संस्थान और म संहनन—वज्रऋषभनाराच संहनन की उत्कृष्ट स्थिति दस कोड़ा-

---

दुक्खतिघादीणोघ। —गो० कर्मकांड १२८

कोड़ी सागरोपम है—'पढमागिइसंघयणे दस' तथा इन
दूसरे से लेकर छठे संस्थान और दूसरे से लेकर छठे सं
प्रत्येक की उत्कृष्ट स्थिति पहले से दूसरे, दूसरे से तीसरे इ
दो-दो सागरोपम की अधिक है—'दुसुवरिमेसु दुगवुड्ढी' अथ
संस्थान और दूसरे संहनन की उत्कृष्ट स्थिति वारह को
सागरोपम, तीसरे संस्थान और तीसरे संहनन की उत्कृ
चौदह कोड़ा-कोड़ी सागरोपम, इसी प्रकार चौथे की सोलह
की अठारह और छठे की वीस कोड़ाकोडी सागरोपम उत्कृ
है। जो नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति है।

संस्थान और संहनन के भेदो की उत्कृष्ट स्थिति की इस
की क्रम वृद्धि होने का कारण कषाय की हीनाधिकता है। ज
के भाव अधिक संक्लिष्ट होते है तब स्थितिबंध भी अधिक ह
और जब कम संक्लिष्ट होते है तव स्थितिबंध भी कम ह
इसीलिये प्रशस्त प्रकृतियो की स्थिति कम और अप्रशस्त प्र
की स्थिति अधिक होती है। क्योंकि उनका बंध प्रशस्त परिणाम
जीव के ही होता है।

चालीस कसाएसुं मिउलहुनिद्धुण्हसुरहिसियमहुरे।
दस दोसड्ढसमहिया ते हालिद्दंविलाईण ॥२९॥

शब्दार्थ—**चालीस**—चालीस कोडाकोडी सागरोपम, **कसा
एसुं**—कपायो की, **मिउलहुनिद्ध**—मृदु, लघु, स्निग्ध स्पर्श, **उ
सुरहि** – उष्ण स्पर्श, सुरभिगध की, **सियमहुरं** – श्वेत वर्ण और मधुर
रस की, **दस**—दस कोडाकोडी सागरोपम, **दोसड्ढसमहिया**—दा
कोडा-कोडी सागरोपम अधिक, **ते**—वे (दस कोडाकोटी सागरोपम),
हालिद्दंविलाईणं—पीत वर्ण, अम्ल रस आदि।

गाथार्थ—कषायों की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। मृदु, लघु, स्निग्ध, उष्ण स्पर्श, सुरभि गंध, श्वेत वर्ण और मधुर रस की दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की होती है और इन दस कोडाकोड़ी सागरोपम में ढाई कोड़कोड़ी सागरोपम साधिक स्थिति पीत वर्ण और अम्ल रस आदि की समझना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा में चारित्र मोहनीय के भेद सोलह कषायों और कर्म की कुछ उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है। इस प्रकार है कि 'चालीस कसाएसु' यानी अनंतानुबंधी क्रोध, मान, ा, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्याना- ा क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन, क्रोध, मान, माया, इन सोलह कषायों की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोड़ाकोड़ी रोपम है।[1]

नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों में से मृदु स्पर्श, लघु स्पर्श, स्निग्ध , उष्ण स्पर्श, सुरभि गंध, श्वेत वर्ण और मधुर रस इन सात प्रकृतियों उत्कृष्ट स्थिति दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है तथा शेष रहे वर्ण ्क के भेदों में से प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक रस की स्थिति इस दस ाकोडा सागरोपम से ढाई कोडाकोडी सागरोपम अधिक-अधिक अर्थात् पीत वर्ण और अम्ल रस नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति साढ़े ह कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। रक्त वर्ण और कषाय रस की ति पन्द्रह कोड़ाकोडी सागरोपम, नील वर्ण और कटुक रस की

---

[1] चरित्तमोहे य चत्ताल।

—गो० कर्मकाड १२८

साढे सत्रह कोड़ाकोडी सागरोपम तथा कृष्ण वर्ण और तिक्त
वीस कोडाकोड़ी सागरोपम है।[1]

> दस सुहविहगईउच्चे सुरदुग थिरछक्क पुरिसरइहासे।
> मिच्छे सत्तरि मणुदुगइत्थीसाएसु पन्नरस ॥३०॥

शब्दार्थ—**दस**—दस कोडाकोडी सागरोपम, **सुहविहग उच्चे**—शुभ विहायोगति और उच्चगोत्र, **सुरदुग**—देवद्विक, **थिरछक्क**—स्थिरषट्क, **पुरिस**—पुरुषवेद, **रइहासे**—रति और हास्य मोहनीय, **मिच्छे**—मिथ्यात्व की, **सत्तरि**—सत्तर कोडाकोडी सागरोपम, **मणुदुगइत्थीसाएसु**—मनुष्यद्विक, स्त्रीवेद और सातावेदनीय की, **पन्नरस**—पन्द्रह कोड़ाकोडी सागरोपम।

गाथार्थ—शुभ विहायोगति, उच्चगोत्र, देवद्विक, स्थिर षट्क, पुरुषवेद, रति और हास्य मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति दस कोड़ाकोडी सागरोपम की है। मिथ्यात्व मोहनीय की सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तथा मनुष्यद्विक, स्त्रीवेद, साता वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है

विशेषार्थ—गाथा में विशेषकर दस कोडाकोड़ी सागरोप उत्कृष्ट स्थिति वाली तथा पन्द्रह कोड़ाकोडी सागरोपम की

---

१ यद्यपि वर्ण, गध, रस और स्पर्श इस वर्णचतुष्क को उसके भेदो के ही वन्ध मे ग्रहण किया गया है, अत. कर्मप्रकृति आदि मे वर्णचतु वीस कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति कही है। इसीलिये कर्म मे वर्णचतुष्क के अवान्तर भेदो की स्थिति नही वतलाई है किन्तु सग्रह मे वतलाई है—

> सुक्किलसुरभीमहुराण दस उ तह सुभ चउण्ह फासाण।
> अड्ढाइज्जपवुड्ढी अविलहालिद्दपुव्वाण ॥२४०॥

ी कर्म प्रकृतियों के नाम बतलाने के साथ मिथ्यात्व मोहनीय कर्म भी उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है।

दस कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाली कर्म प्रकृ- ं के नाम इस प्रकार है—

(१) **मोहनीयकर्म**—पुरुषवेद, रति मोहनीय, हास्य मोहनीय।

(२) **नामकर्म**—शुभ विहायोगति, देवद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी) षट्क (स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति।

(३) **गोत्रकर्म**—उच्चगोत्र।

न्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाली कर्म प्रकृ- के नाम यह है—

१) **वेदनीय**—साता वेदनीय।

२) **मोहनीय**—स्त्री वेद।

३) **नामकर्म**—मनुष्यद्विक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी)।[1]

ोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृति मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट सत्तर कोड़ाकोडी सागरोपम है।

यकुच्छअरइसोए विउव्वितिरिउरलनिरयदुगनीए।
ापण अथिरछक्के तसचउथावरइगपणिंदी ॥३१॥
ुकुखगइसासचउगुरुकक्खडरुक्खसीयदुगंधे।
सं कोडाकोडी एवइयावाह वाससया ॥३२॥

दार्थ—**भयकुच्छअरइसोए**—भय, जुगुप्सा, अरति और शोक मोह- की, **विउव्वितिरिउरलनिरयदुगनीए**—वैक्रियद्विक, तिर्यंच- द्विक, औदारिकद्विक, नरकद्विक और नीच गोत्र की, **तेयपण**—

सादिच्छीमणुदुगे तदद्ध तु।

—गो० कर्मकां

तैजस पचक की, अथिरछक्के—अस्थिरषट्क की, तसचउ—त्रस चतुष्क की, थावरइगपणिंदी—स्थावर, एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय की, नपु—नपुंसक वेद की, कुखगइ—अशुभ विहायोगति की, सासचउ —उच्छ्वास चतुष्क की, गुरुकक्खडरुक्खसीय—गुरु, कर्कश, रूक्ष और शीत स्पर्श की, दुग्गंधे—दुरभिगध की, वीसं—वीस, कोडाकोडी —कोडाकोडी सागरोपम, एवइया—इतनी, अवाह—अवाधा, वाससया—सौ वर्ष।

गाथार्थ—भय, जुगुप्सा, अरति, शोक मोहनीय की, वैक्रियद्विक, तिर्यन्चद्विक, औदारिकद्विक, नरकद्विक और नीच गोत्र की तथा तैजस पंचक, अस्थिरषट्क, त्रसचतुष्क, स्थावर, एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जाति की तथा—

नपुसक वेद, अशुभ विहायोगति, उच्छ्वास चतुष्क, गुरु, कर्कश, रूक्ष और शीत स्पर्श की और दुरभिगंध की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। जिस कर्म की जितनी-जितनी उत्कृष्ट स्थिति वतलाई है, उस कर्म की उतने ही सौ वर्ष प्रमाण अबाधा जानना चाहिये।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में बीस कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति वाली बयालीस कर्म प्रकृतियों की संख्या वतलाते ... प्रकृतियों के अवाधाकाल का संकेत किया है। बीस कोड़ाकोडी सा-रोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाली अधिकतर नामकर्म की उ... प्रकृतियां है।

मूल कर्म के नाम पूर्वक उन उत्तर प्रकृतियों के नाम क्रमशः ... प्रकार है—

(१) **मोहनीयकर्म**—भय, जुगुप्सा, अरति, शोक, नपुसक वेद।

(२) **नामकर्म**—वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, तिर्यंच...

ार्यचानुपूर्वी, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, नरकगति, रकानुपूर्वी, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, अगुरुलघु, निर्माण, उपात, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, त्रस, ादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थावर, एकेन्द्रिय जाति, पंचेन्द्रिय जाति, अशुभ हायोगति, उच्छ्वास, उद्योत, आतप, पराघात, गुरु, कठोर, रूक्ष, ोत स्पर्श दुर्गन्ध।

(३) गोत्रकर्म—नीच गोत्र।

आहारक बंधन और आहारक संघातन को छोडकर शेष औदाक बंधन और संघातन आदि की स्थिति भी अपने-अपने शरीर की थति जितनी होती है। अत उनकी भी स्थिति वीस कोडाकोड़ी ागरोपम की समझना चाहिए।

इस प्रकार से बंधयोग्य एक सौ वीस प्रकृतियों में से आहारकक, तीर्थंकर और आयु कर्म की चार प्रकृतियाँ, कुल सात प्रकृतियों ो छोडकर एक सौ तेरह प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई । ग्रन्थलाघव की दृष्टि से गाथा में एक सौ तेरह प्रकृतियों के ावाधाकाल का भी संकेत किया है कि जिस कर्म की जितने कोड़ाोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है, उस प्रकृति का उतने सौ र्ष का अबाधाकाल होता है। जैसे कि पाँच अंतराय, पाच ज्ञानारण, नौ दर्शनावरण और असाता वेदनीय इन वीस प्रकृतियों का त्कृष्ट स्थितिवंध तीस कोडाकोडी सागरोपम है तो उनका उत्कृष्ट वाधाकाल भी तीस सौ अर्थात् तीन हजार वर्ष समझना चाहिए।

वंधने के वाद जव तक कर्म उदय में नही आता है तव तक के ाल को अवाधाकाल कहते है। कर्मों की उपमा मादक द्रव्य से दी ाती है। मदिरा के समान आत्मा पर असर डालने वाले कर्म की जतनी अधिक स्थिति होती है, उतने ही अधिक समय तक वह र्म वंधने के वाद विना फल दिये ही आतमा के साथ संबद्ध रहता है,

जो उसका अवाधाकाल कहलाता है। इस अवाधाकाल मे कर्म विपाक
के उन्मुख होता है और अवाधाकाल वीतने पर अपना फल
प्रारम्भ कर उस समय तक फल देता रहता है जब तक उसकी स्थि
का वन्ध है। इसीलिये ग्रन्थकार ने अवाधाकाल का अनुपात
लाया है कि जिस कर्म की जितने कोड़ाकोड़ी सागरोपम की उ
स्थिति है, उस कर्म की उतने ही सौ वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट अवाधा
समझना चाहिये।

इसका साराश यह है कि एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थि
में सौ वर्ष का अबाधाकाल होता है। अर्थात् आज किसी जीव ने
कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति वाला कर्म बांधा है तो वह
से सौ वर्ष बाद उदय मे आयेगा और तब तक उदय में आता र
जब तक एक कोड़ाकोडी सागरोपम काल समाप्त नही हो जाता।

अभी तक जिन कर्म प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है
शेष रही जिन प्रकृतियों की आगे स्थिति बतलाने वाले है,
अवाधाकाल भी सम्मिलित है। इसलिये स्थिति के दो भेद हो
है—कर्मरूपतावस्थानलक्षणा और अनुभवयोग्या। वंधने के
जब तक कर्म आत्मा के साथ ठहरता है, उतने काल का परिमाण
रूपतावस्थानलक्षणा स्थिति है और अबाधाकाल रहित स्थिति
नाम अनुभवयोग्या स्थिति कहलाता है। यहाँ जो कर्मों की उ
स्थिति वतलाई है, वह कर्मरूपतावस्थानलक्षणा स्थिति सहित है
अनुभवयोग्या स्थिति को जानने के लिये पहली कर्मरूपतावस्थानल
स्थिति मे से अवाधाकाल कम कर देना चाहिये,[1] जो इस प्रकार

१ इह द्विधा स्थिति—कर्मरूपतावस्थानलक्षणा, अनुभवयोग्या च।
कर्मरूपतावस्थानलक्षणामेव स्थितिमधिकृत्य जघन्योत्कृष्टप्रमाण
वगन्तव्यम्। अनुभवयोग्या पुनरवाधाकाल हीना।
—कर्मप्रकृति मलयगिरि टीका, पृ०

पाच अन्तराय, पाच ज्ञानावरण और नौ दर्शनावरण कर्मों मे से
...क की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोडी सागरोपम की तथा एक
...ड़ाकोडी सागरोपम की स्थिति मे एक सौ वर्ष का अबाधाकाल
...े का संकेत पहले कर आये है। अतः उनका अबाधाकाल ३०×१००
...न हजार वर्ष होता है। इसी प्रकार इसी अनुपात से अन्य प्रकृतियों की
...कृष्ट स्थिति के अनुसार उन-उनका उत्कृष्ट अवाधाकाल समझना
...हिये कि सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिक का अवाधाकाल अठारह सौ
...ं, समचतुरस्र संस्थान और वज्रऋषभनाराच संहनन का अवाधा-
...ल एक हजार वर्ष, न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान और ऋषभनाराच
...हनन का अवाधाकाल बारह सौ वर्ष, स्वाति संस्थान और नाराच
...हनन का अबाधाकाल चौदह सौ वर्ष, कुब्ज संस्थान और अर्धनाराच
...हनन का अवाधाकाल सोलह सौ वर्ष, वामन संस्थान और कीलिक
...हनन का अबाधाकाल अठारह सौ वर्ष, हुण्ड संस्थान और सेवार्त
...हनन का अबाधाकाल दो हजार वर्ष, अनंतानुबन्धी क्रोध आदि
...लह कपायो का अबाधाकाल चार हजार वर्ष, मृदु, लघु, स्निग्ध, उष्ण
...र्श, सुगन्ध, श्वेतवर्ण और मधुर रस का एक हजार वर्ष, पीत वर्ण और
...ल रस का अबाधाकाल साढे बारह सौ वर्ष, रक्त वर्ण और कषाय
...ा का पन्द्रह सौ वर्ष, नील वर्ण और कटुक रस का साढे सत्रह सौ
...ं, कृष्ण वर्ण और तिक्त रस का दो हजार वर्ष, शुभ विहायोगति,
...च्च गोत्र, देवद्विक, स्थिरषट्क, पुरुष वेद, हास्य और रति का एक
...ार वर्ष, मिथ्यात्व का सात हजार वर्ष, मनुष्यद्विक, स्त्रीवेद, साता
...नीय का अवाधाकाल पन्द्रह सौ वर्ष, भय, जुगुप्सा, अरति, शोक,
...क्रियद्विक, तिर्यचद्विक, औदारिकद्विक, नरकद्विक, नीच गोत्र, तैजस-
...चक, अस्थिरषट्क, त्रसचतुष्क, स्थावर, एकेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, नपुसक
...द, अशुभ विहायोगति, उच्छ्वासचतुष्क, गुरु, कर्कश, रूक्ष, शीतस्पर्श
...ार दुर्गन्ध का अवाधाकाल दो हजार वर्ष का जानना चाहिए।

इस प्रकार से एक सौ तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध व उस स्थिति के अनुपात से उनका अबाधाकाल बतलाने के पश्चात आगे नामकर्म की आहारकद्विक, तीर्थंकर इन तीन प्रकृतियो तथा कर्म की उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध व अबाधाकाल कथन करते है।

गुरु कोडिकोडिअंतो तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा।
लहुठिइ संखगुणूणा नरतिरियाणाउ पल्लतिग ॥३३॥

शब्दार्थ—**गुरु**—उत्कृष्ट स्थिति, **कोडिकोडिअंतो**—अंतः कोडाकोडी सागरोपम, **तित्थाहाराण**—तीर्थंकर और आहारक द्विक नामकर्म की, **भिन्नमुहु**—अन्तर्मुहूर्त, **बाहा**—अबाधाकाल, **लहुठिइ**—जघन्यस्थिति, **संखगुणूणा**—सख्यातगुण हीन, **नरतिरियाण**—मनुष्य और तिर्यच, **आउ**—आयु, **पल्लतिग**—तीन पल्योपम।

गाथार्थ—तीर्थंकर और आहारकद्विक नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम और अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है। जघन्य स्थिति संख्यात गुणहीन अंतःकोडाकोड़ी सागरोपम होती है। मनुष्य और तिर्यच आयु की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम है।

विशेषार्थ—इस गाथा में तीर्थंकर और आहारकद्विक—आह शरीर और आहारक अंगोपांग की उत्कृष्ट व जघन्य स्थिति अबाधाकाल बतलाने के साथ आयुकर्म के मनुष्य व तिर्यच आयु इन भेदों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है।

तीर्थंकर और आहारकद्विक की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति ग्रन्थलाघव की दृष्टि से एक साथ कर दिया है कि इन

कृतियों की दोनो स्थितिया सामान्य से अन्त:कोडाकोड़ी[1] सागरो-
म है। लेकिन इतनी विशेषता है कि उत्कृष्ट स्थिति से जघन्य
थति का परिमाण संख्यात गुणहीन यानी संख्यातवे भाग प्रमाण है।
सी प्रकार उनका उत्कृष्ट और जघन्य अवाधाकाल भी अन्तर्मुहूर्त
। है और स्थिति की तरह उत्कृष्ट अबाधा से जघन्य अवाधाकाल भी
ख्यात गुणहीन है। इस प्रकार इन तीन कर्मों की स्थिति (उत्कृष्ट
जघन्य) अन्त:कोड़ाकोडी सागरोपम और अवाधाकाल अन्तर्मुहूर्त
माण समझना चाहिए।

यहा जो तीर्थंकर और आहारकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति अन्त:-
ोडाकोडी सागरोपम बतलाई, वह स्थिति अनिकाचित तीर्थंकर और
ाहारकद्विक की बतलाई है। निकाचित तीर्थंकर नाम और आहारकद्विक
ो स्थिति अन्त:कोड़ाकोडी सागर के संख्यातवे भाग से लेकर तीर्थ-
र नामकर्म की स्थिति तो कुछ कम दो पूर्व कोटि अधिक तेतीस
ागर है और आहारकद्विक की पल्य के असंख्यातवे भाग है।[2]

तीर्थंकर नामकर्म की जघन्य स्थिति भी अन्त:कोड़ाकोड़ी
ागरोपम वताये जाने पर जिज्ञासु प्रश्न प्रस्तुत करता है कि जब
ीर्थंकर नामकर्म की जघन्य स्थिति भी अन्त:कोडाकोडी सागरोपम

---

१ कुछ कम कोडाकोडी को अन्त:कोडाकोडी कहते है। जिसका अर्थ यह हुआ कि तीनो कर्मो की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति कोड़ाकोड़ी सागरो-पम से कुछ कम है।

२ अतो कोडाकोडी तित्थयराहार तीए सखाओ।
तेतीस पलिय सख निकाइयाण तु उक्कोसा ॥ —पंचसंग्रह ५।४२

गो० कर्मकाड गाथा १५७ की भापा टीका मे अन्त:कोडाकोडी का प्रमाण इस प्रकार वताया है कि एक कोडाकोडी सागर की स्थिति की अवाधा सौ वर्ष वताई है। इस सौ वर्ष के स्थूल रूप से दस लाख अस्सी

(शेष अगले पृ॰)

है तब तीर्थंकर प्रकृति की सत्तावाला जीव तिर्यचगति मे जाये वि
नही रह सकता है । तिर्यचगति मे भ्रमण किये विना इ
लम्बी स्थिति पूर्ण नही होती है । क्योंकि पंचेन्द्रिय पर्याय का
कुछ अधिक एक हजार सागर और त्रसकाय का काल कुछ अधिक
हजार सागर वतलाया है ।[1] अतः इससे अधिक समय तक न
जीव लगातार पंचेन्द्रिय पर्याय में जन्म ले सकता है और न त्रस
में ही और अन्त.कोडाकोडी सागरोपम स्थिति का वंध करके
इतने लम्बे काल को केवल नारक, मनुष्य और देव पर्याय मे
लेकर पूरा नही कर सकता है, इसलिये उसे तिर्यचगति मे अ
जाना पडेगा ।[2]

दूसरी बात यह है कि तिर्यंचगति मे जीवों के तीर्थंकर ना
की सत्ता का निषेध किया है, अतः इतने काल को कहा पूर्ण क
और तीर्थंकर के भव से पूर्व के तीसरे भव मे तीर्थंकर प्रकृति क

हजार मुहूर्त होते हैं । जब इतने मुहूर्त अवाधा एक कोडाकोडी
की है तब एक मुहूर्त अवाधा कितनी स्थिति की होगी ? इस
त्रैराशिक करने पर एक कोडाकोडी मे दस लाख अस्सी हजार
का भाग देने पर ९२५९२५९२ $\frac{६४}{६८}$ लब्ध आता है । इतने सागर
स्थिति की एक मुहूर्त अवाधा होती है, यानी एक मुहूर्त अवाधा
सागर प्रमाण स्थिति की है । इसी हिसाब से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अ
वाले कर्म की स्थिति जानना चाहिये ।

१ एगिंदियाण णना दोण्णि सहस्सा तसाण कायठिई ।
अयराण इग पणिंदिसु नरतिरियाण सगट्ठ भवा ॥ —पंचसग्रह

२ अतो कोडाकोडी ठिईए वि कह न होइ तित्थयरे ।
मने कित्तियकाल तिरिओ अह होइ उ विरोहो ॥

—पचसग्रह

[ह]ोना बताया है।[1] जिससे अन्तःकोड़ाकोडी सागरोपम की स्थिति [मा]ने यह भी कैसे संभव है ?

उक्त जिज्ञासा का समाधान यह है कि तिर्यचगति में जो तीर्थंकर नामकर्म का निषेध किया है, वह निकाचित तीर्थंकर नामकर्म की अपेक्षा से किया है अर्थात् जो तीर्थंकर नामकर्म अवश्य अनुभव में आता है, उसी का तिर्यंचगति मे अभाव बतलाया है, किंतु जिसमें उद्वर्तन, अपवर्तन हो सकता है, उस तीर्थंकर प्रकृति के अस्तित्व का निषेध तिर्यंचगति मे नही किया है।[2] इसी प्रकार 'तीर्थंकर के भव से पूर्व के तीसरे भव मे जो तीर्थंकर प्रकृति के वन्ध का कथन है, वह भी निकाचित तीर्थंकर प्रकृति की अपेक्षा से किया गया है।[3] जो तीर्थंकर प्रकृति निकाचित[4] नही है यानी उद्वर्तन[5] अपवर्तन[6] हो सकती है, वह तीन भव से भी पहले वाधी जा सकती है।

सिद्धान्त में जो तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता का तिर्यंचगति में निपेध किया है, वह तीसरे भव में होने वाली सुनिकाचित तीर्थंकर

---

१ ज, वज्झई त तु भगवओ तइयभवोसक्कइत्ताण।

—आवश्यक निर्युक्ति १८०

२. जमिह निकाइयतित्थ तिरियभवे त निसेहिय सतं।
इयरमि नत्थि दोसो उवट्टणुवट्टणासज्झे॥ —पंचसंग्रह ५।४४

३ ज वज्झइत्ति भणिय तत्थ निकाइज्ज इत्ति णियमोय।
तदवज्झफल नियमा भयणा अणिकाइआवत्थे॥

—जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, विशेषणवती टीका

४ जिस कर्म की उदीरणा, सक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन, ये चारो ही अवस्थायें न हो सकें, उसे निकाचित कहते हैं।

५ कर्मो की स्थिति और अनुभाग के वढ जाने को उद्वर्तन कहते है।

६. बद्ध कर्मो की स्थिति तथा अनुभाग मे अध्यवसाय विशेष मे कमी कर देना अपवर्तन है।

नामकर्म की सत्ता की अपेक्षा से कहा है, न कि सामान्य सत्ता के अपेक्षा से। इसलिए अनिकाचित तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता रहते पर भी जीव का चारों गतियों में जाने मे किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि तीर्थंकर नामकर्म की स्थिति अंत:कोडाकोडी सागरोपम और तीर्थंकर के भव से पहले के तीसरे भव में जो उसका बंध होना कहा है, वह इस प्रकार समझना चाहिए कि तीसरे भव में उद्वर्तन, अपवर्तन के द्वारा उस स्थिति को तीन भवों के योग्य कर लिया जाता है। यद्यपि तीन भवो मे तो कोडा-कोडी सागरोपम की स्थिति पूर्ण नही हो सकती है अत: अपवर्तन करण के द्वारा उस स्थिति का ह्रास कर दिया जाता है। शास्त्रों में जो तीसरे भव मे तीर्थंकर प्रकृति के बंध का विधान किया है, वह निकाचित तीर्थंकर प्रकृति के लिये समझना चाहिये यानी निकाचित प्रकृति अपना फल अवश्य दे देती है, किन्तु अनिकाचित तीर्थंकर प्रकृति के लिये कोई नियम नही है। वह तीसरे भव से पहले भी बंध सकती है।

नरकायु और देवायु की उत्कृष्ट स्थिति पहले वतला आये हैं अतः यहा मनुष्यायु और तिर्यचायु की उत्कृष्ट स्थित वताई है कि 'नरतिरियाणाउ पल्लतिगं' मनुष्य और तिर्यचायु तीन पल्य की है। आयुकर्म की स्थिति के बारे में यह विशेष जानना चाहिये कि भव स्थिति की अपेक्षा से उत्कृष्ट और जघन्य आयु का प्रमाण वतलाया जाता है कि कोई भी जीव जन्म पाकर उसमे जघन्य अथवा उत्कृष्ट कितने काल तक जी सकता है।

---

१ न्स्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते। तिर्यग्योनीना च।

—तत्त्वार्थसूत्र ३।१७,१८

अब आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति के बारे मे कुछ विशेप स्पष्टी-करण करते हुए अबाधाकाल बतलाते है।

इगविगलपुव्वकोडि पलियासंखस आउचउ अमणा।
निरुवकमाण छमासा अबाह सेसाण भवतंसो ॥३४॥

शब्दार्थ—**इगविगल**—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय, **पुव्वकोडि**—पूर्व कोडी वर्प की आयु **पलियासखंस**—पल्योपम का असख्यातवा भाग, **आउचउ**—चारो आयु, **अमणा**—असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त, **निरुवकमाण**—निरुपक्रम आयु वाले के, **छमासा**—छह माह, **अबाह**—अबाधाकाल, **सेसाण**—बाकी के (सख्यात वर्ष की तथा सोपक्रम आयु वाले के) **भवतसो**—भव का तीसरा भाग।

गाथार्थ—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय पूर्व कोटि वर्प की आयु और असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त चारो आयुयों को पल्योपम के असंख्यातवे भाग जितनी आयु बांधते है। निरुपक्रम आयु वाले को छह माह का तथा शेष जीवों (संख्यात वर्ष की व सोपक्रम आयु वाले) के भव का तीसरा भाग जितना अबाधाकाल होता है।

विशेषार्थ—मनुष्य और तिर्यचों की उत्कृष्ट आयु सामान्य से तीन [illegible]ल्य की बतलाई है, लेकिन विशेष की अपेक्षा उनमें से कुछ तिर्यच-[illegible]ति के जीवों की उत्कृष्ट आयु तथा आयुकर्म की स्थिति का अबाधा-[illegible]ाल गाथा में स्पष्ट किया गया है।

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पर्याप्तक जीवो का अलग [illegible]ी उत्कृष्ट आयु स्थितिबंध बतलाने का कारण यह है कि पूर्वोक्त उत्कृष्ट स्थितिबंध केवल पर्याप्त संज्ञी जीव ही कर सकते है, अतः वह स्थिति पर्याप्त संज्ञी जीवो की अपेक्षा से समझना चाहिए। लेकिन एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञी उक्त उत्कृष्ट स्थिति में से कितना

स्थितिबंध करते हैं और अवाधाकाल का नियम क्या है ? को
स्पष्ट किया जा रहा है कि 'इगविगलपुव्वकोडि' एकेन्द्रिय
विकलेन्द्रिय जीव आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति एक पूर्व[1] कोटि प्रमा
बाँधते है तथा असंज्ञी पर्याप्तक जीव चारो ही आयु कर्मों की उत्
स्थिति पल्य के असंख्यातवे भाग प्रमाण—पलियासंखंस आउचउ अमण

एकेन्द्रिय आदि जीवो के आयुकर्म के उक्त उत्कृष्ट स्थिति
होने का कारण यह कि एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव मरण क
तिर्यंचगति या मनुष्यगति मे ही जन्म लेते है। वे मर कर देव
नारक नही हो सकते है तथा तिर्यंच और मनुष्यो मे भी कर्मभूमि
मे ही जन्म लेते है, भोगभूमिजो मे नही। जिससे वे आयु
की उत्कृष्ट स्थिति एक पूर्व कोटि प्रमाण बाँधते है। असंज्ञी पंचेन्द्रि
जीव मरण करके चारो ही गतियों में उत्पन्न हो सकता है, जिससे
चारों मे से किसी भी आयु का बंध कर सकता है। लेकिन यह नि
है कि मनुष्यों मे कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है, तिर्यंचों मे कर्मभूमि
तिर्यंच ही होता है, देवो में भवनवासी और व्यंतर हो होता है
नारकों में पहले नरक के तीन पाथड़ो तक ही जन्म लेता है।
उसके पल्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण ही आयुकर्म का
होता है।[2]

---

१ पूर्व का प्रमाण इस प्रकार वतलाया है—

पुव्वस्स उ परिमाण सयरी खलु होंति सयसहस्साइं।
छप्पणं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीण।

—सर्वार्थसिद्धि से उ

—सत्तर लाख, छप्पन हजार करोड वर्ष का एक पूर्व होता है।

२ कर्मकाण्ड गा० ५३८ से ५४३ तक मे किस गति के जीव मरण

(अगले पृष्ठ पर

आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की अवाधा का संकेत पूर्व किया जा चुका है कि एक कोडाकोडी सागर की स्थिति में सौ वर्ष अबाधाकाल होता है। लेकिन यह अनुपात आयुकर्म की अवाधा स्थिति पर लागू नही होता है।[1] इसका कारण यह है कि अन्य कर्मों का वंध तो सर्वदा होता रहता है। किन्तु आयुकर्म का वंध अमुक-अमुक काल में ही होता है। इसलिए आयुकर्म के अवाधाकाल का अलग से संकेत किया गया है कि—निरुवकमाण छमासा—निरुपक्रम आयु वाले अर्थात् जिनकी आयु का अपवर्तन, घात नही होता ऐसे देव, नारक और भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यंचो के आयुकर्म की अवाधा छह मास होती है तथा शेष मनुष्य और तिर्यंचो के आयुकर्म की अवाधा अपनी-अपनी आयु के तीसरे भाग प्रमाण है—अवाह सेसाण भवतंसो।

गति के अनुसार आयुबंध के अमुक-अमुक काल निम्न प्रकार है—मनुष्यगति और तिर्यचगति मे जब भुज्यमान आयु के दो भाग बीत जाते है तब परभव की आयुवंध का काल उपस्थित होता है।

किस-किस गति मे जन्म लेते है, का स्पष्टीकरण किया गया है। तिर्यंचो के सम्बन्ध मे लिखा है—

तेउदुग तेरिच्छे सेसेगअपुण्णवियलगा य तहा।
तित्थूणणरेवि तहाऽसण्णी घम्मे य देवदुगे ॥५४०॥

तैजस्कायिक और वायुकायिक जीव मरण करके तियच गति मे और मनुष्य गति मे हो जन्म लेते हैं। किन्तु तीर्थंकर वगैरह नही हो सकते हैं तथा असज्ञी पचेन्द्रिय जीव पूर्वोक्त तिर्यच और मनुष्य गति मे तथा घर्मा नाम के पहले नरक मे और देवद्विक यानी भवनवासी और व्यतर देवो मे उत्पन्न होते है।

1 आउस्स य आवाहा ण ट्ठिदिपडिभागमाउस्स। —गो० कर्मकांड १५८
जैसे अन्य कर्मो मे स्थिति के प्रतिभाग के अनुसार अवाधा का प्रमाण निकाला जाता है, वैसे आयुकर्म मे नही निकाला जाता है।

जैसे कि यदि किसी मनुष्य की आयु ९९ वर्ष है तो उसमें से ६६ वर्ष बीतने पर वह मनुष्य परभव की आयु बाँध सकता है, उससे पहले उसके आयुकर्म का बंध नही हो सकता है। इसलिये मनुष्यों और तिर्यंचों के वध्यमान आयुकर्म का अवाधाकाल एक पूर्व कोटि का तीसरा भाग बतलाया है, क्योंकि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंच की उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि की होती है और उसके त्रिभाग में परभव की आयु बंधती है।

कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंचों की अपेक्षा से आयुकर्म की अबाधा की उक्त व्यवस्था है, लेकिन भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंचों तथा देव और नारक अपनी-अपनी आयु के छह मास शेष रहने पर परभव की आयु बांधते है। क्योंकि ये अनपवर्त्य आयु वाले है, इनका अकाल मरण नही होता है।[1] इसी से निरुपक्रम आयु वालों के वध्यमान आयु का अबाधाकाल छह मास बतलाया है।

आयुकर्म की अबाधा के संबंध में एक बात और ध्यान में रखने योग्य है कि पूर्व में जो सात कर्मों की स्थिति बतलाई है उसमें उनका अबाधाकाल भी संमिलित है। जैसे कि मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोडी सागरोपम की बतलाई है और उसका अबाधाकाल सात हजार वर्ष है, तो ये सात हजार वर्ष उस सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति मे संमिलित है। अतः जब मिथ्यात्व मोहनीय की अबाधारहित स्थिति (अनुभवयोग्या) को जानना चाहें तो उसकी अबाधा के सात हजार वर्ष कम कर देना चाहिए। किन्तु

---

१ औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।

—तत्वार्थसूत्र २।५२

औपपातिक (नारक और देव), चरम शरीरी, उत्तम पुरुष और असंख्यात वर्ष जीवी, ये अनपवर्तनीय आयु वाले होते है।

ायुकर्म की स्थिति में यह वात नही है। आयुकर्म की तेतीस ागर, तीन पल्य, पल्य का असंख्यातवां भाग आदि जो स्थिति वत-ाई है, वह शुद्ध स्थिति है, उसमे अबाधाकाल संमिलित नही है। स अन्तर का कारण यह है कि अन्य कर्मों की अबाधा स्थिति के अनु-ात पर अवलंबित है जिससे वह सुनिश्चित है किन्तु आयुकर्म की बाधा सुनिश्चित नही है। क्योंकि आयु के त्रिभाग मे भी आयुकर्म ा वंध अवश्यंभावी नही है। त्रिभाग के भी त्रिभाग करते-करते आठ भाग पडते है। उनमे भी यदि आयु का वंध न हो तो मरण से न्तमुहूर्त पहले अवश्य ही आयु का वंध हो जाता है। इसी अनि-श्चतता के कारण आयुकर्म की स्थिति मे उसका अवाधाकाल संमि-लत नही किया गया है।

परभव संबंधी आयुबंध के संबंध में संग्रहणी सूत्र में भी इसी बात ो स्पष्ट किया है—

> वंधंति देवनाराय असंखनरतिरि छमाससेसाऊ।
> परभवियाऊ सेसा निरववकमतिभागमेसाऊ ॥२०१॥
> सोववकमाउया पुण सेसतिभागे अहव नवमभागे।
> सत्तावीस इमेवा अंतमुहुत्तंतिमेवावि ॥२०२॥

देव, नारक और असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच ह मास की आयु वाकी रहने पर और शेष निरुपक्रम आयु वाले जीव पनी आयु का त्रिभाग वाकी रहने पर परभव की आयु वांधते है। ोपक्रम आयु वाले जीव अपनी आयु के त्रिभाग मे अथवा नौवें भाग ं अथवा सत्ताईसवे भाग मे परभव की आयु वाधते है। यदि इन त्रभागों मे भी आयु वंध नही कर पाते है तो अन्तिम अन्तमुहूर्त में

परभव की आयु का वंध करते है ।[1]

---

१ गो० कर्मकाड मे भी आयुवध के सवध मे सामान्यतया यही विचार प्रगट किये है किन्तु देव नारक और भोगभूमिजो की छह माह प्रमाण अवाधा को लेकर उसमे मतभेद है कि छह मास मे आयु का वध नहीं होता किन्तु उसके त्रिभाग मे आयुवध होता है और उस त्रिभाग मे भी यदि आयु न वधे तो छह मास के नौवे भाग मे आयु वध होता है। इसका साराश यह है कि जैसे कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंचो मे अपनी-अपनी पूरी आयु के त्रिभाग मे परभव की आयु का वध होता है, वैसे ही देव, नारक और भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यंचो के छह माह के त्रिभाग में आयुवध होता है । दिगम्वर सप्रदाय मे सामान्यतः यही मत मान्य है। भोगभूमिजो को लेकर मतभेद है । किन्ही का मत है कि उनमे नौ माह आयु शेष रहने पर उसके त्रिभाग मे परभव की आयु का वध होता है । इसके सिवाय एक मतभेद यह भी है कि यदि आठो त्रिभागो मे आयु वंध न हो तो अनुभूयमान आयु का एक अन्तर्मुहूर्त काल वाकी रह जाने पर परभव की आयु नियम से वध जाती है । यह सर्वमान्य मत है किन्तु किन्ही-किन्ही के मत से अनुभूयमान आयु का काल आवलिका के असंख्यातवे भाग प्रमाण वाकी रहने पर परभव की आयु का वध नियम से होता है ।

गो० कर्मकाड मे गा० १२८ से १३३ तक कर्मग्रन्थ के समान ही उत्तर प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबध का कथन किया है । लेकिन एक बात उल्लेखनीय है कि उसमे वर्णादि चतुष्क की स्थिति बीसकोडाकोडी सागरोपम की बतलाई है और कर्मग्रथ मे उसके अवान्तर भेदो की स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम से लेकर बीस कोडाकोडी सागरोपम तक बताई है । इस अन्तर का कारण यह है कि कर्मग्रथ मे पंचसंग्रह के ...१८ से वर्ण, गध, रस, स्पर्श के अवान्तर भेदो की उत्कृष्ट स्थिति का कथन किया है । वैसे तो वंध की अपेक्षा से वर्णादि चार ही है । स्वोपज्ञ टीका मे ग्रथकार ने स्वय इसका स्पष्टीकरण किया है ।

इस प्रकार से उत्तर प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति और अबाधाकाल
। बतलाकर अब आगे उनकी जघन्य स्थिति बतलाते है ।

लहुठिइबंधो संजलणलोहपणविग्घनाणदंसेसु ।
भिन्नमुहुत्तं ते अट्ठ जसुच्चे बारस य साए ॥३५॥

शब्दार्थ—लहुठिइबंधो—जघन्य स्थितिबन्ध, संजलणलोह—सज्व-जन लोभ, पणविग्घ—पाच अन्तराय, नाणदंसेसु—ज्ञानावरण और दर्शनावरण का, भिन्नमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त, ते—वह, अट्ठ—आठ मुहूर्त, जसुच्चे—यश कीर्ति और उच्च गोत्र का, बारस—बारह मुहूर्त, य—और, साए—साता वेदनीय का ।

गाथार्थ—संज्वलन लोभ, पाच अंतराय, पाच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण का जघन्य स्थितिबंध अन्तमुहूर्त है । यशः-कीर्ति नामकर्म और उच्च गोत्र का आठ मुहूर्त तथा साता वेदनीय का बारह मुहूर्त जघन्य स्थितिबंध है ।

विशेषार्थ—पूर्व मे कर्म प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बतलाया चुका है । इस गाथा से उनके जघन्य स्थितिबंध का कथन प्रारंभ ते है । इस गाथा मे जिन प्रकृतियो के जघन्य स्थितिबंध के प्रमाण निर्देश किया है, उनमें घाती कर्मों की पन्द्रह और अघाती कर्मों की । प्रकृतिया है । विभागानुसार उनके नाम इस प्रकार है—

घाती—मतिज्ञानावरण आदि पाच ज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण दे चार दर्शनावरण, संज्वलन लोभ, दानान्तराय आदि पाच तराय ।

अघाती—यशःकीर्ति नामकर्म, उच्चगोत्र, साता वेदनीय ।

जघन्यस्थितिबंध के सम्बन्ध में यह सामान्य नियम है कि यह स्थिति- अपने-अपने बंधविच्छेद के समय होता है । अर्थात् जब उन प्रकृ-यो का अन्त आता है, तभी उक्त जघन्य स्थितिबंध होता है ।

संज्वलन लोभ का जघन्य स्थितिबंध नौवे गुणस्थान मे और पांच अंतराय, पांच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण का बंधविच्छेद दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है तथा यशःकीर्ति नामकर्म व उच्चगोत्र का भी बंधविच्छेद दसवे गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। तभी उनका जघन्य स्थितिबंध समझना चाहिये। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण तथा नाम, गोत्र की जघन्यस्थिति आठ मुहूर्त प्रमाण है। साता वेदनीय की जघन्य स्थिति जो बारह मुहूर्त बताई है वह जघन्य स्थिति सक-षाय जीवो की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योकि यह पहले बतलाया जा चुका है कि अकषाय जीवों की अपेक्षा से तो उपशान्तमोह आदि गुणस्थानो में उसकी जघन्य स्थिति दो समय है। साता वेदनीय की बारह मुहूर्त की जघन्य स्थिति दसवे गुणस्थान के अंतिम समय में होती है।

दो इगमासो पक्खो संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि।
सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईइ जं लद्धं ॥३६॥

शब्दार्थ—**दोइगमासो** – दो मास और एक मास, **पक्खो**—पक्ष (पखवाडा), **संजलणतिगे**—संज्वलनत्रिक की **पुं**—पुरुषवेद, **अट्ठ**—आठ, **वरिसाणि** वर्ष, **सेसाण**— शेष प्रकृतियो की, **उक्कोसाओ**—अपनी उत्कृष्ट स्थिति मे, **मिच्छत्तठिईइ** – मिथ्यात्व की स्थिति का भाग देने से, **जं** – जो, **लद्धं**—लब्ध प्राप्त हो।

गाथार्थ—संज्वलनत्रिक की जघन्य स्थिति क्रम से दो मास, एक मास और एक पक्ष है। पुरुष वेद की आठ वर्ष तथा शेष प्रकृतियों की जघन्य स्थिति उनकी उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति के द्वारा भाग देने पर प्राप्त लब्ध प्रमाण है।

विशेषार्थ—इस गाथा मे चार प्रकृतियों की तो निश्चित जघन्य थति व शेष की जघन्य स्थिति जानने के लिये सूत्र का संकेत किया है।

गाथा मे चार प्रकृतियों के नाम इस प्रकार बताये है—संज्वलन ध, संज्वलन मान, संज्वलन माया और पुरुष वेद, इनका जघन्य थतिबंध क्रमशः दो मास, एक मास, एक पक्ष (पन्द्रह दिन) और ठ वर्ष है। यह जघन्य स्थितिबंध अपनी-अपनी बंधव्युच्छित्ति काल में होता है और इनका बंधविच्छेद नौवें गुणस्थान मे होता है।

शेष प्रकृतियो की जघन्य स्थिति जानने के लिये ग्रन्थकार ने एक यम बतलाया है कि उन-उन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व हनीय की उत्कृष्ट स्थिति जो सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम है, ा भाग देने पर प्राप्त लब्ध उनकी जघन्य स्थिति है। जघन्य स्थिति ो बतलाने वाला यह नियम ८५ प्रकृतियों पर लागू होता है। योंकि तीर्थंकर और आहारकद्विक तथा पूर्व गाथा में निर्दिष्ट ठारह प्रकृतियो व इस गाथा मे बताई चार प्रकृतियों की जघन्य थति का कथन किया जा चुका है तथा चार आयु व वैक्रियषट्क की घन्य स्थिति का कथन आगे किया जा रहा है। अत: बंधयोग्य १२० कृतियों में ३, १८, ४, ४, ६ = ३५ प्रकृतियो को कम करने पर ८५ कृतिया शेप रहती है। जिनकी जघन्य स्थिति इस प्रकार है—

निद्रापंचक और असातावेदनीय की जघन्य स्थिति $\frac{३}{७}$ सागर, थ्यात्व की एक सागर, अनंतानुबंधी क्रोध आदि बारह कषायों की सागर, स्त्रीवेद और मनुष्यद्विक की $\frac{३}{१४}$ सागर ($\frac{१५}{७०}$ के ऊपर नीचे अंको को ५ से काटने से), सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक $\frac{६}{३५}$ ($\frac{१८}{७०}$ को २ के क से काटने से), स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, शुभ हायोगति, वज्रऋषभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान, सुगन्ध, क्लवर्ण, मधुररस, मृदु, लघु, स्निग्ध और उष्ण स्पर्श की $\frac{१}{७}$ सागर तथा

शेष शुभ और अशुभ वर्णादि चतुष्क की $\frac{३}{७}$ सागर,[१] दूसरे संस्थान और संहनन की $\frac{६}{३५}$ सागर, तीसरे संस्थान और संहनन की $\frac{७}{३५}$ सागर, चौथे संस्थान और संहनन की $\frac{८}{३५}$ सागर, पाचवें संस्थान और संहनन की $\frac{९}{३५}$ सागर और शेप प्रकृतियो की $\frac{२}{७}$ सागर जघन्य स्थिति समझना चाहिये ।

इन ८५ प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबंध बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय जीव ही कर सकते है। इन जघन्य स्थितियों में पल्य का असंख्यातवां भाग बढा देने पर एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा से इन प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण जानना चाहिये ।[२]

गाथा के उत्तरार्ध—सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्त ठिईइ जं लद्धं - का उक्त विवेचन पंचसंग्रह के अनुसार किया गया है। लेकिन कर्मग्रन्थ ग्रन्थ के अनुसार इसका विवेचन निम्न प्रकार से होगा—

'उक्कोसाओ' का अर्थ उस-उस प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति न लेकर वर्ग[३] की उत्कृष्ट स्थिति ग्रहण करना चाहिये। जैसे मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियो का समुदाय ज्ञानावरण वर्ग कहा जाता है। चक्षु दर्शनावरण आदि प्रकृतियों का समुदाय दर्शनावरण वर्ग है। सा वेदनीय आदि प्रकृतियो का वर्ग वेदनीय वर्ग है। दर्शनमोहनीय उत्तर प्रकृतियो का समुदाय दर्शनमोहनीय वर्ग है। कषाय मोहनीय की प्रकृतियो का समुदाय कषाय मोहनीय वर्ग, नोकषाय मोहनीय

---

१ बध अवस्था मे वर्णादि चार लिये जाते है, उनके भेद नही, तथा उनकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम होती है। अत चारो की जघन्य स्थिति सामान्य से $\frac{३}{७}$ सागर की समझना चाहिये। वर्णचतुष्क के अवान्तर भेदो की स्थिति पचसग्रह के अनुसार बताई है।

२ जा एगिंदि जहन्ना पल्लासंखस सजुया सा उ ।
तेसिं जेट्ठा ....| —पंचसग्रह ५।५४

[३] ...ोय प्रकृतियो के समुदाय को वर्ग कहते है।

प्रकृतियो का समुदाय नोकषाय मोहनीय वर्ग, नामकर्म की
तियों का समुदाय नामकर्म का वर्ग, गोत्रकर्म की प्रकृतियों का
मुदाय गोत्रकर्म वर्ग और अन्तरायकर्म की प्रकृतियों का समुदाय
तरायकर्म वर्ग कहलायेगा।

इस प्रकार के प्रत्येक वर्ग की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसे वर्ग की
कृष्ट स्थिति कहते है और उस स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट
थति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम का भाग देने पर जो लब्ध आता
उसमे से पल्य का असंख्यातवा भाग कम कर देने पर उस वर्ग के
तर्गत आने वाली प्रकृतियो की जघन्य स्थिति ज्ञात हो जाती है।

ऐसा करने का कारण यह है कि एक ही वर्ग की विभिन्न प्रकृतियों
उत्कृष्ट स्थिति मे बहुत अन्तर देखा जाता है। जैसे कि वेदनीय
र्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है लेकिन उसके
भेद सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति उससे आधी अर्थात् पन्द्रह
डाकोडी सागरोपम की बताई। पंचसंग्रह के विवेचनानुसार साता
दनीय की जघन्य स्थिति मालूम करने के लिये उसकी उत्कृष्ट स्थिति
द्रह कोडाकोडी सागरोपम मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग
ना चाहिये और कर्मप्रकृति के अनुसार साता वेदनीय के वर्ग की
त्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोड़ी सागरोपम मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट
थति का भाग देकर लब्ध मे पल्य के असंख्यातवे भाग को कम
करना चाहिये।[1]

---

[1] वग्गुक्कोसठिईण मिच्छत्तुक्कोसगेण ज लद्ध।
सेसाण तु जहन्ना पल्लासखिज्जभागूणा। —कर्मप्रकृति ७९
अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर जो लब्ध आता है, उसमे पल्य के असख्यातवें भाग को कम कर देने पर शेष प्रकृतियो की जघन्य स्थिति ज्ञात होती है।

इसके अनुसार दर्शनावरण और वेदनीय वर्ग की उत्कृष्ट स्थि
तीस कोड़ाकोड़ी सागर मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर को
कोड़ी सागर का भाग देने पर जो $\frac{3}{7}$ लब्ध आता है उसमें पल्य के असं
तवे भाग को कम कर देने पर निद्रापंचक और असाता वेदनीय
जघन्य स्थिति ज्ञात होती है। दर्शनमोहनीय वर्ग की उत्कृष्ट स्थि
सत्तर कोड़ाकोडी सागर में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग दे
पर प्राप्त लब्ध एक सागर में पल्य का असंख्यातवा भाग कम करने
मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति होती है। कषायमोहनीय वर्ग की उत्
स्थिति चालीस कोडाकोडी सागर में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति
भाग देकर लब्ध के $\frac{4}{7}$ सागर में से पल्य का असंख्यातवा भाग क
करने पर अनन्तानुबंधी क्रोधादि बारह कषायो की जघन्य स्थिति ज्ञा
होती है। नोकषायमोहनीय वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति बीस को
कोडी सागर मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर लब्ध
सागर में से पल्य का असंख्यातवां भाग कम करने पर पुरुष वेद
सिवाय शेष आठ नोकषायों की जघन्य स्थिति आती है। नामव
और गोत्रवर्ग की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोड़ी सागर में मिथ्या
की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर लब्ध में से पल्य का असंख्यात
भाग कम कर देने पर वैक्रियषट्क, आहारकद्विक, तीर्थंकर, य
कीर्ति को छोडकर नामकर्म की शेष सत्तावन प्रकृतियों और नीच
गोत्र की जघन्य स्थिति ज्ञात होती है।

यहा पर जो ८५ प्रकृतियों की जघन्य स्थिति बतलाई है, उस
कर्मप्रकृति की विवेचना के अनुरूप पल्य के असंख्यातवे भाग
कम करने का संकेत इस गाथा मे नही किया गया है, लेकिन आगे
था मे 'पलियासंखंसहीण लहुबंधो' पद दिया है। जिसका अर्थ है
के असंख्यातवे भाग को कम कर देने पर एकेन्द्रिय जीव की उ
की जघन्य स्थिति होती है। अतः कर्मप्रकृति के अनुसा

र्म प्रकृतियो की जघन्य स्थिति की विवेचना करने मे आगे की गाथा र उक्त पद की अनुवृत्ति कर लेने पर किसी प्रकार की विभिन्नता नही रहती है। क्योंकि यह पहले संकेत कर आये है कि जघन्य स्थिति[1] का वंध एकेन्द्रिय जीव करते है।

कुछ एक प्रकृतियों को छोडकर शेष प्रकृतियो की सामान्य से जघन्य स्थिति वतलाकर अव एकेन्द्रिय आदि जीवों के योग्य प्रकृतियों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति तथा आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियों की जघन्य स्थिति वतलाते है।

अयमुक्कोसो गिंदिसु पलियासखंसहीण लहुबधो ।
कमसो पणवीसाए पन्नासयसहस्ससंगुणिओ ॥३७॥
विगलिअसन्निसु जिट्ठो कणिट्ठउ पल्लसंखभागूणो ।
सुरनरयाउ समादससहस्स सेसाउ खड्डभवं ॥३८॥

शब्दार्थ—**अयं** यह (पूर्वोक्त रीति से वताया गया), **उक्कोसो**—उत्कृष्ट स्थितिवन्ध, **गिंदिसु**—एकेन्द्रिय का, **पलियासंखंसहीण**—पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन, **लहुबंधो**—जघन्यस्थितिवध, **कमसो**—अनुक्रम से, **पणवीसाए**—पच्चीस से **पन्ना**—पचास से, **सय**—सौ से, **सहस** हजार से, **संगुणिओ** गुणा करने पर।

विगलिअसन्निसु—विकलेन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय का, **जिट्ठो**—उत्कृष्ट स्थितिवध, **कणिट्ठउ**—जघन्य स्थितिबध, **पल्लसंखभागूणो**—पल्योपम के सख्यातवें भाग को कम करने से, **सुरनरयाउ** - देवायु और नरकायु की, **समा** वर्ष, **दससहस्स**—दस हजार, **सेसाउ** - वाकी की आयु की, **खुड्डभव**—क्षुद्रभव।

गाथार्थ - एकेन्द्रिय जीवो के पूर्वोक्त स्थितिवध उत्कृष्ट और जघन्य पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम समझना

[1] जघन्य स्थितिवध के सवध मे विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट मे देखिये।

चाहिए तथा अनुक्रम से पच्चीस, पचास, सौ, हजार से गुणा करने पर –

विकलेन्द्रियो और असंज्ञी पंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध होता है तथा जघन्य स्थितिबंध पल्योपम का संख्यातवा भाग न्यून है। देवायु और नरकायु की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष तथा शेष आयुओं की क्षुद्रभव प्रमाण है।

विशेषार्थ—पूर्व की गाथाओं में उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट जघन्य स्थिति सामान्य से बतलाई है। लेकिन इन दो गाथा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रि अपेक्षा उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बतला साथ-साथ आयुकर्म के चारों भेदो की जघन्य स्थिति भी बतलाई

पूर्व गाथा में शेष ८५ प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध को ब के लिये उन प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति या उनके वर्ग की उ स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने का जो वि किया गया है, उसी को एकेन्द्रिय जीवो के उत्तर प्रकृतियों के उ स्थितिबंध को निकालने के लिये भी काम मे लाया जाता है। नुसार विवक्षित प्रकृतियों की पूर्व मे बताई गई उत्कृष्ट स्थिति मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर जितना लब्ध आ उतना ही एकेन्द्रिय जीव के उस प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबंध है। जैसे कि पॉच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, पॉच अंतराय असातावेदनीय, इन वीस प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडा सागर प्रमाण है तो इसको मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट कोडाकोडी सागरोपम का भाग देने पर प्राप्त लब्ध $\frac{3}{7}$ उत्कृष्ट स्थितिबंध एकेन्द्रिय जीव का होगा। कर्म ानुसार इनके वर्गों की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व मो

की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने से प्राप्त लब्ध के बराबर समझना चाहिए। जैसे कि पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, दो वेदनीय और पाँच अंतराय के वर्गों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोडी सागर प्रमाण है। उसमे मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम का भाग देने पर प्राप्त लब्ध $\frac{3}{7}$ एकेन्द्रिय जीव के उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण होगा। इस प्रकार से दोनों की कथन शैली में भिन्नता होने पर भी मूल आशय समान है।

इसी क्रम से अन्य प्रकृतियों की स्थिति निकालने पर मिथ्यात्व की एक सागर, सोलह कषायो की $\frac{4}{7}$ सागर, नौ नोकषायो की $\frac{2}{7}$ सागर, वैक्रियपट्क[1], आहारकद्विक और तीर्थंकर नाम को छोडकर एकेन्द्रिय

---

[1] एकेन्द्रियादिक जीवो के वैक्रियषट्क का वध नही होने से, उसकी जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति नही वतलाई है किन्तु असज्ञी पचेन्द्रिय को उसका वध होता है। अत. उसकी अपेक्षा पचसग्रह मे वैक्रियषट्क की निम्न प्रकार मे जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है—

वेउव्विछक्कि त सहमताडिय ज असन्निणो तेंसि।
पलियासंखसूण ठिई अबाहूणिय निसेगो ॥

—पंचसग्रह ५।४६

वैक्रियषट्क की उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यात्व की स्थिति द्वारा भाग देने पर जो लब्ध आये उसको हजार से गुणा करने पर प्राप्त गुणनफल मे से पल्योपम का असख्यातवा भाग न्यून वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति है। अबाधाकाल न्यून निषेक काल है।

वैक्रियषट्क की उत्कृष्ट स्थिति वीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि नरकद्विक, वैक्रियद्विक की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की और देवद्विक की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम बतलाई है, तथापि यहाँ उसकी जघन्य स्थिति बतलाने के लिए बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण लिया गया है। यह स्पष्टीकरण टीका मे किया गया है।

चाहिए तथा अनुक्रम से पच्चीस, पचास, सौ, हजार से गुणा करने पर —

विकलेन्द्रियो और असंज्ञी पंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है तथा जघन्य स्थितिबंध पल्योपम का संख्यातवा भाग न्यून है। देवायु और नरकायु की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष तथा शेष आयुओं की क्षुद्रभव प्रमाण है।

विशेषार्थ—पूर्व की गाथाओं में उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति सामान्य से बतलाई है। लेकिन इन दो गाथाओं में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय की अपेक्षा उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बतलाने के साथ-साथ आयुकर्म के चारों भेदों की जघन्य स्थिति भी बतलाई है।

पूर्व गाथा में शेष ८५ प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध को बतलाने के लिये उन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति या उनके वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने का जो विधान किया गया है, उसी को एकेन्द्रिय जीवो के उत्तर प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबंध को निकालने के लिये भी काम में लाया जाता है। तदनुसार विवक्षित प्रकृतियो की पूर्व मे बताई गई उत्कृष्ट स्थितियों मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर जितना लब्ध आता है, उतना ही एकेन्द्रिय जीव के उस प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। जैसे कि पॉच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, पॉच अंतराय और असातावेदनीय, इन वीस प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है तो इसको मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम का भाग देने पर प्राप्त लब्ध $\frac{3}{7}$ सागर प्रमाण का उत्कृष्ट स्थितिबंध एकेन्द्रिय जीव का होगा। कर्मप्रकृति के मंतव्यानुसार इनके वर्गों की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व मोहनीय,

की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने से प्राप्त लब्ध के बराबर समझना चाहिए। जैसे कि पॉच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, दो वेदनीय और पॉच अंतराय के वर्गों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोडी सागर प्रमाण है। उसमे मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम का भाग देने पर प्राप्त लब्ध ३/७ एकेन्द्रिय जीव के उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण होगा। इस प्रकार से दोनो की कथन शैली मे भिन्नता होने पर भी मूल आशय समान है।

इसी क्रम से अन्य प्रकृतियों की स्थिति निकालने पर मिथ्यात्व की एक सागर, सोलह कषायो की ४/७ सागर, नौ नोकषायों की २/७ सागर, वैक्रियपट्क[1], आहारकद्विक और तीर्थंकर नाम को छोड़कर एकेन्द्रिय

---

१ एकेन्द्रियादिक जीवो के वैक्रियषट्क का वध नही होने से, उसकी जधन्य व उत्कृष्ट स्थिति नही वतलाई है किन्तु असज्ञी पचेन्द्रिय को उसका वध होता है। अत उसकी अपेक्षा पचसग्रह मे वैक्रियपट्क की निम्न प्रकार मे जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति वतलाई है—

वेउव्विछक्कि त सहमताडिय ज असन्निणो तेसिं।
पलियासंखसूण ठिई अवाहूणियनिसेगो ॥

—पंचसग्रह ५।४६

वैक्रियपट्क की उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यात्व की स्थिति द्वारा भाग देने पर जो लब्ध आये उसको हजार से गुणा करने पर प्राप्त गुणनफल मे से पल्योपम का असख्यातवा भाग न्यून वैक्रियपट्क की जघन्य स्थिति है। अवाधाकाल न्यून निपेक काल है।

वैक्रियपट्क की उत्कृष्ट स्थिति वीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है। यहाँ इतना विशेप जानना चाहिये कि नरकद्विक, वैक्रियद्विक की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की और देवद्विक की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम वतलाई है, तथापि यहाँ उसकी जघन्य स्थिति वतलाने के लिए वीस कोडाकोडी सागर प्रमाण लिया गया है। यह स्पष्टीकरण टीका मे किया गया है।

के वंध योग्य नामकर्म की ५८ प्रकृतियों और दोनो गोत्रो की $\frac{2}{7}$ सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति आती है।

एकेन्द्रिय के इस उत्कृष्ट स्थितिवंध मे से पल्य का असंख्यातवा भाग कम कर देने पर एकेन्द्रिय जीव के जघन्य स्थितिवंध का प्रमाण होगा पलियासंखंसहीण लहुवंधो। अर्थात् जो विभिन्न प्रकृतियों की $\frac{3}{7}$ सागर आदि उत्कृष्ट स्थितियां बतलाई है, उनमे से पल्य का असंख्यातवाँ भाग कम कर देने पर एकेन्द्रिय जीव के लिए वही उस प्रकृति की जघन्य स्थिति हो जाती है।

इस प्रकार से एकेन्द्रिय की अपेक्षा से स्थितिवंध का परिमाण वतलाने के पश्चात अब विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवो के लिये उसका परिमाण बतलाते है।

एकेन्द्रिय जीव के जो $\frac{3}{7}$ सागर आदि उत्कृष्ट स्थितिवंध बतलाया है, उसको पच्चीस से गुणा करने पर द्वीन्द्रिय का, पचास से गुणा करने पर त्रीन्द्रिय का, सौ से गुणा करने पर चतुरिन्द्रिय का और हजार से गुणा करने पर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का उत्कृष्ट स्थितिवंध का परिमाण होता है। इसका अर्थ यह है कि द्वीन्द्रिय आदि जीवों का स्थितिवंध एकेन्द्रिय जीव के स्थितिबंध की अपेक्षा पच्चीस, पचास गुणा आदि अधिक है। जैसे एकेन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर है तो द्वीन्द्रिय जीव के उसकी उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागर वंधती है। अन्य प्रकृतियों के लिये भी इसी अपेक्षा को समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय के लिए जानना चाहिये कि एकेन्द्रिय जीव की मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर प्रमाण है तो उससे पचास गुणी यानी पचास सागर प्रमाण वंधती है। अन्य प्रकृतियो के स्थितिवंध के वारे मे भी इसी नियय का उपयोग करना चाहिए। चतुरिन्द्रिय जीव के लिए एकेन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट स्थिति मे सौ का

गुणा तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय के लिये हजार का गुणा करना चाहिए। इसका जो गुणनफल प्राप्त हो वह उन-उन जीवों की उस-उस प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति होगी।

द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जो उनका उत्कृष्ट स्थितिबंध बतलाया है, उसमें से पल्य का संख्यातवां भाग कम कर देने पर उनका अपना-अपना जघन्य स्थितिबंध होता है।[1] इस प्रकार एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों के स्थितिबंध का प्रमाण समझना चाहिये।

---

१ कर्मग्रन्थ की तरह गो० कर्मकाड मे भी एकेन्द्रिय आदि जीवो के स्थिति-वध का प्रमाण वतलाया है। उसकी कथन प्रणाली इस प्रकार है—

एयं पणकदि पण्णं सय सहस्सं च मिच्छवरबंधो।
इगविगलाणं अवरं पल्लासंखूणसंखूण ॥१४४॥

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय चतुष्क (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय) जीवो के मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिवध क्रमश. एक सागर, पच्चीस सागर, पचास सागर, सौ सागर और एक हजार सागर प्रमाण है तथा उसका जघन्य स्थितिवध एकेन्द्रिय के पल्य के असख्यातवे भागहीन एक सागर प्रमाण है तथा विकलेन्द्रिय जीवो के पल्य के सख्यातवें भाग हीन अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण होता है।

जदि सत्तरिस्स एत्तियमेत्तं किं होदि तीसियादीणं।
इदि संपाते सेसाण इगिविगलेसु उभयठिदी ॥१४५॥

यदि सत्तर कोडाकोड़ी सागर की स्थिति वाला मिथ्यात्व कर्म एकेन्द्रिय जीव एक सागर प्रमाण वाधता है तो तीस कोडाकोडी सागर आदि की स्थिति वाले वाकी कर्मो को एकेन्द्रिय जीव कितनी स्थिति प्रमाण वाध सकता है? इस प्रकार त्रैराशिक विधि करने से एकेन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट स्थिति ३ सागर प्रमाण होती है, इस प्रकार दोनो स्थितिया त्रैराशिक के द्वारा निकल आती है।

आयुकर्म की उत्तर प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध इस प्रका समझना चाहिये कि 'सुरनरयाउ समादससहस्स' देवायु और नरका की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है तथा देवायु व नरकायु के सिवाय शेष दो आयुओ—तिर्यंचायु, मनुष्यायु की जघन्य स्थिति क्षुद्रभव प्रमाण है। आगमों में जो मनुष्यायु और तिर्यंचायु की जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त प्रमाण वतलाई है, उसका यहाँ वतलाये गये क्षुद्रभव प्रमाण से कोई विरोध नही है। इसका कारण यह है कि अन्तमुहूर्त के वहुत से भेद है, उनमें से यहां क्षुद्रभव प्रमाण अन्तमुहूर्त लेना चाहिये। अन्तमुहूर्त न लिखकर उसके ठीक-ठीक परिमाण का सूचक क्षुद्रभव लिखा है। क्षुद्रभव का निरूपण आगे किया जा रहा है।

इस प्रकार से उत्तर प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध का कथन करके अब जघन्य अवाधा तथा तीर्थंकर व आहारकद्विक के जघन्य स्थितिबंध संबंधी मतान्तर को वतलाते है।

सव्वाणवि लहुबधे भिन्नमुहू अबाह आउजिट्ठे वि।
केइ सुराउसमं जिणमंतमुहू बिति आहार ॥३९॥

शब्दार्थ—सव्वाण—सब प्रकृतियो की, **वि**—तथा, **लहुबधे**—जघन्य स्थितिबध की, **भिन्नमुहू**—अन्तर्मुहूर्त, **अबाह**-अवाधाकाल, **आउजिट्ठे वि**—आयु के उत्कृष्ट स्थितिबध की भी, **केइ**—कुछ एक, **सुराउसमं** देवायु के समान, **जिणं**—तीर्थंकर नामकर्म की, **अंत-मुहु**—अन्तर्मुहूर्त, **विंति**—कहते है, **आहार** आहारकद्विक की।

गाथार्थ—समस्त प्रकृतियो के जघन्य स्थितिबंध की अन्तमुहूर्त की अवाधा होती है। आयुकर्म के उत्कृष्ट स्थितिबंध की जघन्य अवाधा अन्तमुहूर्त प्रमाण है। किन्ही

आचार्यों के मत से तीर्थंकर नामकर्म की जघन्य स्थिति देवायु की जघन्य स्थिति के समान दस हजार वर्ष की है और आहारकद्विक की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

विशेषार्थ—गाथा में दो बातों का कथन किया गया है। गाथा के पूर्वार्ध मे सभी उत्तर प्रकृतियों का जघन्य अवाधाकाल और उत्तरार्ध में तीर्थंकर व आहारकद्विक की जघन्य स्थिति का मतान्तर वतलाया है।

जघन्य स्थितिबंध में जो अबाधाकाल होता है, उसे जघन्य अवाधा और उत्कृष्ट स्थितिबंध में जो अबाधाकाल होता है उसे उत्कृष्ट अवाधा कहते है। अतः जघन्य स्थितिबंध में सभी उत्तर प्रकृति के जघन्य स्थितिबंध का अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलाया है—"सव्वाणवि लहुबंधे भिन्नमुहू अवाह।" लेकिन यह नियम आयुकर्म को छोडकर शेष सात कर्मों के अवाधाकाल को वतलाने के लिए लागू होता है। क्योकि उनकी अवाधा स्थिति के प्रतिभाग के अनुसार होती है। लेकिन आयुकर्म के बारे में प्रतिभाग की निश्चित निर्णयात्मक स्थिति नही है। आयुकर्म की तो उत्कृष्ट स्थिति में भी जघन्य अवाधा हो सकती है और जघन्य स्थिति मे भी उत्कृष्ट अवाधा हो सकती है। इसीलिये आयुकर्म की अवाधा मे चार विकल्प माने जाते है—(१) उत्कृष्ट स्थितिबंध में उत्कृष्ट अबाधा, (२) उत्कृष्ट स्थितिबंध में जघन्य अवाधा, (३) जघन्य स्थितिबंध मे उत्कृष्ट अवाधा और (४) जघन्य स्थितिबंध में जघन्य अवाधा। इनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है कि जब कोई मनुष्य अपनी पूर्व कोटि की आयु में तीसरा भाग शेष रहने पर तेतीस सागर की आयु बाधता है तब उत्कृष्ट स्थिति मे उत्कृष्ट अवाधा होती है और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रहने पर तेतीस सागर की आयु बाधता

है तब उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य अबाधा होती है। जब कोई मनुष्य एक पूर्व कोटि का तीसरा भाग शेष रहते परभव की जघन्य स्थिति बांधता है जो अन्तमुहूर्त प्रमाण हो सकती है, तब जघन्य स्थिति में उत्कृष्ट अबाधा होती है और जब कोई अन्तमुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रहने पर परभव की अन्तमुहूर्त प्रमाण स्थिति बाधता है तब जघन्य स्थिति में जघन्य अबाधा होती है। अतः आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति मे भी जघन्य अबाधा हो सकती है और जघन्य स्थिति मे भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है। विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट में किया गया है।

इस प्रकार से कर्मों की स्थिति की अबाधा का स्पष्टीकरण समझना चाहिये। अब दूसरी बात तीर्थंकर नामकर्म व आहारकद्विक की जघन्य स्थितिबंध के मतान्तर पर विचार करते है।

ग्रन्थकार ने पूर्व में तीर्थंकर और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियो की जघन्य स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम बतलाई है। लेकिन कोई-कोई आचार्य इन तीनों की जघन्य स्थिति बतलाते है—

सुरनारयाउयाणं दसवाससहस्स लघु सतित्थाण ।[1]

तीर्थंकर नामकर्म सहित देवायु, नरकायु की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है। यानी तीर्थंकर नामकर्म की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष प्रमाण है। तथा—

साए बारस हारगविग्घावरणाण किंचूण ।[2]

साता वेदनीय की बारह मुहूर्त और आहारक, अंतराय, ज्ञानावरण व दर्शनावरण को कुछ कम मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति है।

---

१ पचसग्रह ५।४६ २ पचसग्रह ५।४७

मतान्तर का उल्लेख करके इसका स्पष्टीकरण नही किया है। संभवतः तथाविध परंपरा का अभाव हो जाने से विशेष स्पष्टीकरण नही किया जा सका है।[1]

पहले तिर्यचायु और मनुष्यायु की जघन्य स्थिति क्षुद्रभव के बराबर बतलाई है, अतः अब दो गाथाओं में क्षुद्रभव का निरूपण करते है।

सत्तरससमहिया किर इगाणुपाणुंमि हुंति खुड्डभवा।
सगतीससयत्तिहुत्तर पाणू पुण इगमुहुत्तंमि ॥४०॥
पणसट्ठिसहस्सपणसय छत्तीसा इगमुहुत्तखुड्डभवा।
आवलियाण दोसय छप्पन्ना एगखुड्डभवे ॥४१॥

शब्दार्थ—**सत्तरस**—सत्रह, **समहिया**—कुछ अधिक, **किर**—निश्चय से, **इगाणुपाणुंमि**—एक श्वासोच्छ्वास मे, **हुंति**—होते हैं, **खुड्डभवा**—क्षुल्लक भव, **सगतीससयतिहुत्तर**—सैंतीस सौ तिहत्तर, **पाणु**—प्राण, श्वासोच्छ्वास, **इगमुहुत्तमि**—एक मुहूर्त मे।

पणसट्ठिसहस्स—पैंसठ हजार, **पणसय**—पाच सौ, **छत्तीस**—छत्तीस, **इगमुहुत्त**—एक मुहूर्त मे, **खुड्डभवा**—क्षुद्रभव, **आवलियाणं**—आवलिका, **दोसय**—दो सौ, **छप्पन्ना**—छप्पन, **एगखुड्डभवे**—एक क्षुद्रभव मे।

गाथार्थ—एक श्वासोच्छ्वास में निश्चित रूप से कुछ अधिक सत्रह क्षुद्रभव और एक मुहूर्त में सैंतीस सौ तिहत्तर श्वासोच्छ्वास होते है। तथा—

---

१. पचसग्रह मे भी उक्त गाथाओ की टीका मे मतान्तर का उल्लेख करके विशद विवेचन नही किया है। तीर्थंकर नामकर्म का दस हजार वर्ष प्रमाण जघन्य स्थितिबध पहले नरक मे दस हजार वर्ष की आयुबध सहित जाने वाले जीव की अपेक्षा घटता है।

एक मुहूर्त मे पैसठ हजार पाच सौ छत्तीस क्षुद्रभव होते है और एक क्षुद्रभव मे दो सौ छप्पन आवली होती है।

विशेषार्थ—गाथा में क्षुद्र (क्षुल्लक) भव का स्वरूप बतलाया है। सम्पूर्ण भवो मे सब से छोटे भव को क्षुल्लक भव कहते है। यह भव निगोदिया जीव के होता है। क्योंकि निगोदिया जीव की स्थिति सब भवों की अपेक्षा अल्प होती है और वह भव मनुष्य व तिर्यंच पर्याय मे ही होता है। जिससे मनुष्य और तिर्यंच आयु की जघन्य स्थिति क्षुल्लक भव प्रमाण बतलाई है। क्षुल्लक भव का परिमाण इस प्रकार समझना चाहिए कि—

जैन कालगणना के अनुसार असंख्यात समय की एक आवली होती है। संख्यात आवली का एक उच्छ्वास-निश्वास होता है। एक निरोग, स्वस्थ, निश्चिन्त, तरुण पुरुष के एकबार श्वास लेने और त्यागने के काल को एक उच्छ्वास काल या श्वासोच्छ्वास काल कहते है। सात श्वासोच्छ्वास काल का एक स्तोक होता है। सात स्तोक का एक लव तथा साढे अडतीस लव की एक नाली या घटिका होती है। दो घटिका का एक मुहूर्त होता है।[1]

---

१ कालो परमनिरुद्धो अविभज्जो त तु जाण समय तु।
समया य असखेज्जा हवइ हु उस्सासनिस्सासो ॥
उस्सासो निस्सासो यदोऽवि पाणुत्ति भन्नए एक्को।
पाणा य सत्त थोवा थोवावि य मत्त लवमाहु ॥
अट्ठत्तीस तु लवा अद्धलवो चेव नालिया होइ।
—ज्योतिष्करण्डक ८, ९, १०

काल के अत्यन्त सूक्ष्म अविभागी अश को समय कहते है। असख्यात समय का एक उच्छ्वास-निश्वास होता है, उसे प्राण भी कहते है। सात प्राण का एक स्तोक, सात स्तोक का एक लव, साढे अडतीस लव की एक नाली होती है। दो नाली का एक मुहूर्त होता है—वे नालिया मुहुत्तो।

इसीलिये एक मुहूर्त में श्वासोच्छ्वासों की संख्या मालूम करने के लिए १ मुहूर्त × २ घटिका × ३७$\frac{१}{२}$ लव ७ स्तोक × ७ उच्छ्वास, इस प्रकार सवको गुणा करने पर ३७७३ संख्या आती है तथा एक मुहूर्त में एक निगोदिया जीव ६५५३६ बार जन्म लेता है, जिससे ६५५३६ में ३७७३ से भाग देने पर १७$\frac{१३९५}{३७७३}$ लब्ध आता है, अतः एक श्वासोच्छ्वास काल में सत्रह से कुछ अधिक क्षुद्र भवो का प्रमाण जानना चाहिये।[1] अर्थात् एक क्षुल्लक भव का काल एक उच्छ्वास-निश्वास काल के कुछ अधिक सत्रहवे भाग प्रमाण होता है और उतने ही समय मे दो सौ छप्पन आवली होती है।

आधुनिक कालगणना के अनुसार क्षुल्लक भव के समय का प्रमाण इस प्रकार निकाला जायेगा कि एक मुहूर्त में अड़तालीस मिनट होते है

---

१ दिगम्बर साहित्य मे एक श्वासोच्छवास काल मे १८ क्षुल्लक भव माने है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठि सहस्सगाणि मरणाणि ।
अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥ —**गो० जीवकाड १२३**

लब्ध्यपर्याप्तक जीव एक अन्तर्मुहूर्त मे ६६३३६ बार मरण कर उतने ही भवो—जन्मो को भी धारण करता है, अत एक अन्तर्मुहूर्त मे उतने ही अर्थात् ६६३३६ क्षुद्रभव होते है। इन भवो को क्षुद्रभव इसलिए कहते है कि इनसे अल्पस्थिति वाला अन्य कोई भी भव नही पाया जाता है। इन भवो मे से प्रत्येक का कालप्रमाण श्वास का अठारहवा भाग है। फलत. त्रैराशिक के अनुसार ६६३३६ भवो के श्वासो का प्रमाण ३६८५$\frac{१}{३}$ होता है। इतने उच्छ्वासो के समूह प्रमाण अन्तर्मुहूर्त मे पृथ्वीकायिक से लेकर पचेन्द्रिय तक लब्ध्यपर्याप्तक जीवो के क्षुद्र भव ६६३३६ हो जाते है। ३७७३ उच्छ्वासो का एक मुहूर्त होता है तथा इन ६६३३६ भवो मे से द्वीन्द्रिय के ८०, त्रीन्द्रिय के ६० चतुरिन्द्रिय के ४०, पचेन्द्रिय के २४ और एकेन्द्रिय के ६६१३२ क्षुद्रभव होते है।

यानी एक मुहूर्त ४८ मिनट के बराबर होता है और एक मुहूर्त में ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते है। अतः ३७७३ मे ४८ से भाग देने पर एक मिनट में साढे अठहत्तर के लगभग श्वासोच्छ्वास आते है, अर्थात् एक श्वासोच्छ्वास का काल एक सेकिण्ड से भी कम होता है और उतने काल में निगोदिया जीव सत्रह से भी कुछ अधिक वार जन्म धारण करता है। इससे क्षुल्लक भव की क्षुद्रता का सरलता से अनुमान किया जा सकता है।

क्षुल्लक भव की इसी सूक्ष्मता को गाथा में स्पष्ट किया गया है कि क्षुल्लक भव का समय एक श्वासोच्छ्वास के सत्रह से भी कुछ अधिक अंशो में से एक अंश है।

इस प्रकार से वैक्रियषट्क के सिवाय शेप प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध और सभी प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध का निरूपण करके अव आगे उनके उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियों को वतलाते है।

अविरयसम्मो तित्थं आहारदुगामराउ य पमत्तो।
मिच्छद्दिट्ठी बधइ जिट्ठठिई सेसपयडीणं ॥४२॥

शब्दार्थ—**अविरयसम्मो** अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य, **तित्थं**—तीर्थंकर नामकर्म को, **आहारदुग**—आहारकद्विक, **अमराउ**—देवायु को, **य**—और **पमत्तो**—प्रमत्तविरति, **मिच्छदिट्ठी**—मिथ्यादृष्टि, **बधइ**—बाधता है, **जिट्ठठिई**—उत्कृष्ट स्थिति, **सेसपयडीणं**—शेप प्रकृतियो की।

गाथार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म के, प्रमत्तविरति आहारकद्विक और देवायु के और मिथ्यादृष्टि शेप प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबंध को करता है।

विशेषार्थ—गाथा में उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियों का कथन किया गया है कि बंधयोग्य १२० प्रकृतियों मे से किस प्रकृति का कौन उत्कृष्ट स्थितिबंध करता है।

सर्वप्रथम तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामी का संकेत करते हुए कहा है कि—'अविरयसम्मो तित्थं' अविरत सम्यग्-दृष्टि मनुष्य तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध का स्वामी है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध का स्वामी मनुष्य है। इसका कारण यह है कि यद्यपि तीर्थंकर प्रकृति का बंध चौथे गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है किन्तु उत्कृष्ट स्थिति उत्कृष्ट संक्लेश से ही बंधती है और वह उत्कृष्ट संक्लेश तीर्थंकर प्रकृति के बंधकों में से उस अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य के होता है जो अविरत सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व ग्रहण करने से पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में नरकायु का बंध कर लेता है और बाद मे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ग्रहण करके तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है, वह मनुष्य जब नरक में जाने का समय आता है तो सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व को अंगीकार करता है। जिस समय में वह सम्यक्त्व को त्याग कर मिथ्यात्व को अंगीकार करता है, उससे पहले समय में उस अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य के तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है।

देवगति और नरकगति मे तीर्थंकर प्रकृति का बंध तो होता है किन्तु वहा तीर्थंकर प्रकृति का बंधक चौथे गुणस्थान से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख नही होता है और ऐसा हुए बिना तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध का कारण उत्कृष्ट संक्लेश नही हो सकता। इसीलिए तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के लिए

मनुष्य का ग्रहण किया तथा तीर्थंकर प्रकृति का वंध करने से पहले जो मनुष्य नरकायु का वंध नहीं करता है वह तीर्थंकर प्रकृति का वंध करने के वाद नरक में उत्पन्न नही होता है। अतः वैसे मनुष्य का ग्रहण किया गया जो तीर्थंकर प्रकृति का वंध करने से पहले नरकायु बाध लेता है। कोई-कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव (राजा श्रेणिक जैसे) सम्यक्त्व दशा मे मरकर नरक में जा सकते है किन्तु विशुद्ध परिणामों के कारण वे जीव तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिवंध नही कर सकते है। अतः तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिवंध के प्रकरण में मिथ्यात्व के अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य का ही ग्रहण किया है।

तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध के संवन्ध में उक्त कथन का सारांश यह है कि यद्यपि चौथे से लेकर आठवे गुणस्थान तक तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है किन्तु उत्कृष्ट स्थितिबंध के लिए उत्कृष्ट संक्लेश की आवश्यकता है और तीर्थंकर प्रकृति के बंधक मनुष्य को उत्कृष्ट संक्लेश उसी दशा मे हो सकता है जब वह मिथ्यात्व के अभिमुख हो और ऐसा मनुष्य मिथ्यात्व के अभिमुख तभी होता है जब उसने तीर्थंकर प्रकृति का वंध करने के पहले नरकायु का वंध कर लिया है। वद्धनरकायु अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य जव मिथ्यात्व के अभिमुख होता है, उसी समय मे उसके तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। क्षायिक सम्यक्त्व सहित जो नरक में जाता है वह उससे विशुद्धतर है अतः उसका यहा ग्रहण नही किया गया है।[1]

---

१ तथा चोक्त शतकचूर्णौ—'तित्थयरनामस्स उक्कोसठिइ मणुस्सो अविरजओ वेयगसम्मद्दिट्ठी पुव्व नरगवद्धाउगो नरगाभिमुहो मिच्छत्तं पडिवज्जिही इति अतिमे ठिईबन्धे वट्टमाणो वधइ, तब्वधगेसु अइसकिलिट्ठो त्ति काउ। जो सम्मत्तेण खाइगेण नरग वच्चई सो तओ विसुद्धपरोत्ति का उं तम्मि उक्कोसो न हवइ त्ति।' —पंचसंग्रह प्र० भाग, मलयगिरि टीका

तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामी का कथन करने के बाद अब आहारकद्विक और देवायु के बंधस्वामी के बारे मे कहते है कि—'आहारदुगामराउ य पमत्तो'—आहारकद्विक और देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध का स्वामी प्रमत्तसंयत मुनि है। यहा प्रमत्तसंयत शब्द द्व्यर्थक है। आहारकद्विक—आहारक शरीर और आहारक अंगोपाग के उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रसंग मे इसका अर्थ यह है कि अप्रमत्त गुणस्थान से च्युत हुआ प्रमत्तसंयत मुनि। क्योंकि इन दोनो प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध के लिए उत्कृष्ट संक्लेश होना आवश्यक है और उनके बंधक प्रमत्त मुनि के उसी समय उत्कृष्ट संक्लेश होता है जब वह अप्रमत्त गुणस्थान से च्युत होकर छठे गुणस्थान मे आता है। अतः उसके ही इन दो प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध जानना चाहिये।[1]

देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध के लिये आहारकद्विक के उत्कृष्ट स्थितिबंध से विपरीत स्थिति है। आहारकद्विक के उत्कृष्ट स्थितिबंध के लिये उत्कृष्ट संक्लेश की आवश्यकता है। यह उत्कृष्ट संक्लेश प्रमत्त मुनि के उसी समय होता है जब वह अप्रमत्त गुणस्थान से च्युत

---

१ (क) तथा 'आहारकद्विक' आहारकशरीर-आहारकाङ्गोपाङ्गलक्षण 'पमुत्तु' त्ति प्रमत्तसयतो अप्रमत्तभावान्निवर्तमान इति विशेपो दृश्य, उत्कृष्टस्थितिक वध्नाति। अशुभा हीय स्थितिरित्युत्कृष्टसक्लेशेनैवोत्कृष्टा वध्यते, तद्वन्धकश्च प्रमत्तयतिरप्रमत्तभावान्निवर्तमान एवोत्कृष्टसंक्लेशयुक्तो लभ्यते इतीत्य विशिष्यते। —कर्मग्रन्थ टीका

(ख) आहारकद्विकस्याप्रमत्तयति. प्रमत्तताभिमुख.।

—कर्मप्रकृति यशोविजयजी कृत टीका

(ग) आहारकद्विकस्यापि योऽप्रमत्तसयत प्रमत्तभावाभिमुख. स तद्वधकेपु सर्वसक्लिष्ट इत्युत्कृष्टं स्थितिवधं करोति।

—पंचसंग्रह ५।६४ की टीका

होकर छठे प्रमत्त गुणस्थान में आता है,लेकिन देवायु का उत्कृष्ट स्थिति-वंध अप्रमत्तसंयत गुणस्थान के अभिमुख प्रमत्तसंयत मुनि के ही होता है। क्योकि यह स्थिति शुभ है।[1] अतः इसका वंध विशुद्ध दशा मे ही होता है और यह विशुद्ध दशा अप्रमत्त भाव के अभिमुख प्रमत्तसंयत मुनि के ही होती है।

आहारकद्विक और देवायु के उत्कृष्ट स्थितिवंध होने के उक्त कथनो का सारांश यह है कि आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग इन दो प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिवंध प्रमत्त गुणस्थान के अभिमुख हुए अप्रमत्तसंयत को होता है। इसके वंधयोग्य अति संक्लिष्ट परिणाम उसी समय होते है तथा. देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध का स्वामी भी अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती है किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रमत्त गुणस्थान मे आयुबंध को प्रारंभ करके अप्रमत्तसंयत गुणस्थान का आरोहण कर रहा हो। यानी आहारकद्विक का वंध सातवे गुण-स्थान से छठे गुणस्थान की ओर अवरोहण करने वाले अप्रमत्तसंयत मुनि को और देवायु का बंध छठे गुणस्थान में प्रारम्भ करके सातवे गुणस्थान की ओर आरोहण करने वाले मुनि को होता है।[2]

---

१ सव्वाण ठिइ असुभा उक्कोसुक्कोससंकिलेसेण।
इयरा उ·विसोहीए सुरनरतिरिआउए मोत्तुं।

—पंचसग्रह ५। ५

२ (क) आहारकशरीर तथा आहारकअगोपाग, ए वे प्रकृतिनो उत्कृष्ट स्थितिवध प्रमत्तगुणठाणाने सन्मुख थयेलो एवो अप्रमत्त यति ते अप्रमत्त गुणठाणाने चरमवधे वाधे। एना वधक माहे एहिज अति सक्लिष्ट छे। तथा देवनाना आयुनो उत्कृष्ट स्थितिवधस्वामी अप्रमत्त गुणस्थानकवर्ती साधु जाणवो। पण एटलुं विशेप जे प्रमत्त गुणस्थानके आयुवध आरभीने अप्रमत्ते चढतो साधु वाधे।

—पंचम कर्मग्रन्थ टवा

(अगले पृष्ठ पर देखें)

देवायु का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशुद्ध भावो से होने पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि प्रमत्त गुणस्थान की वजाय अप्रमत्तसंयत गुणस्थान मे ही उसका उत्कृष्ट स्थितिबंध वतलाना चाहिए था। क्योंकि प्रमत्तसंयत मुनि से, भले ही वह अप्रमत्त भाव के अभिमुख हो, अप्रमत्त मुनि के भाव विशुद्ध होते है।

इसका समाधान यह है कि अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में देवायु के वंध का प्रारम्भ नही होता है किन्तु प्रमत्त गुणस्थान में प्रारम्भ हुआ देवायु का वंध कभी-कभी अप्रमत्त गुणस्थान मे पूर्ण होता है। इसीलिए प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती किन्तु अप्रमत्त संयत गुणस्थान की ओर अभिमुख मुनि को देवायु का बंधक कहा है। द्वितीय कर्मग्रन्थ मे छठे, सातवे गुणस्थान में जो वंध प्रकृतियो की संख्या बतलाई है, उससे भी यही आशय निकलता है। छठे, सातवे गुणस्थान की वंध प्रकृतियों की संख्या वतलाने वाली द्वितीय कर्मग्रन्थ की गाथाये इस प्रकार है—

तेवट्ठि पमत्त सोग अरइ अथिरदुग अजस अस्सायं।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व नेइ सुराउ जया निट्ठ ॥७॥
गुणसट्ठि अप्पमत्ते सुराउबंध तु जइ इहागच्छे।
अन्नह अट्ठावण्णा जं आहारगदुग बंधे ॥८॥

(ख) देवाउग पमत्तो आहारयमपमत्तविरदो दु।
तित्थयर च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ ॥
—गो० कर्मकांड १३६

देवायु का उत्कृष्ट स्थितिबध अप्रमत्त भाव के अभिमुख प्रमत्त यति करता है और आहारकद्विक का उत्कृष्ट स्थितिबध प्रमत्त भाव के अभिमुख अप्रमत्त यति करता है।

(ग) कर्मप्रकृति स्थितिबधाधिकार गा० १०२, उपाध्याय यशोविजयजी कृत टीका मे भी इसी प्रकार का सकेत है।

—शेष ६३ प्रकृतियों का वंध प्रमत्तसंयत्त गुणस्थान में होता है। शोक, अरति, अस्थिरद्विक, अयशःकीर्ति और असाता वेदनीय—इन छह प्रकृतियों का वंधविच्छेद छठे गुणस्थान के अन्तिम समय मे हो जाने से और आहारकद्विक का वंध होने से अप्रमत्त संयत गुणस्थान में ५९ प्रकृतियों का और यदि कोई जीव छठे गुणस्थान में देवायु के वन्ध का प्रारम्भ करके उसे उसी गुणस्थान में पूरा कर लेता है तो उसकी अपेक्षा अरति आदि छह प्रकृतियों का तथा देवायु कुल सात प्रकृतियों का वंधविच्छेद कर देने से ५८ प्रकृतियों का वंध माना जाता है।

प्रमत्त मुनि जो देवायु के बंध का प्रारम्भ करते है, उनकी दो अवस्थाये होती है १—उसी गुणस्थान में देवायु के बंध का प्रारम्भ करके उसी गुणस्थान में उसकी समाप्ति कर देते है, २—छठे गुणस्थान में देवायु के बंध का प्रारम्भ करके सातवे गुणस्थान में उसकी पूर्ति करते है। इसका फलितार्थ यह निकलता है कि अप्रमत्त अवस्था में देवायु के बंध की समाप्ति तो हो सकती है, किन्तु उसका प्रारम्भ नही होता है। इसलिये देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध का स्वामी अप्रमत्त मुनि न होकर अप्रमत्त भाव के अभिमुख प्रमत्त संयमी को बतलाया है।[1]

आहारकद्विक, तीर्थकर और देवायु के सिवाय शेष ११६ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यादृष्टि ही करता है[2]—मिच्छद्दिट्ठी

---

१ सर्वार्थसिद्धि मे भी देवायु के वध का प्रारभ छठे गुणस्थान मे बतलाया है—

देवायुर्वन्धारम्भस्य प्रमाद एव हेतुरप्रमादोऽपि तत्प्रत्यासन्न ।

२ सव्वुक्कस्सठिदीणं मिच्छाइट्ठी दु वधगो भणिदो ।
आहार तित्थयर देवाउं वा विमोत्तूण ॥

—गो० कर्मकांड १३५

वंधइ जिट्ठठिई सेसपयडीणं। इन शेष ११६ प्रकृतियों का बंधक मिथ्या-दृष्टि को मानने का कारण यह है कि उत्कृष्ट स्थितिबंध प्रायः संक्लेश परिणामो से ही होता है तथा जघन्य स्थितिबंध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामो से[1] और सब बंधकों में मिथ्यादृष्टि के ही विशेष संक्लेश पाया जाता है। किन्तु यहां इतना विशेष जानना चाहिए कि इन ११६ प्रकृतियों में से मनुष्यायु और तिर्यचायु का उत्कृष्ट स्थिति-वंध विशुद्धि से होता है अतः इन दोनों का बंधक संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि न होकर विशुद्ध परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव होता है।

प्रश्न—मनुष्यायु का वंध चौथे गुणस्थान तक और तिर्यचायु का वंध दूसरे गुणस्थान तक होता है। अतः मनुष्यायु का उत्कृष्ट स्थिति-वंध अविरत सम्यग्दृष्टि को और तिर्यचायु का उत्कृष्ट स्थितिवंध सासादन सम्यग्दृष्टि को होना चाहिए, क्योंकि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अविरत सम्यग्दृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि के परिणाम विशेप शुद्ध होते है और तिर्यंचायु व मनुष्यायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध के लिये विशुद्ध परिणामो की आवश्यकता है।

उत्तर—अविरत सम्यग्दृष्टि के परिणाम मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा विशुद्ध होते है, किन्तु उनसे मनुष्यायु का उत्कृष्ट स्थितिवंध नही हो सकता है। क्योकि मनुष्यायु और तिर्यचायु की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की है। यह उत्कृष्ट स्थिति भोगभूमिज मनुष्यों और तिर्यचों की होती है। लेकिन चौथे गुणस्थानवर्ती देव और नारक मनुष्यायु का वंध करके भी कर्मभूमि में ही जन्म लेते है और मनुष्य

---

१ सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाण तु॥

—गो० कर्मकांड १३४

तथा तिर्यंच यदि अविरत सम्यग्दृष्टि हो तो देवायु का बंध करते है। जिससे चौथे गुणस्थान की विशुद्धि उत्कृष्ट मनुष्यायु के बंध का कारण नही हो सकती है।

अब दूसरे सासादन गुणस्थान में तिर्यंचायु के उत्कृट स्थितिबंध के बारे मे विचार करते है। दूसरा सासादन गुणस्थान उसी समय होता है जब जीव सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व के अभिमुख होता है। अतः सम्यक्त्व गुण के अभिमुख मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यक्त्व गुण से विमुख सासादन सम्यग्दृष्टि के अधिक विशुद्धि नही होती है, जिससे तिर्यंचायु का उत्कृष्ट स्थितिबंध सासादन सम्यग्दृष्टि को नही हो सकता है।

इस प्रकार से तीर्थंकर, आहारकद्विक, देवायु के उत्कृष्ट स्थिति-बंध का तथा मिथ्यादृष्टि को शेष ११६ प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थिति-बंध होने का सामान्य से स्पष्टीकरण करने के बाद अब आगे की गाथा में चार गतियो के मिथ्यादृष्टि जीव किन-किन प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबंध करते है, यह विस्तार से बतलाते है।

विगलसुहुमाउगतिगं तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुग।
एगिंदिथावरायव आईसाणा सुरुक्कोसं ।।४३।।

शब्दार्थ—**विगलसुहुमाउगतिग**—विकलत्रिक, सूक्ष्मत्रिक और आयुत्रिक, **तिरिमणुया**—तिर्यंच और मनुष्य, **सुरविउव्विनिरयदुगं**—देवद्विक, वैक्रियद्विक, नरकद्विक को, **एगिंदिथावरायव**-एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप नामकर्म, **आईसाणा**—ईशान तक के, **सुर**—देव, **उक्कोसं**—उत्कृष्ट स्थितिबंध।

गाथार्थ - मिथ्यात्वी तिर्यंच और मनुष्य विकलेन्द्रिय-त्रिक, सूक्ष्मत्रिक, आयुत्रिक तथा देवद्विक, वैक्रियद्विक और नरकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति को बांधते है। ईशान देवलोक

तक के देव एकेन्द्रिय जाति, स्थावर और आतप नामकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबंध करते है।

विशेषार्थ—इस गाथा मे पन्द्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यात्वी तिर्यचो और मनुष्यो को तथा तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और सौधर्म, ईशान स्वर्ग के देवो को बतलाया है।

तिर्यच और मनुष्यो द्वारा उत्कृष्ट स्थिति का बंध की जाने वाली पन्द्रह प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—

विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति), सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त), आयुत्रिक (नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु), देवद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी), वैक्रियद्विक (वैक्रियशरीर, वैक्रिय-अंगोपाग), नरकद्विक (नरकगति, नरकानुपूर्वी)।

उक्त पन्द्रह प्रकृतियो में से तिर्यचायु और मनुष्यायु के सिवाय शेष तेरह प्रकृतियों का बंध देवगति और नरकगति मे जन्म से ही नही होता है तथा मनुष्यायु और तिर्यचायु की उत्कृष्ट स्थिति जो तीन पल्य की है, वह भोगभूमिजों की होती है और नारक, देव मरकर भोगभूमिजों में जन्म ले नही सकते है। इसीलिये इन पन्द्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध मनुष्य और तिर्यचों को बतलाया है।

ईशान स्वर्ग तक के देवो द्वारा निम्नलिखित तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है—एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप नामकर्म। क्योंकि ईशान स्वर्ग से ऊपर के देव तो एकेन्दिय जाति मे जन्म ही नही लेते है। जिससे एकेन्द्रिय के योग्य उक्त तीन प्रकृतियो का बंध उनके नही होता है। मनुष्यों और तिर्यचो के यदि इस प्रकार के संक्लिष्ट परिणाम हों तो वे नरकगति के योग्य प्रकृतियो का बंध करते हैं, जिससे उनके एकेन्द्रिय जाति आदि तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट

स्थितिवंध नहीं हो सकता है। किन्तु भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और ईशान स्वर्ग तक के वैमानिक देवों के यदि इस प्रकार के संक्लिष्ट परिणाम होते है तो वे एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का वंध करते है। क्योकि देव मरकर नरक में जन्म नही लेते है।

इसीलिये विकलत्रिक आदि पन्द्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति-वंध मनुष्य और तिर्यंच गति में तथा एकेन्द्रिय आदि तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिवंध ईशान स्वर्ग तक के वैमानिक देवों के वतलाया है। इन अठारह प्रकृतियों के सिवाय शेष ६८ प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थिति-वंध के स्वामियों तथा सभी बंधयोग्य १२० प्रकृतियों के जघन्य स्थिति-बंध के स्वामियों का कथन आगे किया जा रहा है।

तिरिउरलदुगुज्जोयं छिवट्ठ सुरनिरय सेस चउगइया।
आहारजिणमपुव्वोऽनियट्टि संजलण पुरिस लहुं ॥४८॥
सायजसुच्चावरणा विग्घ सुहुमो विउव्विछ असन्नी।
सन्नोवि आउ वायरपज्जेगिंदिउ सेसाणं ॥४९॥

शब्दार्थ—**तिरिउरलदुग**—तिर्यंचद्विक और औदारिक-द्विक, **उज्जोयं**—उद्योत नामकर्म, **छिवट्ठ**—सेवार्तसंहनन, **सुर-निरय**—देव और नारक, **सेस**—वाकी की, **चउगइया**—चारो गति के मिथ्यादृष्टि, **आहारजिणं** आहारकद्विक और तीर्थकर नाम-कर्म को, **अपुव्वो**—अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती, **अनियट्टि**—अनिवृत्ति-वादर संपराय वाला **संजलण पुरिस** – सज्वलन कषाय और पुरुष वेद का, **लहुं**—जघन्य स्थितिवंध।

सायजसुच्च—साता वेदनीय, यशःकीर्ति नामकर्म, उच्च गोत्र, **आवरणा विग्घं** ज्ञानावरण पाच, दर्शनावरण चार और अंतराय पाच, **सुहुमो** सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान वाला, **विउव्विछ**—वैक्रियषट्क, **असन्नी** - असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त, **सन्नी**—संज्ञी, **वि** -

मी, आउ—चार आयु का, बायरपज्जेगिंदि—बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय, उ—और, सेसाणं—शेष प्रकृतियों को।

गाथार्थ—तिर्यंचद्विक, औदारिकद्विक, उद्योत नाम, सेवार्त संहनन का उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यात्वी देव और नारक और बाकी की ९२ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध चारों गति वाले मिथ्यादृष्टि जीव करते है।

आहारकद्विक और तीर्थंकर नामकर्म का जघन्य स्थितिबंध अपूर्वकरण नामक आठवे गुणस्थान में तथा संज्वलन कषाय और पुरुषवेद का जघन्य स्थितिबंध अनिवृत्तिबादर नामक नौवे गुणस्थान में होता है।

साता वेदनीय, यशःकीर्ति, उच्च गोत्र, पाच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाच अंतराय इन प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबंध सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अंत में होता है। वैक्रियषट्क का जघन्य स्थितिबंध असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच करता है, चार आयुओं का जघन्य स्थितिबंध संज्ञी और असंज्ञी दोनो ही करते है तथा शेष प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय जीव करता है।

विशेषार्थ—गाथा ४४ के पूर्वार्ध में प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियो का तथा उत्तरार्ध व गाथा ४५ में जघन्य स्थितिबंध के स्वामियों का कथन किया गया है।

पूर्व गाथा में १८ प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियों को बतलाया था और अब शेष रही ९८ प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियो को बतलाते हुए कहते है कि तिर्यंचद्विक (तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी), औदारिकद्विक (औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग), उद्योत नाम और सेवार्त संहनन, इन छह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध देव और नारक करते है।

देव और नारकों के उक्त छह प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबं होने का कारण यह है कि उक्त प्रकृतियों के बंधयोग्य संक्लिष्ट परिणाम होने पर मनुष्य और तिर्यंच इन छह प्रकृतियो को अधिक-से-अधिक अठारह सागर प्रमाण ही स्थिति का बंध करते है। यदि उससे अधिक संक्लेश परिणाम होते है तो इन प्रकृतियो के बंध का अतिक्रमण करके वे नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करते है। किन्तु देव और नारक तो उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों के होते पर भी तिर्यंचगति के योग्य ही प्रकृतियों का बंध करते है, नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध नही कर सकते है। क्योकि देव और नारक मरकर नरक में उत्पन्न नही होते है। इसीलिए उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से युक्त देव और नारक ही इन छह प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण का बंध करते है।

उक्त छह प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रसंग में इतना विशेष समझना चाहिये कि ईशान स्वर्ग से ऊपर के सनत्कुमार आदि स्वर्गों के देव ही सेवार्त संहनन और औदारिक अंगोपाग का उत्कृष्ट स्थितिबंध करते है, ईशान स्वर्ग के देव नही करते है। क्योंकि ईशान स्वर्ग तक के देव उनके योग्य संक्लेश परिणामों के होने पर भी दोनों प्रकृतियो की अधिक से अधिक अठारह सागर प्रमाण मध्यम स्थिति का बंध करते है और यदि उनके उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम होते है तो एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियो का बंध करते है। सनत्कुमार आदि के देव उत्कृष्ट संक्लेश होने पर भी पंचेन्द्रिय तिर्यंच के योग्य प्रकृतियों का बंध करते है, एकेन्द्रिय में उनका जन्म नही होने से एकेन्द्रिय योग्य प्रकृतियो का बंध नही करते है। अतः सेवार्त संहनन और औदारिक अंगोपाग इन दो प्रकृतियो की बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का बंध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले सनत्कुमार आदि स्वर्ग

के देव ही कर सकते है, नीचे के देव नही करते है। क्योंकि एकेन्द्रिय के संहनन और अंगोपाग नही होने से ये दो प्रकृतिया एकेन्द्रिय योग्य नही है।

साराश यह है कि एक सरीखे परिणाम होने पर भी गति आदि के भेद से उनमें भेद हो जाता है। जैसे कि ईशान स्वर्ग तक के देव जिन परिणामों से एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का बंध करते है, वैसे ही परिणाम होने पर मनुष्य और तिर्यच नरकगति के योग्य प्रकृतियो का वंध करते है।

इस प्रकार से मिथ्यादृष्टि के वंधने योग्य ११६ प्रकृतियों में से पूर्वोक्त विकलत्रिक आदि सेवार्त संहनन पर्यन्त २४ प्रकृतियों के सिवाय शेप ९२ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिवंध चारों गतियो के मिथ्यादृष्टि जीव करते है—सेस चउगइया।[1]

---

1 गो० कर्मकाड मे भी ११६ प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिवध के स्वामियो को वतलाते हुए लिखा है—

णरतिरिया सेसाउ वेगुव्वियछक्कवियलसुहुमतियं।
सुरणिरया ओरलियतिरियदुगुज्जोवसपत्त ॥१३७॥
देवा पुण एइंदियआदाव थावर च सेसाण।
उक्कस्ससकिलिट्ठा चदुगदिया ईसिमज्झिमया ॥१३८॥

देवायु के विना शेप तीन आयु, वैक्रियपट्क, विकलत्रिक, सूक्ष्मत्रिक का उत्कृष्ट स्थितिवध मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यच करते है। औदारिकद्विक, तिर्यचद्विक, उद्योत, असंप्राप्तासृपाटिका (सेवार्त) सहनन का उत्कृष्ट स्थितिवध मिथ्यादृष्टि, देव और नारक करते हैं। एकेन्द्रिय, आतप और स्थावर का उत्कृष्ट स्थितिवंध मिथ्यादृष्टि देव करते हैं। [illegible] प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिवध उत्कृष्ट सक्लेश वाले मि[illegible]दृष्टि [illegible] अथवा ईपत् मध्यम परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि जीव

जघन्य स्थितिबंध का स्वामित्व

उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियों को बतलाकर अब जघन्य स्थिति बंध के स्वामियों को बतलाते है। जघन्य स्थितिबंध के स्वामित्व के बारे मे विचार करने से पूर्व दो बातों का जानना जरूरी है। एक तो जैसे उत्कृष्ट स्थितिबंध के लिए उत्कृष्ट संक्लेश होना आवश्यक है, वैसे ही जघन्य स्थितिबंध के लिए उत्कृष्ट विशुद्धि होना चाहिये। दूसरी यह है कि जिस गुणस्थान तक यथायोग्य कषायो का सद्भाव रहने से जिन-जिन प्रकृतियो का बन्ध होता है और उसके आगे के गुणस्थान मे बंधविच्छेद हो जाने से बंध की संभावना ही नही है, उस गुणस्थान में उन कर्म प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध होता है। अतएव जघन्य स्थितिबंध का कथन प्रारंभ करते हुए सर्वप्रथम तीर्थंकर नाम और आहारद्विक के जघन्य स्थितिबंध के लिये कहते है कि 'आहार-जिणमपुव्वो' आहारकद्विक और तीर्थंकर नामकर्म इन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान मे होता है। क्योकि इनके बंधको में उक्त गुणस्थान वाले जीव ही अति विशुद्ध परिणाम वाले होते है और 'अनियट्टि संजलण पुरिस लहु' अनिवृत्ति-बादर नामक नौवें गुणस्थान तक संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ और पुरुष वेद इन पांच प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबंध होता है।[1] आहारकद्विक आदि पुरुष वेद पर्यन्त आठ प्रकृतियों के जघन्य स्थिति-बंध के स्वामी के संबंध में इतना विशेष जानना चाहिये कि आठवा और नौवा यह दोनों गुणस्थान क्षपक श्रेणि के ही लेना चाहिए, क्योंकि उपशम श्रेणि से क्षपक श्रेणि मे विशेष विशुद्धि होती है।

---

१ आठवे, नौवें, दसवे गुणस्थान में बंधविच्छिन्न होने वाली प्रकृतियो के नाम द्वितीय कर्मग्रन्थ गा० ९, १०, ११ मे देखिये।

साता वेदनीय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र, मतिज्ञानावरण आदि ज्ञानावरण कर्म की पांच प्रकृतियां, चक्षुदर्शनावरण आदि चार दर्शनावरण कर्म की प्रकृतिया तथा दानान्तराय आदि पाच अन्तराय कर्म की प्रकृतियां, कुल सत्रह प्रकृतियो के जघन्य स्थितिबंध का स्वामी सूक्ष्मसंपराय नामक दसवे गुणस्थानवर्ती क्षपक है—सायजसुच्चावरणा विग्घं सुहुमो। क्योकि सातावेदनीय के सिवाय सोलह प्रकृतिया इसी गुणस्थान तक बंधती है, अतः उनके बंधकों मे यही गुणस्थान विशेष विशुद्ध है। यद्यपि साता वेदनीय का बंध तेरहवे गुणस्थान तक होता है, तथापि स्थितिबंध दसवें गुणस्थान तक ही होता है, क्योंकि स्थितिबंध का कारण कषाय है। संज्वलन लोभ कषाय का उदय दसवे सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक रहता है, जिससे साता वेदनीय का जघन्य स्थितिबंध भी दसवे गुणस्थान मे ही बतलाया है।

आयुकर्म की चारों प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबंध असंज्ञी जीव भी करते है और संज्ञी जीव भी करते है—सन्नी वि आउ। उनमे से देवायु और नरकायु का जघन्य स्थितिबंध पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य करते है तथा मनुष्यायु और तिर्यंचायु का जघन्य स्थितिबंध एकेन्द्रिय आदि।

इस प्रकार से आहारकद्विक आदि आयुचतुष्क तक में अन्तर्भूत ३५ प्रकृतियों को बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से कम कर देने पर शेष रही ८५ प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबंध—बायरपज्जेगिंदिउ सेसाणं—बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय जीव करते है। क्योंकि प्रकृतियों के स्थितिबंध को बतलाने के प्रसंग मे यह संकेत कर आये है कि इन प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबंध बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय जीव को ही होता है। इन प्रकृतियों के बंधकों मे वही विशेष विशुद्धि वाला होता है और अन्य एकेन्द्रिय जीव उतनी विशुद्धि न होने के कारण तिर्-

की अधिक स्थिति बांधते है। यद्यपि एकेन्द्रिय से विकलेन्द्रियों में अधिक विशुद्धि होती है किन्तु वे स्वभाव से ही इन प्रकृतियों की अधिक स्थिति बांधते है, जिससे शेष प्रकृतियो के जघन्य स्थितिबंध का स्वामी बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय जीवों को ही बतलाया है।[1]

प्रकृतियो के उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबंध के स्वामियो का कथन करने के पश्चात् अब स्थितिबंध में मूल प्रकृतियों के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट आदि भेदों को बतलाते है।

उक्कोसजहन्नेयरभगा साइ अणाइ धुव अधुवा।
चउहा सग अजहन्नो सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥४६॥

शब्दार्थ — **उक्कोसजहन्न**—उत्कृष्ट और जघन्य बंध, **इयर** - प्रतिपक्षी (अनुत्कृष्ट, अजघन्य बंध), **भगा** - भंग, **साइ**—सादि, **अणाइ**—अनादि, **धुव**—ध्रुव, **अधुवा** अध्रुव, **चउहा**—चार प्रकार, **सग**—सात मूल प्रकृतियो के, **अजहन्नो**—अजघन्य बंध, **सेसतिगे**—बाकी के तीन, **आउचउसु**—चार आयु मे, **दुहा**—दो प्रकार।

गाथार्थ—उत्कृष्ट, जघन्य, अनुत्कृष्ट, अजघन्य, यह बंध के चार भेद है अथवा दूसरी प्रकार से सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव ये बंध के चार भेद है। सात कर्मों का अजघन्य बंध

---

१ (क) सत्तरसपचतित्थाहाराण सुहुमबादरापुव्वो ॥
छव्वेगुव्वमसण्णी जहण्णमाऊण सण्णी वा ॥
—गो० कर्मकाड १५१

(ख) कर्मप्रकृति बंधनकरण तथा पचसग्रह गा० २७० मे जघन्य स्थितिबंध के स्वामियो को बतलाया है।

चार प्रकार का होता है। वाकी के तीन बंध और आयुकर्म के चारो वंध सादि और अध्रुव, इस तरह दो ही प्रकार के होते है।

विशेषार्थ—गाथा में मूल प्रकृतियों के स्थितिवंध के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य भेद वतलाकर यथासंभव उनमें सादि, अनादि आदि भेद वतलाये है।

अधिकतम स्थितिवंध होने को उत्कृष्ट बंध कहते है अर्थात् उससे अधिक स्थिति वाला वंध हो ही नहीं सकता, वह उत्कृष्ट वंध है। सवसे कम स्थिति वाले वंध को जघन्य वंध कहते है। एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिवंध से लेकर जघन्य स्थितिबंध तक के सभी वंध अनुत्कृष्ट वंध कहलाते है। यानी उत्कृष्ट वंध के अलावा जघन्य बंध से पूर्व तक के शेप वंध अनुत्कृष्ट वंध कहलाते है। एक समय अधिक जघन्य वंध से लेकर उत्कृष्ट वंध से पूर्व तक के सभी वंध अजघन्य वंध कहे जाते है। इस प्रकार से उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेद में स्थिति के सभी भेदो का ग्रहण हो जाता है और जघन्य व अजघन्य वंधभेद में भी स्थिति के सभी भेद गर्भित हो जाते है।

इन चारों ही वंध में सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव भंग यथायोग्य होते है। जो वंध रुक कर पुनः होने लगता है, वह सादिवंध कहलाता है और जो वंध अनादिकाल से सतत हो रहा है, वह अनादिवंध है। यह वंध वीच में एक समय को भी नही रुकता है। जो वंध न कभी विच्छिन्न हुआ और न होगा, वह ध्रुववंध है और जो वंध आगे जाकर विच्छिन्न हो जाता है, उसे अध्रुववंध कहते है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय, कर्मों की ये आठ मूल प्रकृतियां है। इनमें अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य, यह चारो ही वंध होते हैं। उन

कर्म को छोडकर शेष सात कर्मों का अजघन्य बंध सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव इन चारों प्रकार का होता है, क्योंकि मोहनीय कर्म क जघन्य बंध क्षपकश्रेणि के अनिवृत्तिबादर संपराय नामक नौवे गुणस्थान के अन्त में होता है और शेष छह कर्मों का जघन्य स्थिति बंध क्षपकश्रेणि वाले दसवे सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अन्त मे होता है।

अन्य गुणस्थानों व उपशमश्रेणि में भी इन सातो कर्मों का अजघन्य बंध होता है। अत. ग्यारहवे गुणस्थान में अजघन्य बंध न करके वहाँ से च्युत होकर जब जीव सात कर्मों का अजघन्य बंध करता है तब वह बंध सादि कहा जाता है। नौवे, दसवें आदि गुणस्थानों में आने से पहले उक्त सात कर्मों का जो अजघन्य बंध होता है, वह अनादिकाल से निरंतर होते रहने के कारण अनादि कहलाता है। अभव्य के बंध का अंत नही होता है, अतः उसको होने वाला अजघन्य बंध ध्रुव और भव्य के बंध का अंत होने से उसको होने वाला अजघन्य बंध अध्रुव कहलाता है। इस प्रकार सात कर्मों के अजघन्य बंध में चारों भंग होते है।

अजघन्य बंध के सिवाय शेष तीन बंधभेदो में सादि और अध्रुव, यह दो प्रकार होते है। क्योंकि मोहनीय कर्म का नौवे गुणस्थान के अंत मे और शेष छह कर्मों का दसवे गुणस्थान के अंत मे जघन्य स्थिति-बंध होता है, उससे पूर्व नही, अत वह बंध सादि है और बारहवे आदि गुणस्थानो में उसका सर्वथा अभाव हो जाता है अत. वह अध्रुव है। इस प्रकार जघन्य बंध में सादि और अध्रुव यह दो ही विकल्प होते है। उत्कृष्ट स्थितिबंध संक्लिष्ट परिणामी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि को होता है। वह बंध कभी-कभी होता है, सर्वदा नही, जिससे वह सादि है तथा अन्तर्मुहूर्त के बाद नियम से उसका न बदल जाने से अनुत्कृष्टबंध स्थान ले लेता है, अत वह अध्रुव

है। जिससे उत्कृष्ट स्थितिबंध में भी सादि और अध्रुव यह दो विकल्प होते हैं।

उत्कृष्ट बंध के बाद अनुत्कृष्ट बंध होता है। इसीलिये वह सादि है और कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त के बाद और अधिक-से-अधिक अनन्त उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल के बाद उत्कृष्ट बंध होने से अनुत्कृष्ट बंध रुक जाता है, जिससे उसे अध्रुव कहा जाता है। यानी उत्कृष्ट बंध यदि हो तो लगातार अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त तक होता है और अनुत्कृष्ट बंध लगातार अधिक-से-अधिक अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल तक होता है और उसके बाद दोनों एक दूसरे का स्थान ले लेते है, अतः दोनों सादि और अध्रुव है।

इस प्रकार सात कर्मों के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य इन तीनों बंधों मे सादि और अध्रुव यह दो ही भंग होते है।

आयुकर्म के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य ये चारों बंध होते है। लेकिन इन चारों मे सादि और अध्रुव यही दो विकल्प है—आउचउसु दुहा। क्योंकि आयुकर्म का बंध अन्य सात कर्मों की तरह निरन्तर नही होता रहता है किन्तु नियत समय पर होता है। जिससे वह सादि है और उसका बंधकाल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, अन्तमुहूर्त के बाद वह नियम से रुक जाता है, जिससे वह अध्रुव है। इस प्रकार से आठों कर्मों के उत्कृष्ट आदि चारों बंधों मे सादि आदि विकल्प जानना चाहिए।[1]

---

[1] (क) सत्तण्ह अजहन्नो चउहा ठिइबंध मूलपगईण।
सेसा उ साइअधुवा चत्तारि वि आउए एवं ॥ —पचसंग्रह ५।५९

(ख) अजहण्णट्ठिदिबंधो चउव्विहो सत्तमूलपयडीण।
सेसतिये दुवियप्पो आउचउक्केवि दुवियप्पो ॥
—गो० कर्मकांड १५२

इस प्रकार से आयुकर्म के सिवाय शेष ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के उत्कृष्ट आदि चारों वंधप्रकारों के सादि, अनादि आदि चार वंधभेदों की अपेक्षा से प्रत्येक के दस-दस और आयुकर्म के आठ भंग होने से कुल ७८ भंग होते है, जो इस प्रकार है—

ज्ञानावरण के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य वंध मे से प्रत्येक के सादि और अध्रुव यह दो विकल्प होते है, अतः तीनो के कुल मिलाकर छह भंग हुए तथा अजघन्य वंध के सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव ये चारों विकल्प होने से पूर्व के छह भेदों को इन चार के साथ मिलाने से कुल दस भंग हो जाते है। इसी प्रकार से दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र और अंतराय के वंधभेदों में प्रत्येक के दस-दस भंग जानना चाहिये। आयुकर्म के भी उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य ये चारो प्रकार के वंध होते है, लेकिन ये चारों प्रत्येक सादि और अध्रुव विकल्प वाले होने से प्रत्येक के दो-दो भंग है और कुल मिलाकर आठ भंग होते है। इस प्रकार १०+१०+१०+१०+१० +१०+१०+८=७८ भंग ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्मों के होते है।

मूल कर्मों के अजघन्य आदि बंधों मे सादि आदि भंगों का निरूपण करने के वाद अब उत्तर प्रकृतियो में उनका कथन करते है।

चउभेओ अजहन्नो संजलणावरणनवगविग्घाणं।
सेसतिगि साइअधुवो तह चउहा सेसपयडीण ॥४७॥

शब्दार्थ—**चउभेओ** चार भेद, **अजहन्नो**—अजघन्य वध मे, **संजलणावरणनवगविग्घाणं**—सज्वलन कपाय, नौ आवरण और अन्तराय के, **सेसतिगि**—शेप तीन वंधो मे, **साइअधुवो**—सादि और अध्रुव, **तह**—वैसे ही, **चउहा**—चारो वध प्रकारो मे, **सेसपयडीणं**—वाकी की प्रकृतियो के।

गाथार्थ - संज्वलन कषाय चतुष्क, नौ आवरण (पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण) और पांच अंतराय के अजघन्य वंध मे चारो भेद होते है। शेष तीन वंधो के सादि और अध्रुव यह दो विकल्प तथा शेष प्रकृतियों के चारों वंधों के भी सादि और अध्रुव ये दो ही विकल्प होते है।

विशेषार्थ—इस गाथा में उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट आदि वंधों के सादि आदि भेद वतलाये है। जैसा मूल प्रकृतियों में सवसे पहले अजघन्य वंध के विकल्पो का कथन किया गया है, वैसे ही उत्तर प्रकृतियो भी अजघन्य वंध के विकल्पों का यहा विवेचन किया जा रहा है। १२० प्रकृतियो में से अजघन्य वंध वाली प्रकृतिया सिर्फ अठारह है। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार है—संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनपर्यायज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण तथा दान, लोभ, भोग, उपयोग, वीर्य अन्तराय—संजलणावरणनवगविग्घाणं। इन अठारह प्रकृतियों की अजघन्य स्थिति की शुरूआत उपशम श्रेणि से पतित होने वाले के होती है।

इन अठारह प्रकृतियों के अजघन्य बंध के सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव ये चारो ही विकल्प होते है, जो मूल कर्मो के अजघन्य बंध की तरह ही जानना चाहिये। उपशम श्रेणि में इन अठारह प्रकृतियों का बंधविच्छेद करके जब वहां से च्युत होकर पुनः उनका अजघन्य वंध करते है तो वह वंध सादि और उपशम श्रेणि में आरोहण करने से पहले वह वंध अनादि होता है। अभव्य की अपेक्षा वही वंध ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव है। इसीलिये इन प्रकृतियों के अजघन्य

बंध के सादि आदि चार विकल्प माने है।[1]

उक्त अठारह प्रकृतियो के अजघन्य बंध के सिवाय शेष तीन बंधो में प्रत्येक के सादि और अध्रुव यह दो विकल्प होते है। क्योंकि नौवें गुणस्थान में अपनी-अपनी बंधव्युच्छित्ति के समय संज्वलन-चतुष्क का जघन्य बंध होता है और शेष ज्ञानावरणपंचक आदि चौदह प्रकृतियों का जघन्य बंध दसवे सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवर्ती क्षपक को होता है। यह बंध इन गुणस्थानों मे आने से पूर्व नही होता है, अतः सादि है और आगे के गुणस्थानो मे बिल्कुल रुक जाने से अध्रुव है। इसी प्रकार से उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट बंध में भी समझना चाहिए। क्योकि ये दोनों बंध परिवर्तित होते रहते है। जीव कभी उत्कृष्ट और कभी अनुत्कृष्ट बंध करता है।

शेष एक दो सौ प्रकृतियों के उत्कृष्ट आदि चारो ही प्रकार के बंधो मे सादि और अध्रुव यह दो भंग होते है। क्योंकि पाच निद्रा, मिथ्यात्व, आदि की बारह कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, वर्ण-चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात और निर्माण इन उनतीस प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध विशुद्धियुक्त बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक करता है अन्तर्मुहूर्त के बाद वही जीव संक्लिष्ट परिणामी होने पर उनका अजघन्य बंध करता है। उसके बाद उसी भव में अथवा दूसरे भव में विशुद्ध परिणामी होने पर वही जीव पुनः उनका जघन्य बंध करता है। इस प्रकार से जघन्य और अजघन्य बंध के बदलते रहने से दोनो सादि और अध्रुव होते है।

---

१ अट्ठारसण्ऽजहन्नो उवसमसेढीए परिवडतस्स।
साई सेसविगप्पा सुगमा अधुवा धुवाण पि॥

— पचसग्रह ५।६३

इसी प्रकार इन उनतीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट बंध संक्लिष्ट परिणामी पंचेन्द्रिय जीव करता है और अन्तर्मुहूर्त के बाद अनुत्कृष्ट ंध करता है और वाद में पुनः उत्कृष्ट बंध करता है। इस प्रकार वदलते रहने से ये दोनो बंध भी सादि और अध्रुव होते है। शेप ७३ प्रकृतिया अध्रुववंधिनी है और उनके अध्रुववंधिनी होने के कारण ही उनके जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट ये चारों ही स्थितिवंध सादि और अध्रुव होते है।[1]

संज्वलन चतुष्क आदि अठारह प्रकृतियों में से प्रत्येक के अजघन्य वंध के सादि आदि चार विकल्प तथा शेष उत्कृष्ट बंध आदि तीन स्थिति-वंधों मे से प्रत्येक के सादि और अध्रुव विकल्प होने से प्रत्येक प्रकृति के दस-दस भंग होने से १८० तथा एक सौ दो प्रकृतियों में से प्रत्येक के उत्कृष्ट आदि चार-चार स्थितिबंध और इन चारों के भी सादि व अध्रुव दो-दो विकल्प होने से आठ-आठ भंग होते है। कुल मिलाकर ये भग १०२ × ४ = ४०८ × २ = ८१६ होते है। उत्तर प्रकृतियों के कुल मिलाकर १८० + ८१६ = ९९६ भंग होते है और इनमें मूल प्रकृतियों के ७८ भंगो को मिलाने से सब मिलाकर १०७४ स्थितिबंध के भंग होते है।

---

१ नाणतरायदसण चउक्कसजलण ठिई अजहन्ना।
चउहा साई अध्रुवा सेसा इयराण सव्वाओ ॥

—पंचसंग्रह ५।६०

इस गाथा की टीका मे उत्तर प्रकृतियो के स्थितिबंध के भंगों का विवेचन किया गया है। इसी प्रकार मे गो० कर्मकांड गा० भंगो का कथन किया है—

संजलणसुहुमचोद्दस घादीण चदुविधो दु ...
सेसतिया पुण दुविहा सेसाणं चदुविधावि

इस प्रकार से मूल एवं उत्तर प्रकृतियों के स्थितिबंध में सादि आदि भंगों का निरूपण करने के बाद अब गुणस्थानों में स्थितिबंध का निरूपण करते है।

गुणस्थानों में स्थितिबंध

साणाइअपुव्वंते अयरंतो कोडिकोडिओ न हिगो।
बंधो न हु हीणो न य मिच्छे भव्वियरसन्निमि ॥४८॥

शब्दार्थ—**साणाइअपुव्वंते**—सासादन से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक, **अयरंतो कोडिकोडिओ**—अत कोडाकोडी सागरोपम से, **न हिगो**—अधिक (बंध) नही होता है, **बंधो**-बंध, **न हु**—नही होता है, **हीणो**—हीन, **न य**—तथा नही होता है, **मिच्छ**—मिथ्यादृष्टि, **भव्वियरसन्निमि**—भव्य सज्ञी व इतर अभव्य सज्ञी मे।

गाथार्थ—सासादन से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्त:कोड़ाकोड़ी सागरोपम से अधिक स्थितिबंध नही होता है और न हीन बंध होता है। मिथ्यादृष्टि भव्य संज्ञी और अभव्य संज्ञी के भी हीन बंध नही होता है।

विशेषार्थ—पहले सामान्य से और एकेन्द्रिय आदि जीवो की अपेक्षा से स्थितिबंध का प्रमाण बतलाया गया है। अब इस गाथा मे गुणस्थानो की अपेक्षा से उसका प्रमाण का कथन किया जा रहा है कि किस गुणस्थान में कितना स्थितिबंध होता है।

पूर्व मे कर्मों की सत्तर, तीस, बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है। उसमें से साणाइअपुव्वंतो—यानी दूसरे सासादन गुणस्थान से लेकर अपूर्वकरण नामक आठवे गुणस्थान तक अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर से अधिक स्थितिबंध नही होता है। यानी से लेकर आठवे गुणस्थान तक होने वाला बंध अन्त:कोडा-

कोडी सागर प्रमाण होता है और जो सत्तर आदि कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थितिबंध बतलाया है, वह मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होता है। सासादन से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त अन्त:कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थितिबंध होने का कारण यह है कि इन गुणस्थानो वाले जीव मिथ्यात्वग्रन्थि का भेदन कर देते है, जिससे उनके अन्त:कोडाकोड़ी सागर प्रमाण से अधिक स्थितिबंध नही होता है।

प्रश्न—उक्त कथन पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थों में मिथ्यात्वग्रन्थि का भेदन करने वालों को भी मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबंध सत्तर कोडाकोड़ी सागरोपम बतलाया है। अत: यह कैसे माना जाय कि सासादन से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक जीव मिथ्यात्वग्रन्थि का भेदन कर देते है, अत: अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण से अधिक स्थिति का बंध नही करते है।

उत्तर यह ठीक है कि ग्रन्थि का भेदन करने वालो को भी उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है, किन्तु सम्यक्त्व का वमन करके जो पुन: मिथ्यात्व गुणस्थान में आते है, उनके ही यह उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। यहां तो ग्रन्थि का भेदन कर देने वाले सासादन आदि गुणस्थान वालो के ही उत्कृष्ट स्थितिबंध का निषेध किया है। आवश्यक आदि में तो सैद्धान्तिक मत का संकेत करके ग्रन्थि का भेदन कर देने वाले मिथ्यादृष्टि को भी उत्कृष्ट बंध का प्रतिषेध किया है।[1] कार्मग्रन्थिक मत ने सादि मिथ्यादृष्टि को भी मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति बंधती है लेकिन उसमे तीव्र अनुभाग शक्ति नही होती है। अत: सासादन से

---

१ यतोऽवाप्तसम्यक्त्वस्तत्परित्यागेऽपि न भूयो ग्रन्थिमुल्लङ्घ्य [illegible] स्थिती. कर्मप्रकृतीर्बध्नाति, 'बंधेण न वोलइ कयाइ' इति [illegible] सिद्धान्तिकाभिप्राय। कार्मग्रन्थिकान्तु भिन्नग्रन्थेरप्युत्कृ[illegible] भवतीति प्रतिपन्ना.। —आव० नि० टी

अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर से अधिक स्थिति का वंध नही होता है और न उससे कम भी होता है। यानी दूसरे से आठवे गुणस्थान तक अन्त:कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थिति वंधती है, न कम और न अधिक।

इस पर पुन' प्रश्न होता है कि जव एकेन्द्रिय आदि जीव सासादन गुणस्थान में होते हैं, उस समय उनको ३/७ सागर आदि की स्थिति वंधती है। अत' सासादन आदि गुणस्थानो में अन्त: कोड़ाकोडी सागर से कम स्थितिवंध नही होता, यह कथन उचित प्रतीत नही होता है।

यह आशंका उपयुक्त नही है, क्योंकि इस प्रकार की घटनायें कादाचित्क है, जिनकी यहा विवक्षा नही की गई है[1] तथा यहा एकेन्द्रिय आदि की विवक्षा नही, संज्ञी पंचेन्द्रिय की विवक्षा है। इसलिए संज्ञी पंचेन्द्रिय सासादन से अपूर्वकरण पर्यन्त अन्त'कोड़ाकोडी सागरोपम से न्यून स्थिति का बंध नही करता है।

सासादन से अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्त'कोड़ाकोडी सागर से कम स्थितिबंध का भी निषेध किया है। इस पर जिज्ञासा होती है कि क्या कोई ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव भी होता है जिसे अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर से भी कम स्थितिबंध नही होता है। इसका समाधान करते हुए गाथा में कहा है भव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टि के और अभव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टि के भी अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर से कम स्थितिवंध नही होता है। भव्य संज्ञी के साथ मिथ्यादृष्टि विशेषण लगाने से यह आशय निकलता है कि भव्य संज्ञी को अनिवृत्तिवादर आदि गुणस्थानों मे हीन वंध भी होता है और संज्ञी विशेषण से यह अर्थ निकलता है कि भव्य असंज्ञी के हीन स्थितिवंध होता है। अभव्य संज्ञी के तो

---

१ सत्यमेतत् केवल, कादाचित्कोऽसौ न सार्वदिक् इति न तस्य विवक्षा कृता, इति सम्भावयामि। —पंचम कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका

अन्तःकोडाकोडी सागर से हीन स्थितिबंध होता ही नही है, क्योंकि ग्रन्थिभेदन करने पर ही हीन बंध होना संभव है लेकिन अभव्य संज्ञी ग्रन्थिदेश तक पहुँचता है परन्तु उसका भेदन करने मे असमर्थ होने से पुनः नीचे आ जाता है।

सासादन से अपूर्वकरण गुणस्थान तक के स्थितिबंध में अन्तः-कोड़ाकोडी सागर प्रमाण से न्यूनाधिकता नही होने पर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है कि यदि न्यूनाधिकता नही है तो आगे स्थितिबंध के अल्प-बहुत्व मे जो यह कहा गया कि विरति के उत्कृष्ट स्थितिबंध से देश-विरति का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा, उससे अविरत सम्यग्-दृष्टि अपर्याप्त का जघन्य, उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा होता है, कैसे माना जायेगा ? इसका उत्तर यह है कि जैसे नौ समय से लेकर समयन्यून मुहूर्त तक अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात भेद होते है वैसे ही साधु के उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर समयाधिक पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक असंख्यात के स्थितिबंध भेद होते है जो अन्तःकोडाकोडी प्रमाण है। अतः संख्यातगुणे मानने पर किसी प्रकार का विरोध नही है।

इस प्रकार से गुणस्थानो में स्थितिबंध का निरूपण करके अब आगे की गाथाओं मे एकेन्द्रिय आदि जीवो की अपेक्षा से स्थितिबन्ध का अल्पबहुत्व बतलाते है।

जइलहुबधो बायर पज्ज असंखगुण सुहुमपज्जहिगो।
एसिं अपज्जाण लहू सुहुमेअरअपजपज्ज गुरू ॥४९॥
लहु बिय पज्जअपज्जे अपजेयर बिय गुरू हिगो एवं।
ति चउ असन्निसु नवरं संखगुणो बियअमणपज्जे ॥५०॥
तो जइजिट्ठो बंधो संखगुणो देसविरय हस्सियरो।
सम्मचउ सन्निचउरो ठिइबंधाणुकम संखगुणा ॥५१॥

शब्दार्थ—**जइलहुबंधो**—साधु का जघन्य स्थितिबंध, **बायर-पज्ज**—बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय, **असंखगुण**—असंख्यात गुणा, **सुहुमपज्ज**—सूक्ष्म पर्याप्त एकेन्द्रिय का, **हिगो**—विशेषाधिक, **एसिं**—इनके (बादर सूक्ष्म एकेन्द्रिय के), **अपज्जाण**—अपर्याप्त का, **लहू**—जघन्य स्थितिबंध, **सुहुमेअरअपजपज्ज गुरू**—सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध।

लहु—जघन्य स्थितिबन्ध, **बिय**—द्वीन्द्रिय, **पज्जअपज्जे**—पर्याप्त अपर्याप्त मे, **अपजेयर**—अपर्याप्त और इतर—पर्याप्त, **बियगुरू**—द्वीन्द्रिय का उत्कृष्ट, **हिगो**—अधिक, **एवं**—इस प्रकार से, **तिचउअसन्निसु**—त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय मे, **नवरं**—इतना विशेष, **संखगुणो**—सख्यात गुणा, **बियअमणपज्जे**—द्वीन्द्रिय पर्याप्त और असज्ञी पर्याप्त मे।

तो—उसकी अपेक्षा, **जइजिट्ठोबंधो**—साधु का उत्कृष्ट स्थिति-बंध, **संखगुणो**—सख्यात गुणा, **देसविरयहस्स**—देशविरति का जघन्य, **इयरो** उत्कृष्ट स्थितिबंध, **सम्मचउ**—सम्यग्दृष्टि के चार प्रकार के स्थितिबंध, **सन्निचउरो**—सज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि के चार, **ठिइबधा**—स्थितिबन्ध, **अणुकम**—अनुक्रम से, **संखगुणा**—सख्यात गुणा।

गाथार्थ—साधु का जघन्य स्थितिबंध सबसे अल्प होता है। बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध उससे असंख्यात गुणा और सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त का उससे विशेषाधिक होता है। इनके (बादर, सूक्ष्म एकेन्द्रिय के) अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध उससे अधिक होता है। उसकी अपेक्षा सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, सूक्ष्म एकेन्द्रिय ‍ का उत्कृष्ट स्थितिबंध अनुक्रम से विशेषाधिक होता है।

द्वीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध उनकी अपेक्षा संख्यात गुणा और विशेषाधिक और उसकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय मे भी इसी प्रकार (द्वीन्द्रिय मे कहे गये अनुसार) जानना चाहिये, किन्तु इतना विशेष है कि द्वीन्द्रिय पर्याप्त और असंज्ञी अपर्याप्त में संख्यात गुणा समझना चाहिए।

उसकी अपेक्षा साधु का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा और उसकी अपेक्षा देशविरति का जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध, सम्यग्दृष्टि के चारों स्थितिबंध और संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि के चारो स्थितिबन्ध अनुक्रम से संख्यात गुण होते है।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओ में स्थितिबंध का अल्पबहुत्व बतलाया गया है कि किस जीव को अधिक स्थितिबंध होता है और किस जीव को कम स्थितिबंध। बंध की इस हीनाधिकता को स्थितिबंध का अल्पबहुत्व कहते है।

स्थितिबंध के इस अल्पबहुत्व के प्रमाण का कथन प्रारंभ करते हुए कहा है कि 'जइलहुबंधो' यानी साधु को सबसे कम स्थितिबंध होता है और वह भी सूक्ष्मसंपराय नामक दसवे गुणस्थान मे। इसका कारण यह है कि दसवें गुणस्थान तक सूक्ष्म कषाय का सद्भाव पाया जाता है और कषाय के द्वारा स्थितिबंध होता है। दसवें गुणस्थान से हीन स्थितिबंध किसी भी जीव को नही होता है। यद्यपि ग्यारहवे आदि आगे के गुणस्थानो मे एक समय का स्थितिबंध होता है, किन्तु ये गुणस्थान कषायरहित है, अतः वहां स्थितिबंध की विवक्षा नही है। इसलिये दसवे गुणस्थान मे ही स्थितिबंध के अल्प-

बहुत्व का कथन प्रारंभ होता है और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि को सबसे उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। जिससे अल्पबहुत्व का वर्णन वहा आकर समाप्त हो जाता है। अर्थात् स्थितिबंध का अल्पबहुत्व बतलाने के प्रसंग मे सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान एक छोर है और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि दूसरा छोर। सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान जघन्य स्थितिबंध का चरमबिन्दु है और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट स्थितिबंध का चरमबिन्दु और इन दोनों के बीच अल्पबहुत्व का कथन किया जाता है।

चरम जघन्य स्थितिबंध से प्रारंभ होकर चरम उत्कृष्ट स्थितिबंध तक के अल्पबहुत्व का क्रम इस प्रकार है---

१. सबसे जघन्य स्थितिबंध सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवर्ती साधु—विरति को होता है।

२. उससे यानी सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवर्ती साधु से वादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध असंख्यात गुणा है।

३. वादर एकेन्द्रिय पर्याप्त से सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त के होने वाला जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है।

४. सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त की अपेक्षा बादर !एकेन्द्रिय अपर्याप्त के होनेवाला जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है।

५. वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त से सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त के होने वाला जघन्य स्थितिवंध कुछ अधिक है।

६. उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिवंध कुछ अधिक है।

७. उससे वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिवंध कुछ अधिक है।

८. उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिवंध कुछ , है।

९. उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

१०. उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

११. उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है।

१२. उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

१३. उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

१४. उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है।

१५. उससे त्रीन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है।

१६. उससे त्रीन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

१७. उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

१८. उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है।

१९. उससे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है।

२०. उससे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

२१. उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

२२. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

२३. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है।

२४. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

२५. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

२६. उससे संयत का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

२७. उससे देशसंयत का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

२८. उससे देशसंयत का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

२६. उससे पर्याप्त सम्यग्दृष्टि का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३०. उससे अपर्याप्त सम्यग्दृष्टि का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३१. उससे अपर्याप्त सम्यग्दृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३२. उससे पर्याप्त सम्यग्दृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३३. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३४. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३५. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३६. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

स्थितिबंध के अल्पबहुत्व दर्शक इन स्थानों की संख्या ३६ है। यद्यपि जीवसमास के १४ भेद है और प्रत्येक जीवसमास की जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से दो-दो स्थितिया होती है। जिससे जीवसमासो की अपेक्षा २८ स्थान होते है, किन्तु स्थितिबंध के अल्पबहुत्व के निरूपण मे अविरत सम्यग्दृष्टि के चार स्थान, देशविरति के दो स्थान, संयत का एक स्थान और सूक्ष्मसंपराय का एक स्थान और मिलाने से कुल छत्तीस स्थान हो जाते है।

इन छत्तीस स्थानो मे आगे-आगे का प्रत्येक स्थान पूर्ववर्ती स्थान से या तो गुणित है या अधिक है।[1] उक्त स्थितिस्थानो को यदि ऊपर से नीचे की ओर देखा जाये तो स्थिति अधिकाधिक होती जाती है और नीचे से ऊपर की ओर देखने पर स्थिति घटती जाती है। इससे यह सरलता से समझ मे आ जाता है कि कौन-सा जीव अधिक स्थिति बांधता है और कौन-सा कम। एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय के अधिक स्थितिबंध होता है और असंज्ञी पंचेन्द्रिय से संयमी के, संयमी से देशविरति के, देशविरति से अविरत सम्यग्दृष्टि के और अविरत सम्यग्दृष्टि से संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि के स्थितिबंध अधिक होता है। उनमें भी पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध से अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध अधिक होता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय से

---

1 किसी राशि मे गुणा करने से उत्पन्न होने वाली राशि गुणित राशि कहलाती है, जैसे ४ मे २ का गुणा करने पर आठ लब्ध आता है, यह आठ अपने पूर्ववर्ती ४ से दो गुणित है। किन्तु ४ मे ८ का भाग देकर लब्ध २ को ४ मे जोड़ा जाये तो ६ संख्या होगी। इसे विशेषाधिक या कुछ अधिक कहा जायेगा। क्योंकि यह राशि गुणाधिक नहीं है किन्तु भागाधिक है। गुणित और विशेषाधिक मे यही अन्तर है।

२३. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है।

२४. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

२५. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

२६. उससे संयत का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

२७. उससे देशसंयत का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

२८. उससे देशसंयत का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

२९. उससे पर्याप्त सम्यग्दृष्टि का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३०. उससे अपर्याप्त सम्यग्दृष्टि का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३१. उससे अपर्याप्त सम्यग्दृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३२. उससे पर्याप्त सम्यग्दृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३३. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३४. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३५. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३६. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

स्थितिबंध के अल्पबहुत्व दर्शक इन स्थानों की संख्या ३६ है। यद्यपि जीवसमास के १४ भेद हैं और प्रत्येक जीवसमास की जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से दो-दो स्थितियां होती हैं। जिससे जीवसमासों की अपेक्षा २८ स्थान होते हैं, किन्तु स्थितिबंध के अल्पबहुत्व के निरूपण में अविरत सम्यग्दृष्टि के चार स्थान, देशविरति के दो स्थान, संयत का एक स्थान और सूक्ष्मसंपराय का एक स्थान और मिलाने से कुल छत्तीस स्थान हो जाते हैं।

इन छत्तीस स्थानो मे आगे-आगे का प्रत्येक स्थान पूर्ववर्ती स्थान से या तो गुणित है या अधिक है।[1] उक्त स्थितिस्थानो को यदि ऊपर से नीचे की ओर देखा जाये तो स्थिति अधिकाधिक होती जाती है और नीचे से ऊपर की ओर देखने पर स्थिति घटती जाती है। इससे यह सरलता से समझ में आ जाता है कि कौन-सा जीव अधिक स्थिति बाधता है और कौन-सा कम। एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय के अधिक स्थितिबंध होता है और असंज्ञी पंचेन्द्रिय से संयमी के, संयमी से देशविरति के, देशविरति से अविरत सम्यग्दृष्टि के और अविरत सम्यग्दृष्टि से संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि के स्थितिबंध अधिक होता है। उनमें भी पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध से अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध अधिक होता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय से

---

१ किसी राशि मे गुणा करने से उत्पन्न होने वाली राशि गुणित राशि कहलाती है, जैसे ४ से २ का गुणा करने पर आठ लब्ध आता है, यह आठ अपने पूर्ववर्ती ४ से दो गुणित है। किन्तु ४ मे २ का भाग देकर लब्ध २ को ४ मे जोड़ा जाये तो ६ सख्या होगी। उसे विशेषाधिक या कुछ अधिक कहा जायेगा। क्योकि वह राशि गुणाधिक नही है किन्तु भागाधिक है। गुणित और विशेषाधिक मे यही अन्तर है।

लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त और असंज्ञी पंचेन्द्रिय से संयमी के होने वाले उत्तरोत्तर अधिक स्थितिबंध से यही स्पष्ट होता है कि चैतन्य-शक्ति के विकास के साथ संक्लेश की संभावना भी अधिक-अधिक होती है। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीव प्रायः हिताहित के विवेक से रहित मिथ्यादृष्टि होते है और उनमे इतनी शक्ति नही होती कि वे अपनी विकसित चैतन्य शक्ति का उपयोग संक्लेश परिणामों के रोकने मे करे। इसलिए उनको उत्तरोत्तर अधिक ही स्थितिबंध होता है, किन्तु संज्ञी पंचेन्द्रिय होने के कारण संयमी मनुष्य की चैतन्यशक्ति विकसित होती है। जिससे संयमी होने के कारण संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा उनका स्थितिबंध बहुत कम होता है किन्तु असंज्ञी पंचेन्द्रिय की अपेक्षा से वह अधिक ही है।[1]

---

1 गो० कर्मकाड मे स्थितिबंध का अल्पबहुत्व तो नही बताया है किन्तु एकेन्द्रिय आदि जीवो के अवान्तर भेदो मे स्थितिबध का निरूपण किया है। जिससे अल्पबहुत्व का ज्ञान हो जाता है, एकेन्द्रिय आदि जीवो के अवान्तर भेदो के स्थितिबंध का निरूपण निम्न क्रम से किया है—

वासूप वासूअ वरट्ठिदीओ सूवाअ सूवाप जहण्णकालो।
वीवीवरो वीविजहण्णकालो सेसाणमेव वयणीयमेद ॥१४८॥

वासूप—वादर-सूक्ष्म पर्याप्त और वासूअ—वादर-सूक्ष्म अपर्याप्त दोनो मिलाकर चार तरह के जीवो के कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति तथा सूवाअ—सूक्ष्म-वादर अपर्याप्त, सूवाप—सूक्ष्म-वादर पर्याप्त जीवो के कर्मों की जघन्य स्थिति, इस तरह एकेन्द्रिय जीव की कर्मस्थिति के आठ भेद हैं। वीवीवरः– द्वीन्द्रिय पर्याप्त और द्वीन्द्रिय अपर्याप्त इन दोनो की उत्कृष्ट कर्मस्थिति तथा द्वीन्द्रिय अपर्याप्त और द्वीन्द्रिय पर्याप्त इन दोनो का जघन्य काल, इस तरह द्वीन्द्रिय की स्थिति के चार भेद हैं।

(शेष पृष्ठ १९५ पर)

यहा यह विशेष समझना चाहिये कि संयत के उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक के बताये गये स्थितिबंध स्थानों का प्रमाण अन्तःकोडाकोडी सागर ही है। अर्थात् सभी स्थितिबंधों का प्रमाण अन्तःकोडाकोडी सागर प्रमाण ही होगा।[1] संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण सामान्य से बताये गये उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रमाण के समान समझना चाहिये।

इसी तरह त्रीन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक की स्थिति के भी चार-चार भेद जानना चाहिए। अर्थात् वादर पर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, सूक्ष्म पर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, वादर अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, सूक्ष्म अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, सूक्ष्म अपर्याप्त की जघन्य स्थिति, वादर अपर्याप्त की जघन्य स्थिति, सूक्ष्म पर्याप्त की जघन्य स्थिति, वादर पर्याप्त की जघन्य स्थिति, ये एकेन्द्रिय के भेदो का क्रम है। द्वीन्द्रिय पर्याप्त और द्वीन्द्रिय अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, द्वीन्द्रिय अपर्याप्त और द्वीन्द्रिय पर्याप्त की जघन्य स्थिति, इसी प्रकार त्रीन्द्रिय आदि मे जानना चाहिये।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि के इन अवान्तर भेदो मे जो स्थिति बतलाई है, वह उत्तरोत्तर कम है। उनके इस क्रम को नीचे से ऊपर की ओर पढने पर कर्मग्रन्थ के प्रतिपादन के अनुकूल हो जाता है।

१ 'ओघुक्कोसो सन्निस्स होई पज्जत्तगस्सेव,।।८२।।'
'अब्भितरतो उ कोडाकोडी ए' ति एव सजयस्स उक्कोसातो आढत्तं कोडाकोडीए अब्भितरतो भवति।'

—कर्मप्रकृति व चूर्णि

सयत के उत्कृष्ट स्थितिबध से लेकर अपर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय के उत्कृष्ट स्थितिबध तक जितना भी स्थितिबध है, वह कोडाकोडी सागर के अन्दर ही जानना चाहिये।

इस प्रकार के स्थितिबंध के अल्पबहुत्व की अपेक्षा से उत्कृष्ट, जघन्य स्थितिबंध के स्वामियों को बतलाकर अब स्थिति की शुभाशुभता और उसके कारण को बतलाते है।

स्थितिबंध की शुभाशुभता

सव्वाण वि जिट्ठठिई असुभा जं साइसंकिलेसेण।
इयरा विसोहिओ पुण मुत्तुं नरअमरतिरिय उ ॥५२॥

शब्दार्थ—**सव्वाण वि**—सभी कर्म प्रकृतियो की, **जिट्ठठिइ**—उत्कृष्ट स्थिति, **असुभा**—अशुभ, **जं**—इसलिये, **सा**—वह (उत्कृष्ट स्थिति), **अइसंकिलेसेण**—तीव्र सक्लेश (कषाय) के उदय होने से, **इयरा**—जघन्यस्थिति, **विसोहिओ**—विशुद्धि द्वारा, **पुण**—तथा, **मुत्तुं**—छोडकर, **नरअमरतिरियाउ**—मनुष्य, देव और तिर्यंच आयु को।

गाथार्थ—मनुष्य, देव और तिर्यंच आयु के सिवाय सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अति संक्लेश परिणामों से बंधने के कारण अशुभ कही जाती है। जघन्य स्थिति का बंध विशुद्धि द्वारा होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे देवायु, मनुष्यायु और तिर्यचायु को छोडकर शेष सभी प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति को अशुभ और जघन्य स्थिति को शुभ बतलाया है। इसका कारण जन साधारण की उस भ्राति का निराकरण करना है कि वह शुभ प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को अधिक समय तक शुभ फल देने के कारण अच्छा और अशुभ प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति को अधिक समय तक अशुभ फल देने के कारण बुरा मानना है। लेकिन शास्त्रकारों का कहना है कि अधिक स्थिति का बंधना अच्छा नही है। क्योंकि स्थितिबंध का मूल कारण कषाय है और कषाय की श्रेणी के अनुसार स्थितिबंध भी उसी श्रेणी

का होता है। उत्कृष्ट स्थितिवंध उत्कृष्ट कषाय से होता है इसीलिये उसे अच्छा नही कहा जाता है।

उत्कृष्ट अनुभागवंध शुभ क्यो ?

उत्कृष्ट स्थितिवंध को जो अशुभ माना गया है, उसका कारण उत्कृष्ट कपाय है। इस पर जिज्ञासु का प्रश्न है कि स्थितिवंध की तरह अनुभागवंध भी कपाय से होता है—'ठिइ अणुभागं कसायओ' इति वचनात्। अतः उत्कृष्ट स्थितिवंध की तरह उत्कृष्ट अनुभाग को भी अशुभ मानना चाहिये। क्योंकि दोनो का कारण कपाय है। किन्तु शास्त्रो मे शुभ प्रकृतियों के अनुभाग को शुभ और अशुभ प्रकृतियो के अनुभाग को अशुभ वतलाया है।

इसका समाधान यह है कि स्थिति और अनुभाग वंध का कारण कपाय अवश्य है। किन्तु दोनो मे वड़ा अन्तर है। क्योंकि कपाय की तीव्रता होने पर अशुभ प्रकृतियो मे अनुभाग वंध अधिक होता है और शुभ प्रकृतियो में कम तथा कपाय की मंदता होने पर शुभ प्रकृतियो के अनुभाग मे अधिकता और अशुभ प्रकृतियो के अनुभाग मे हीनता होती है। इस प्रकार प्रत्येक प्रकृति के अनुभाग वंध की हीनाधिकता कपाय की हीनाधिकता पर निर्भर नही है। किन्तु शुभ प्रकृतियों के अनुभाग वंध की हीनाधिकता कषाय की तीव्रता और मंदता पर अवलंबित है और अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग वंध की हीनता और अधिकता कषाय की मंदता और तीव्रता पर। किन्तु स्थितिवंध में यह वात नही है। क्योंकि कषाय की तीव्रता के समय शुभ अथवा अशुभ जो भी प्रकृतियां वंधती है, उन सव में स्थितिवंध अधिक होता है। अतः स्थितिवंध की अपेक्षा से कषाय की तीव्रता और मंदता का प्रभाव सभी प्रकृतियों पर एक-सा पडता है किन्तु अनुभाग वंध में यह वात नही है। अनुभाग मे शुभ और अशुभ प्रकृतियों पर कषाय का अलग-अलग प्रभाव पडता है।

इसी बात को यों भी कह सकते है कि जब-जब शुभ प्रकृतियो में उत्कृष्ट अनुभाग होता है तब-तब जघन्य स्थितिबंध होता है और जब-जब उनमें जघन्य अनुभागबंध होता है तब-तब उनमे उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। क्योंकि शुभ प्रकृतियों मे उत्कृष्ट अनुभागबंध का कारण कषाय की मंदता और जघन्य अनुभागबंध का कारण कषाय की तीव्रता है। लेकिन स्थितिबंध में कषाय की मंदता जघन्य स्थितिबंध का कारण और कषाय की तीव्रता उत्कृष्ट स्थितिबंध का कारण है। यह तो हुई शुभ प्रकृतियों की बात। अशुभ प्रकृतियो में तो अनुभाग अधिक होने पर स्थिति भी अधिक होती है और अनुभाग कम होने पर स्थितिबंध कम होता है। क्योकि दोनो का कारण कषाय की तीव्रता है। अतः उत्कृष्ट स्थितिबंध ही अशुभ है क्योंकि उसका कारण कषायों की तीव्रता है और शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभागबंध शुभ है, क्योंकि उसका कारण कषायो की मंदता है। इसीलिये उत्कृष्ट स्थितिबंध की तरह उत्कृष्ट अनुभाग बंध को सर्वथा अशुभ नही माना जा सकता है।

इस प्रकार उत्कृष्ट संक्लेश से उत्कृष्ट स्थितिबंध और विशुद्धि से जघन्य स्थितिबंध होता है, किन्तु देवायु, मनुष्यायु और तिर्यचायु इन तीन प्रकृतियो के बारे में यह नियम लागू नही होता है। क्योकि इन तीन प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति शुभ मानी जाती है और उसका बंध विशुद्धि से होता है और जघन्य स्थिति अशुभ, क्योकि उसका बंध संक्लेश से होता है। सारांश यह है कि इन प्रकृतियो के सिवाय शेष प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति तीव्र कषाय से बंधती है और जघन्य स्थिति मंद कषाय से। किन्तु इन तीन प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति मंद कषाय से और जघन्य स्थिति तीव्र कषाय से बंधती है। इसीलिये ...न प्रकृतियो को ग्रहण नही किया गया है।

यद्यपि उत्कृष्ट स्थितिबंध तीव्र कषाय से होता है, लेकिन कषाय की अभिव्यक्ति योग द्वारा होती है। अतः केवल कषाय से ही स्थिति-बंध नही होता है, किन्तु उसके साथ योग भी रहता है। इसलिए अब सब जीवो मे योग के अल्पबहुत्व और उनकी स्थिति पर यहा विचार किया जा रहा है।

योग का अल्पबहुत्व

सुहुमनिगोयाइखणप्पजोग बायरयविगलअमणमणा।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु पजहस्सियरो असंखगुणो ॥५३॥
अपजत्त[1]तसुक्कोसो पज्जजहन्नियरु एव ठिइठाणा।
अपजेयर संखगुणा परमपजबिए असंखगुणा ॥५४॥

शब्दार्थ—सुहुमनिगोय—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक, आइखण—प्रथम समय मे (उत्पत्ति के), अप्पजोग—अल्पयोग, बायर—बादर एकेन्द्रिय, य—और, विगलअमणमणा विकलत्रिक, असज्ञी पचेन्द्रिय, सज्ञी पचेन्द्रिय, अपज्ज—अपर्याप्त के, लहु—जघन्य योग, पढमदु—प्रथमद्विक (अपर्याप्त सूक्ष्म, बादर) का, गुरु—उत्कृष्ट योग, पजहस्सियरो—पर्याप्त का जघन्य और उत्कृष्ट योग, असखगुणो—असख्यात गुणा।

अपजत्त—अपर्याप्त, तस—त्रस का, उक्कोसो—उत्कृष्ट योग, पज्जजहन्न—पर्याप्त त्रस का जघन्य योग, इयरु—और इतर (उत्कृष्ट योग), एव—इस प्रकार, ठिइठाणा—स्थिति के स्थान, अपजेयर—अपर्याप्त की अपेक्षा पर्याप्त के, संखगुणा—सख्यात गुणा, परं—परन्तु, अपजबिए—अपर्याप्त द्वीन्द्रिय मे, असंखगुणा-असख्यात गुणा।

---

[1] 'असमत्त' इति पाठान्तरे।

इसी बात को यों भी कह सकते है कि जब-जब शुभ प्रकृतियो में उत्कृष्ट अनुभाग होता है तब-तब जघन्य स्थितिबंध होता है और जब-जब उनमें जघन्य अनुभागबंध होता है तब-तब उनमे उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। क्योकि शुभ प्रकृतियों मे उत्कृष्ट अनुभागबंध का कारण कषाय की मंदता और जघन्य अनुभागबंध का कारण कषाय की तीव्रता है। लेकिन स्थितिबंध में कषाय की मंदता जघन्य स्थितिबंध का कारण और कषाय की तीव्रता उत्कृष्ट स्थितिबंध का कारण है। यह तो हुई शुभ प्रकृतियों की बात। अशुभ प्रकृतियों में तो अनुभाग अधिक होने पर स्थिति भी अधिक होती है और अनुभाग कम होने पर स्थितिबंध कम होता है। क्योंकि दोनों का कारण कषाय की तीव्रता है। अतः उत्कृष्ट स्थितिबंध ही अशुभ है क्योंकि उसका कारण कषायो की तीव्रता है और शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभागबंध शुभ है, क्योंकि उसका कारण कषायो की मंदता है। इसीलिये उत्कृष्ट स्थितिबंध की तरह उत्कृष्ट अनुभाग बंध को सर्वथा अशुभ नही माना जा सकता है।

इस प्रकार उत्कृष्ट संक्लेश से उत्कृष्ट स्थितिबंध और विशुद्धि से जघन्य स्थितिबंध होता है, किन्तु देवायु, मनुष्यायु और तिर्यंचायु इन तीन प्रकृतियों के बारे में यह नियम लागू नही होता है। क्योकि इन तीन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति शुभ मानी जाती है और उसका बंध विशुद्धि से होता है और जघन्य स्थिति अशुभ, क्योकि उसका बंध संक्लेश से होता है। साराश यह है कि इन प्रकृतियों के सिवाय शेष प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति तीव्र कषाय से बंधती है और जघन्य स्थिति मंद कषाय से। किन्तु इन तीन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति मंद कषाय से और जघन्य स्थिति तीव्र कषाय से बंधती है। इसीलिये तीन प्रकृतियों को ग्रहण नही किया गया है।

यद्यपि उत्कृष्ट स्थितिबंध तीव्र कपाय से होता है, लेकिन कपाय की अभिव्यक्ति योग द्वारा होती है। अत केवल कपाय से ही स्थिति-बंध नही होता है, किन्तु उसके साथ योग भी रहता है। इसलिये अव सव जीवों में योग के अल्पवहुत्व और उसकी स्थिति पर यहां विचार किया जा रहा है।

योग का अल्पवहुत्व

सुहुमनिगोयाइखणप्पजोग बायरयविगलअमणमणा।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु पजहस्सियरो असंखगुणो ॥५३॥
अपजत्त[1]तसुक्कोसो पज्जजहन्नियरु एव ठिइठाणा।
अपजेयर संखगुणा परमपजबिए असंखगुणा ॥५४॥

शब्दार्थ—**सुहुमनिगोय**—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक, **आइखण**—प्रथम समय मे (उत्पत्ति के), **अप्पजोग**—अल्पयोग, **वायर**—वादर एकेन्द्रिय, **य**—और, **विगलअमणमणा** विकलत्रिक, असज्ञी पचेन्द्रिय, सज्ञी पचेन्द्रिय, **अपज्ज**—अपर्याप्त के, **लहु**—जघन्य योग, **पढमदु**—प्रथमद्विक (अपर्याप्त सूक्ष्म, वादर) का, **गुरु**—उत्कृष्ट योग, **पजहस्सियरो**—पर्याप्त का जघन्य और उत्कृष्ट योग, **असखगुणो**—असख्यात गुणा।

अपजत्त— अपर्याप्त, **तस**—त्रस का, **उक्कोसो**—उत्कृष्ट योग, **पज्जजहन्न**—पर्याप्त त्रस का जघन्य योग, **इयरु**—और इतर (उत्कृष्ट योग), **एव**—इस प्रकार, **ठिइठाणा**—स्थिति के स्थान, **अपजेयर**—अपर्याप्त की अपेक्षा पर्याप्त के, **संखगुणा**—सख्यात गुणा, **परं**—परन्तु, **अपजविए**—अपर्याप्त द्वीन्द्रिय मे, **असंखगुणा**-असख्यात गुणा।

---

[1] 'अपमत्त' इति पाठान्तरे।

गाथार्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्त जीव को पहले समय में अल्प योग होता है, उसकी अपेक्षा बादर एकेन्द्रिय, विकलत्रिक, असंज्ञी और संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के पहले समय में क्रम से असंख्यात गुणा होता है। उसके अनन्तर प्रारंभ के दो लब्ध्यपर्याप्त अर्थात् सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे दोनो ही पर्याप्त का जघन्य व उत्कृष्ट योग अनुक्रम से असंख्यात गुणा है।

उसकी अपेक्षा अपर्याप्त त्रस का उत्कृष्ट योग, पर्याप्त त्रस का जघन्य और उत्कृष्ट योग अनुक्रम से असंख्यात गुणा है। इसी प्रकार स्थितिस्थान भी अपर्याप्त और पर्याप्त के संख्यात गुणे होते है किन्तु अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के स्थितिस्थान असंख्यात गुणे है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं मे योग के अल्पबहुत्व का कथन किया गया है। योग का अर्थ है सकर्मा जीव की शक्तिविशेप जो कर्मों के ग्रहण करने में कारण है। योग के द्वारा कर्म रज को आत्मा तक लाया जाता है। कर्मप्रकृति (बंधनकरण) में योग की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

परिणामा लंबण गहण साहणं तेण लद्धनामतिग।

अर्थात् पुद्गलों का परिणमन, आलम्बन और ग्रहण के साधन यानी कारण को योग कहते है।[1] आत्मा में वीर्य-शक्ति है और

---

१ गो० जीवकाड गा० २१५ मे योग का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ति कम्मागमकारण जोगो॥

पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन और काय से युक्त जीव की जो शक्ति कर्मों के ग्रहण करने मे कारण है, उसे योग कहते हैं।

संसारी जीव में वह शक्ति वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से प्रगट होती है। उस वीर्य के द्वारा जीव पहले औदारिक आदि शरीरों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और ग्रहण करके उन्हें औदारिक आदि शरीर रूप परिणमाता है तथा श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें श्वासोच्छ्वास आदि रूप परिणमाता है और परिणमा कर उनका अवलंवन यानी सहायता लेता है। यह क्रम सतत चलता रहता है। पुद्गलों को ग्रहण करने के तीन निमित्त है—मन, वचन और काय। इसीलिये योग के भी तीन नाम हो जाते है—मनोयोग, वचनयोग, काययोग।[1] मन के अवलंवन से होने वाले योग-व्यापार को मनोयोग, वचन के अवलंवन से होने वाले योग व्यापार को वचनयोग और श्वासोच्छ्वास आदि के अवलवन से होने वाले योग व्यापार को काययोग कहते है। सारांश यह है कि जीव में विद्यमान योग नामक शक्ति से वह मन, वचन, काय आदि का निर्माण करता है और ये मन, वचन और काय उसकी योग नामक शक्ति के अवलंवन होते है। इस प्रकार से योग पुद्गलों को ग्रहण करने का, ग्रहण किये हुए पुद्गलों को शरीरादि रूप परिणमाने का और उनका अवलंवन लेने का साधन है।[2]

योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य, ये योग के नामान्तर है।[3]

---

१ कायवाङ्मन: कर्मयोग। —तत्त्वार्थसूत्र ६।१

२ योगो की विशद व्याख्या और भेदो के नाम आदि के लिये चतुर्थ कर्मग्रन्थ मे योगमार्गणा को देखिये।

३ जोगो विरिय थामो उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा।
सत्ती सामत्थ चिय जोगस्स हवन्ति पज्जाया ॥

—पंचसंग्रह ३९६

यह योग एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों मे यथायोग्य पाया जाता है। इसकी दो अवस्थाये है—जघन्य और उत्कृष्ट यानी सबसे कम योगशक्ति का धारक कौन-सा जीव है और अधिकतम योगशक्ति का धारक कौन-सा जीव। इसी बात को ग्रन्थकार ने इन दो गाथाओ मे स्पष्ट किया है। जो इस प्रकार है—

१. सबसे जघन्य योग सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव को प्रथम समय में होता है—सुहुम निगोयाइखण। इसके बाद अन्य जीवो की योगशक्ति मे क्रमशः वृद्धि होती जाती है।
२. बादर निगोदिया एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीव के प्रथम समय मे जो योग होता है, वह उससे असंख्यात गुणा है।
३. उससे द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।
४. उससे त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।
५. उससे चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।
६. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य योग असंख्यातगुणा है।
७. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्य० का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।
८. उससे सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।
९. उससे बादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।
१०. उससे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्त का जघन्ययोग असंख्यात गुणा है।
११. उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।
१२. उससे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।
१३. उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।
१४. उससे द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।
१५. उससे त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।

१६. उससे चतुरिन्द्रिय लब्ध्य० का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।

१७. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।

१८. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।

१९. उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।

२०. उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।

२१. उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।

२२. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।

२३. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुण है।

२४. उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।

२५. उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।

२६. उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।

२७. उससे असंज्ञी पंचे० पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।

२८. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।

इस प्रकार से चौदह जीवसमासों मे जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से योगों के २८ स्थान होते है। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त में कुछ और स्थान दूसरे ग्रन्थों मे कहे है। जो इस प्रकार है—

२९. संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट योग से अनुत्तरवासी देवों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।

३०. उससे ग्रैवेयकवासी देवों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।

३१. उससे भोगभूमिज तिर्यंच और मनुष्यो का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।

३२. उससे आहारक शरीर वालों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।

३३. शेष देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्यों का उत्कृष्ट योग उत्तरोत्तर असंख्यात गुणा है ।[1]

इस प्रकार से सब जीवों के योग का अल्पबहुत्व जानना चाहिये।[2] सर्वत्र गुणाकार का प्रमाण पल्योपम के असंख्यातवे भाग जानना अर्थात् पहले-पहले योगस्थान में पल्य के असंख्यातवे भाग का गुणा करने पर आगे के योगस्थान का प्रमाण आता है। इसका यह अर्थ हुआ कि ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर जीव की शक्ति का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों योगस्थान में भी वृद्धि होती जाती है। जघन्य योग से जीव जघन्य प्रदेशबंध और उत्कृष्ट योग से उत्कृष्ट प्रदेश-बंध करता है।

इस प्रकार से योगस्थानो[3] के अल्पबहुत्व का कथन करने के पश्चात् अब स्थितिस्थानों का कथन करते है—ठिइठाणा अपजेयर संखगुणा—अपर्याप्त से पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे है किन्तु

---

१ कर्मप्रकृति (बधनकरण) मे असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट योग से अनुत्तरवासी देवो का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा वतलाया है —

अमणाणुत्तरगेविज्ज भोगभूमिगयतइयतणुगेसु ।
कमसो असखगुणिओ सेसेसु य जोग उक्कोसो ।। १६ ।।

जब असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट योग को कहने के बाद अनुत्तरवासी देवो आदि के उत्कृष्ट योग का कथन करेंगे तो २८ वाँ स्थान २६ वाँ होगा और कुल मिलाकर सब स्थान ३२ होगे । कर्मप्रकृति मे इसी प्रकार है ।

२ सब जीवो के योग का अल्पबहुत्व भगवती २५।१ मे बतलाया है । उसमे पर्याप्त के जघन्य योग से अपर्याप्त का उत्कृष्ट योग अधिक कहा है । बोल भी आगे पीछे हैं । इसका कारण तो बहुश्रुतगम्य है ।

३ गो० कर्मकाड गा० २१८ से २४२ तक योगस्थानो का विस्तृत वर्णन किया है । इसका उपयोगी अश परिशिष्ट मे देखिये ।

इतनी विशेपता है कि 'अपजविए असंखगुणा' द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान असंख्यात गुणे है। इसका स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

किसी कर्मप्रकृति की जघन्य स्थिति से लेकर एक-एक समय बढ़ते-बढते उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त स्थिति के जो भेद होते है, वे स्थितिस्थान[1] कहलाते है। जैसे किसी कर्मप्रकृति की जघन्यस्थिति १० समय और उत्कृष्टस्थिति १८ समय है तो दस से लेकर अठारह तक स्थिति के नौ भेद होते है, जिन्हें स्थितिस्थान कहते है। ये स्थितिस्थान भी उत्तरोत्तर संख्यात गुणे है किन्तु द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान असंख्यात गुणे होते है। उनका क्रम इस प्रकार है—

१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त के स्थितिस्थान सबसे कम है।
२ उससे वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यातगुणे है।
३ उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे है।
४ उससे वादर एकेन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे है।
५ उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान असंख्यात गुणे है।
६ उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे है।
७ उससे त्रीन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे है।
८ उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे है।
९ उससे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे है।
१० उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे है।
११ उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे है।
१२ उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं।

---

१ तत्र जघन्यस्थितेरारभ्य एकैकसमयवृद्ध्या सर्वोत्कृष्टनिजस्थितिपर्यवसाना ये स्थितिभेदास्ते स्थितिस्थानान्युच्यन्ते। —पंचम कर्मग्रन्थ टीका, पृ० ५५

१३ उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे है।
१४ उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे है।

इस प्रकार स्थिति के प्रमाण मे वृद्धि के साथ स्थितिस्थानो की भी संख्या वढती जाती है।

योग के प्रसंग मे योगो के अल्पवहुत्व, स्थितिस्थानो का निरुपण करने के वाद अव अपर्याप्त जीवो के प्रति समय जितने योग की वृद्धि होती है, उसका कथन करते है।

पइखणमसखगुणविरिय अपज पइठिइमसखलोगसमा।
अज्झवसाया अहिया सत्तसु आउसु असंखगुणा ॥५५॥

शब्दार्थ—**पइखणं**—प्रत्येक समय मे, **असखगुणविरिय**—असख्यात गुणा वीर्य वाले, **अपज**—अपर्याप्त जीव, **पइठिइं**—प्रत्येक स्थितिवध मे, **असंखलोगसमा**—असख्यात लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण, **अज्झवसाया**—अध्यवसाय, **अहिया** अधिक, **सत्तसु**—सात कर्मो मे, **आउसु**—आयुकर्म मे, **असंखगुणा**—असख्यात गुणा।

गाथार्थ—अपर्याप्त जीव प्रत्येक समय असंख्यात गुणे वीर्य वाले होते है और प्रत्येक स्थितिवंध में असंख्यात लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण अध्यवसाय होते है। सात कर्मों में तो स्थितिवंध के अध्यवसाय विशेषाधिक और आयुकर्म में असंख्यात गुणे होते है।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में स्थितिस्थानो का प्रमाण वतलाया है। अव यहा वतलाते है कि अपर्याप्त जीवो के योगस्थानों मे प्रति समय असंख्यात गुणी वृद्धि होती है किन्तु पर्याप्त जीवों में ऐसा नही होता यह असंख्यात गुणी वृद्धि उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त समझना चाहिए—

सव्वोवि अपज्जत्तो पइखणं असंखगुणाए जोगवुड्ढीए वड्ढईत्ति।
एक-एक स्थितिस्थान के कारण असंख्यात अध्यवसायस्थान होते है।

स्थितिवंध के कारण कपायजन्य आत्मपरिणामों को अध्यवसायस्थान कहते है। कषायों के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मंद, मंदतर, मंदतम रूप में उदय होने से अध्यवसायस्थानों के अनेक भेद हो जाते है। एक स्थितिवंध का कारण एक ही अध्यवसायस्थान नही है किन्तु अनेक अध्यवसायस्थान है। अर्थात् एक ही स्थिति नाना जीवों को नाना अध्यवसायस्थानो से वंधती है। जैसे कुछ व्यक्तियों ने दो सागर प्रमाण की देवायु का वंध किया हो, लेकिन यह आवश्यक नही कि उन सवके सर्वथा एक जैसे परिणाम हों। इसीलिए एक-एक स्थितिस्थान के कारण अध्यवसायस्थान असंख्यात लोकप्रमाण कहे जाते है।

आयुकर्म के सिवाय ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के अध्यवसायस्थान विशेषाधिक है। जैसे ज्ञानावरण कर्म की जघन्य स्थिति के कारण अध्यवसायस्थान सवसे कम है, उससे द्वितीय स्थितिस्थान के कारण अध्यवसाय अधिक है, उससे तृतीय स्थितिस्थान के कारण अध्यवसायस्थान अधिक है। इसी प्रकार चौथे, पांचवे यावत् उत्कृष्ट स्थितिस्थान तक समझना चाहिए। लेकिन इन सवका सामान्य से प्रमाण असंख्यात लोकप्रमाण ही है। ज्ञानावरण की तरह दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र और अंतराय कर्म की द्वितीय आदि स्थिति से लेकर अपने-अपने उत्कृष्ट स्थितिबंध पर्यन्त अध्यवसायस्थानों की संख्या अधिक-अधिक जानना चाहिए।

लेकिन आयुकर्म के अध्यवसायस्थान उत्तरोत्तर असंख्यात गुणे है। अर्थात् चारों ही आयुकर्मों के जघन्य स्थितिबंध के कारण अध्यवसायस्थान असंख्यात लोक प्रमाण है और उसके वाद उनके दूसरे स्थितिबंध के कारण अध्यवसायस्थान उससे असंख्यात गुणे है,

तृतीय स्थितिबंध के कारण अध्यवसायस्थान उससे भी असंख्यात गुणे है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थितिबंध पर्यन्त अध्यवसायस्थानो की संख्या असंख्यात गुणी, असंख्यात गुणी समझना चाहिये।

इस प्रकार से स्थितिबंध की अपेक्षा सब कर्मों के अध्यवसाय स्थानों को बतलाकर अब उन प्रकृतियों के नाम और उनका अबन्ध-काल बतलाते है, जिनको पंचेन्द्रिय जीव अधिक-से-अधिक कितने काल तक नही बाँधते है।

> **तिरिनरयतिजोयाण नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं।**
> **थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥५६॥**
> **अपढमसंघयणागिइखगई अणमिच्छदुभगथीणतिग।**
> **निय नपु इत्थि दुतीसं पणिदिसु अबन्धठिइ परमा ॥५७॥**

शब्दार्थ—**तिरिनरयति** तिर्यंचत्रिक और नरकत्रिक, **जोयाण** – उद्योत नामकर्म का, **नरभवजुय** - मनुष्य भव सहित, **सचउपल्ल**—चार पल्योपम सहित, **तेसट्ठं**—त्रेसठ (अधिक सौ सागरोपम), **थावरचउ**—स्थावर चतुष्क, **इगविगलायवेसु**—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और आतप नामकर्म मे, **पणसीइसयं**—एक सौ पचासी, **अयरा**—सागरोपम।

अपढमसंघयणागिइखगइ—पहले के सिवाय शेष संहनन और संस्थान और विहायोगति, **अण**—अनतानुबधी कषाय, **मिच्छ**—मिथ्यात्व मोहनीय, **दुभगथीणतिग**—दुर्भगत्रिक स्त्यानर्द्धित्रिक, **निय**—नीच गोत्र, **नपुइत्थि**—नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, **दुतीसं**—बत्तीस (नरभवसहित एकसौ बत्तीस सागरोपम), **पणिदिसु**—पचेन्द्रिय मे, **अबन्धठिइ**—अबन्ध स्थिति, **परमा**—उत्कृष्ट।

गाथार्थ—तिर्यंचत्रिक, नरकत्रिक और उद्योत नामकर्म का मनुष्य भव सहित चार पल्योपम अधिक एकसौ त्रेसठ,

सागरोपम उत्कृष्ट अवन्धकाल है। स्थावरचतुष्क, एकेन्द्रिय जाति, विकलेन्द्रिय और आतप नामकर्म का मनुष्य भव सहित चार पल्योपम अधिक एकसौ पचासी सागरोपम उत्कृष्ट अवन्धकाल जानना चाहिए।

पहले संहनन और संस्थान व विहायोगति के सिवाय शेप पांच संहनन, पाच संस्थान, विहायोगति, अनंतानुबंधी कषाय, मिथ्यात्व मोहनीय, दुर्भगत्रिक, नीच गोत्र, नपुसक वेद और स्त्री वेद की अवंधस्थिति मनुष्य भव सहित एकसौ वत्तीस सागरोपम है। इन प्रकृतियो की अवंधस्थिति पंचेन्द्रिय में जानना चाहिये।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में उन उत्तर प्रकृतियों के नाम बतलाये है जिनका उत्कृष्ट अवन्धकाल पचेन्द्रियों में है। इन प्रकृतियो की कुल संख्या ४१ है जो पहले और दूसरे गुणस्थान में बंधयोग्य हैं। पहले गुणस्थान में वंधयोग्य सोलह और दूसरे गुणस्थान में बंधयोग्य पच्चीस प्रकृतियां है। साराश यह है कि इन इकतालीस प्रकृतियों का वंध उन्ही जीवो को होता है जो पहले अथवा दूसरे गुणस्थान मे होते है। जो जीव इन गुणस्थानों को छोड़कर आगे बढ़ जाते है, उनके उक्त इकतालीस प्रकृतियों का वंध तव तक नही होता है जव तक वे पुनः उन गुणस्थानों मे नही आते है। दूसरे गुणस्थान से आगे पंचेन्द्रिय जीव ही वढ़ते है। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों के पहले, दूसरे के सिवाय आगे के गुणस्थान नही होते है। इसीलिए गाथा में वताई गई इकतालीस प्रकृतियो के अवन्धकाल को पंचेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा वतलाया है।

लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिये कि जो पंचेन्द्रिय जीव सम्यग्दृष्टि हो जाते है, उनके तो उक्त इकतालीस प्रकृतियों

तव तक नही हो सकता जव तक वे सम्यक्त्व से च्युत होकर पहले अथवा दूसरे गुणस्थान मे नही आते, किन्तु पहले अथवा दूसरे गुण-स्थान मे आने पर भी कभी-कभी उक्त प्रकृतिया नही बंधती है। इन सव वातो को ध्यान में रखकर उक्त प्रकृतियो के उत्कृष्ट अवन्ध-काल को इन दो गाथाओ मे वतलाया है।

इन इकतालीस प्रकृतियों को तीन भागों मे विभाजित कर अवंध-काल वतलाया है। पहले भाग मे सात, दूसरे भाग में नौ और तीसरे भाग में पच्चीस प्रकृतियों का ग्रहण किया है। पहले भाग मे ग्रहण की गई सात प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—तिर्यचत्रिक (तिर्यचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यचायु), नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु) और उद्योत। इनका उत्कृष्ट अबन्धकाल—नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं-मनुष्यभव सहित चार पल्य अधिक एक सौ त्रेसठ सागरोपम वतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—कोई जीव तीन पल्य की आयु बाधकर देवकुरु भोगभूमि मे उत्पन्न हुआ। वहां उसके उक्त सात प्रकृतियों का वंध नही होता है। क्योकि ये सात प्रकृतिया नरक, तिर्यच गति योग्य है, अतः इन प्रकृतियो का वंध वही करता है जो नरकगति या तिर्यचगति मे जन्म ले सकता है। किन्तु भोगभूमिज जीव मरकर नियम से देव ही होते है। अतः इन नरक, तिर्यंच गति योग्य प्रकृतियो का वंध नही करते है। इसके वाद भोगभूमि मे सम्यक्त्व को प्राप्त करके वह एक पल्य की स्थिति वाले देवो मे उत्पन्न हुआ, अत. सम्यक्त्व होने के कारण वहां भी उसने उक्त सात प्रकृतियो का वंध नही किया। इसके वाद देवगति मे सम्यक्त्व सहित मरण करके मनुष्यगति मे जन्म लेकर और दीक्षा धारण कर नौवे ग्रैवेयक मे ३१ सागरोपम की स्थिति वाला देव हुआ। उत्पन्न होने के अन्तर्मुहूर्त के बाद सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यादृष्टि हो गया। मिथ्यादृष्टि हो पर भी ग्रैवेयक देवो के उक्त सात प्रकृतिया जन्म से ही न वंधने

के कारण उनका बंध नही हुआ। वहां मरते समय क्षयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करके मनुष्यगति में जन्म लेकर महाव्रत धारण करके दो वार विजयादिक मे जन्म लेकर पुनः मनुष्य हुआ। वहा अन्तर्मुहूर्त के लिये सम्यक्त्व से च्युत होकर तीसरे मिश्र गुणस्थान[1] में चला गया। पुन: क्षयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करके तीन वार अच्युत स्वर्ग में जन्म लिया। इस प्रकार ग्रैवेयक के ३१ सागर, विजयादिक में दो वार जन्म लेने के ६६ सागर और तीन वार अच्युत स्वर्ग में जन्म लेने से वहा के ६६ सागर मिलाने से १६३ सागर होते है। इसमें देवकुरु भोगभूमिज की आयु तीन पल्य, देवगति की आयु एक पल्य इस प्रकार चार पल्य और मिला देना चाहिए। बीच मे जो मनुष्यभव धारण किये उन्हे भी उसमें जोड़कर मनुष्यभव सहित चार पल्य अधिक एक सौ त्रेसठ सागरोपम उक्त सात प्रकृतियो का अबंधकाल होता है।[2]

१ कार्मग्रन्थिक मत से चौथे गुणस्थान से च्युत होकर जीव तीसरे गुणस्थान मे आ सकता है। लेकिन सैद्धांतिक मत इसके विरुद्ध है—

मिच्छत्ता सकंती अविरुद्धा होई सम्ममीसेसु।
मीसाउ वा दोसु सम्मा मिच्छ न उण मीस ॥ —वृहत्क० भाष्य ११४

—जीव मिथ्यात्व गुणस्थान से तीसरे और चौथे गुणस्थान मे जा सकता है, इसमे कोई विरोध नही है तथा मिश्र गुणस्थान से भी पहले और चौथे गुणस्थान मे जा सकता है, किंतु सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व मे जा सकता है, मिश्र गुणस्थान में नही जा सकता है।

२ पलियाइ तिन्नि भोगावणिम्मि भवपच्चय पलियमेग।
सोहम्मे सम्मत्तेण नरभवे सव्वविरईण ॥
मिच्छो भवपच्चयओ गेविज्जे सागराइ इगतीस।
अतमुहुत्तूणाइ सम्मत्त तम्मि लहिऊण ॥
विरयनरभवतरिओ अणुत्तरेसुं गओ उ अयर छावट्ठी।
अन्त मुहुत्तमेग कासिय मणुओ पुणो विरओ ॥
छावट्ठी अयराण अच्चुगए विरयनरभवतरिओ।
तिरिनरयतिगुज्जोयाण एस कालो अवधम्मि ॥

इस अबन्धकाल को बतलाने में जो ग्रैवेयक में सम्यक्त्व से पतन बतलाया है, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल ६६ सागर पूरा हो जाने के कारण बतलाया, है। इसी प्रकार विजयादिक मे ६६ सागर पूर्ण कर लेने के बाद मनुष्य भव में जो अन्तर्मुहूर्त के लिए तीसरे गुणस्थान मे गमन बतलाया है, वह भी सम्यक्त्व के ६६ सागर पूरे हो जाने के कारण ही बतलाया है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर है।

दूसरे भाग में स्थावरचतुष्क (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण), एकेन्द्रिय, विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) और आतप इन नौ प्रकृतियों को ग्रहण किया है। ये नौ प्रकृतिया एकेन्द्रिय या विकलेन्द्रिय प्रायोग्य है। इनका उत्कृष्ट अबन्धकाल मनुष्य भव सहित चार पल्य अधिक एक सौ पचासी सागर बतलाया है। जो इस प्रकार है—कोई जीव २२ सागर की स्थिति को लेकर छठे नरक में उत्पन्न हुआ। वहाँ इन प्रकृतियों का बंध नही होता है। क्याकि नरक से निकलकर जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक होता है, एकेन्द्रिय या विकलेन्द्रिय नही। वहा मरते समय सम्यक्त्व को प्राप्त करके मनुष्यगति में जन्म हुआ और अणुव्रती होकर मरण करके चार पल्य की आयु वाले देवों मे उत्पन्न हुआ। वहा से च्युत होकर मनुष्य पर्याय मे जन्म लेकर महाव्रत धारण करके नौवे ग्रैवेयक में इकतीस सागर की स्थिति वाला देव हुआ। वहां अन्तर्मुहूर्त के बाद मिथ्यादृष्टि हो गया। अन्त समय मे सम्यग्दृष्टि होकर मनुष्य पर्याय में जन्म लेकर महाव्रत पालन करके दो बार विजयादिक मे उत्पन्न हुआ और इस प्रकार ६६ सागर पूरे किये। पहले की तरह मनुष्य पर्याय में अन्तर्मुहूर्त के लिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि होकर पुन· सम्यक्त्व को प्राप्त करके तीन बार स्वर्ग मे उत्पन्न हुआ और इस प्रकार दूसरी बार ६६ सागर पूर्ण

किये। इन सब कालों को जोड़ने से मनुष्य भव सहित चार पल्य अधिक २२+३१+६६+६६=१८५ सागर उत्कृष्ट अवन्धकाल होता है।[1]

तीसरे भाग में ग्रहण की गई २५ प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त संहनन, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्ज, हुण्ड संस्थान, अशुभ विहायोगति, अनंतानुवंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, नीच गोत्र, नपुसकवेद, स्त्रीवेद।

इन पच्चीस प्रकृतियों का अबन्धकाल मनुष्यभव सहित १३२ सागर है। जो इस प्रकार जानना चाहिए कि कोई जीव महाव्रत धारण कर मरकर दो बार विजयादिक में उत्पन्न हुआ और इस प्रकार सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल ६६ सागर पूर्ण किया। पुनः मनुष्यभव में अन्तर्मुहूर्त के लिये मिश्र गुणस्थान में आकर और पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करके तीन वार अच्युत स्वर्ग में जन्म लेकर दूसरी वार सम्यक्त्व का काल ६६ सागर पूर्ण किया। इस प्रकार ६६+६६=१३२ हुए। इसीलिये उक्त पच्चीस प्रकृतियो का उत्कृष्ट अवन्धकाल मनुष्यभव सहित १३२ सागर होता है।[2]

इस प्रकार से उक्त इकतालीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट अबन्धकाल वतलाकर अव आगे यह वतलाते है कि उक्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट

---

१ छट्ठीए नेरइओ भवपच्चयओ उ अयर वावीसं।
देसविरओ य भविउ पलियचउक्क पढमकप्पे।
पुव्वुत्तकालजोगो पचासीय सयं सचउपल्ल।
आयवथावरचउविगलतियगएगिंदिय अवंधो॥

२ पणवीसाए अवधो उक्कोसो होइ सम्मसीसजुए।
छत्तीसं सयमयरा, दो विजए अच्चुए तिभवा॥

अबन्धकाल १६३ सागर आदि क्यों है ? और अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के निरन्तर वंधकाल का जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण क्या है ?

विजयाइसु गेविज्जे तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठं ।
पणसीइ सययबंधो पल्लतिगं सुरविउव्विदुगे ॥५८॥

शब्दार्थ — **विजयाइसु**—विजयादिक मे, **गेविज्जे**—ग्रैवेयक मे, **तमाई** — तम प्रभा नरक मे, **दहिसय**—एक सौ सागरोपम, **दुतीस**—बत्तीस, **तेसट्ठं** — त्रेसठ सागरोपम, **पणसीइ**—पचासी सागरोपम, **सययबंधो** — निरन्तर बंध, **पल्लतिगं** — तीन पल्य, **सुरविउव्विदुगे**—सुरद्विक और वैक्रियद्विक मे ।

गाथार्थ—विजयादिक में, ग्रैवेयक और विजयादिक मे तथा तमःप्रभा और ग्रैवेयक मे गये जीव की उत्कृष्ट अबन्धस्थिति अनुक्रम से एक सौ बत्तीस, एक सौ त्रेसठ और एक सौ पचासी सागरोपम मनुष्यभव सहित होती है। देवद्विक और वैक्रियद्विक का निरन्तर वंधकाल तीन पल्य है।

विशेषार्थ—इससे पूर्व की दो गाथाओं में जो ४१ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अबन्धकाल बतलाया वह किस प्रकार घटित होता है, इसका संकेत यहां किया गया है तथा अध्रुवबंधिनी तिहत्तर प्रकृतियों मे से कुछ प्रकृतियो के निरन्तर वंधकाल को बतलाया है ।

यद्यपि अवंधकाल का स्पष्टीकरण पूर्व की दो गाथाओ के भावार्थ मे कर दिया गया है, तथापि प्रसंगवशात् पुनः यहा भी करते है ।

एक सौ बत्तीस सागर इस प्रकार होते है कि विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमानो मे से किसी एक विमान मे दो बार जन्म लेने पर एक बार के ६६ सागर पूर्ण होते है । फिर अन्तर्मुहूर्त लिये तीसरे गुणस्थान मे आकर पुनः अच्युत स्वर्ग मे तीन बार

जन्म लेने से दूसरी वार के ६६ सागर पूर्ण होते है। इस प्रकार विजयादिक मे जन्स लेने से १३२ सागर पूर्ण होते है।

एक सौ त्रेसठ सागर इस प्रकार होते है कि नौवे ग्रैवेयक में इकतीस सागर की आयु भोगकर वहा से च्युत होकर मनुष्यगति में जन्म लेकर पूर्व की तरह विजयादिक में दो वार जाने से दो वार छियासठ सागर पूर्ण करने पर एक सौ त्रेसठ सागर पूर्ण होते है।

एक सौ पचासी सागर होने के लिये इस प्रकार समझना चाहिए कि तम.प्रभा नामक छठे नरक में वाईस सागर की स्थिति पूर्ण कर उसके वाद नौवे ग्रैवेयक में इकतीस सागर की आयु भोगकर उसके वाद विजयादिक मे दो वार छियासठ सागर पूरे करने से एक सौ पचासी सागर का अन्तराल होता है।

इस प्रकार इकतालीस प्रकृतिया अधिक-से-अधिक इतने काल तक पंचेन्द्रिय जीव के वंध को प्राप्त नही होती है।

अध्रुववंधिनी प्रकृतियो के निरन्तर वंधकाल के जघन्य व उत्कृष्ट प्रमाण का विवेचन प्रारंभ करते हुए सर्वप्रथम उत्कृष्ट वंधकाल वतलाते कि—पल्लतिगं सुरविउव्विदुगे—यानी देवद्विक (देवगति और देवानुपूर्वी) तथा वैक्रियद्विक (वैक्रिय शरीर, वैक्रियअंगोपाग) इन चार प्रकृतियो का वंध यदि वरावर होता रहे तो अधिक-से-अधिक तीन पल्य तक हो सकता है।

इसका कारण यह है कि भोगभूमिज जीव जन्म से ही देवगति के योग्य इन चार प्रकृतियो को तीन पल्योपम काल तक वरावर वाधते है। क्योकि भोगभूमिज जीवो के नरक, तिर्यन्च और मनुष्यगति के योग्य नामकर्म की प्रकृतियो का वंध नही होता है। इसलिए परिणामों में अन्तर पड़ने पर भी इन चार प्रकृतियो की किसी विरोधिनी प्रकृति का वंध नही होता है।

अब आगे की चार गाथाओं मे शेप प्रकृतियों के नाम गिनाकर उनके निरन्तर बंध के समय को वतलाते है।

समयादसंखकाल तिरिदुगनीएसु आउ अतमुहू।
उरलि असखपरट्टा सायठिई पुव्वकोडूणा ॥५९॥
जलहिसयं पणसीय परघुस्सासे पणिदितसचउगे।
बत्तीसं सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरसे ॥६०॥
असुखगइजाइआगिइ संघयणाहारनरयजोयदुग।
थिरसुभजसथावरदसनपुइत्थीदुजुयलमसायं ॥६१॥
समयादतमुहुत्तं मणुदुगजिणवइरउरलवंगेसु।
तित्तोसयरा परमा अतमुहु लहू वि आउजिणे ॥६२॥

शब्दार्थ—**समयादसंखकालं**—एक समय से लेकर असख्य काल तक, **तिरिदुगनीएसु** - तिर्यचद्विक और नीचगोत्र का, आउ आयु-कर्म का, **अंतमुह**—अन्तर्मुहूर्त तक, **उरलि**—औदारिक शरीर का, **असंख परट्टा**—असख्यात पुद्गल परावर्त, **सायठिई**—सातावेदनीय का बध, **पुव्वकोडूणा**—पूर्व कोटि वर्ष से न्यून।

जलहिसयं—एक सौ सागरोपम, **पणसीय** - पचासी, **परघुस्सासे**—पराघात और उच्छ्वास नामकर्म का, **पणिदि** - पचेन्द्रिय जाति का, **तसचउगे** - त्रसचतुष्क का, **बत्तीसं**—वत्तीस, **सुहविहगइ**— शुभ विहायोगति, **पुम**—पुरुप वेद, **सुभगतिग**— सुभगत्रिक, **उच्च**—उच्चगोत्र, **चउरंसे**—समचतुरस्रसस्थान का।

असुखगइ—अशुभ विहायोगति, **जाइ**—एकेन्द्रिय आदि चतुरिन्द्रिय तक जाति, **आगिइसंघयण**—पहले के सिवाय पाच सस्थान और पाच सहनन, **आहारनरयजोयदुग**—आहारकद्विक, नरकद्विक, उद्योतद्विक, **थिरसुभजस**—स्थिर, शुभ, यश:कीर्ति नाम,

थावरदस—स्थावर दशक, नपुइत्थी—नपुंसक वेद, स्त्री वेद, दुजुयल – दो युगल, असाय—असाता वेदनीय का।

समयादतमुहुत्तं—एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त, मणुदुग—मनुष्यद्विक, जिण—तीर्थंकर नामकर्म, वइर—वज्र-ऋषभनाराच संहनन, उरलुवंगेसु—औदारिक अंगोपांग का, तित्ती-सयरा—तेतीस सागरोपम, परमो—उत्कृष्ट बंध, अतमुह – अन्त-र्मुहूर्त, लहुवि – जघन्य बंध भी, आउजिणे—आयुकर्म और तीर्थंकर नाम का।

गाथार्थ—तिर्यंचद्विक और नीच गोत्र का एक समय से लेकर असंख्यात काल तक निरंतर बंध होता है। आयुकर्म का अन्तर्मुहूर्त, औदारिक शरीर का असंख्यात पुद्गल परावर्त और साता वेदनीय का कुछ कम पूर्व कोड़ी तक निरंतर बंध होता है।

पराघात, उच्छ्वास, पंचेन्द्रिय जाति और त्रसचतुष्क का एकसौ पचासी सागरोपम निरंतर बंध होता है। शुभ विहायोगति, पुरुष वेद, सुभगत्रिक, उच्च गोत्र और समचतु-रस्र संस्थान का उत्कृष्ट निरंतर बंध एक सौ बत्तीस सागरो-पम होता है।

अशुभ विहायोगति, एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक अशुभ जातिचतुष्क, पहले के सिवाय पांच संस्थान, पांच संह-नन, आहारकद्विक, नरकद्विक, उद्योतद्विक, स्थिर, शुभ, यशः-कीर्ति नामकर्म, स्थावर दशक, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, दो युगल और असाता वेदनीय का—

एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निरं होता है। मनुष्यद्विक, तीर्थंकर नामकर्म, वज्रऋ

संहनन और औदारिक अंगोपाग नामकर्म का तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट सतत बंध होता है। चार आयु और तीर्थकर नामकर्म का जघन्य निरंतर बंध भी अन्तर्मुहूर्त होता है।

विशेषार्थ—इन चार गाथाओ में अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के नाम तथा उनके निरंतर बन्ध होने के उत्कृष्ट समय को बतलाया है। इन प्रकृतियो के निरंतर वन्ध होने के जघन्य समय का संकेत इसलिये नही किया है क्योंकि अध्रुवबन्धिनी होने से एक समय के बाद भी इनका बन्ध रुक सकता है।

सभी प्रकृतियों का निरंतर वन्धकाल समान नही होने से समान समय वाली प्रकृतियो के वर्ग बनाकर उन-उन के वन्ध का समय बतलाया है। जिनका स्पष्टीकरण नीचे किये जा रहा है।

तिर्यचद्विक (तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी) और नीच गोत्र का वन्धकाल एक समय से लेकर असंख्यात काल हो सकता है—समयादसंखकालं तिरिदुगनीएसु। इसका कारण यह है कि उक्त तीन प्रकृतिया जघन्य से एक समय तक [illegible] क्योंकि दूसरे समय
विपक्षी प्रकृतियों का वन्ध हो [illegible] किन्तु जव कोई [illegible]
स्काय और वायुकाय मे जन्म [illegible] तिर्यंचद्विक व न[illegible]
का निरंतर वन्ध होता रहता है, [illegible] काय मे वना [illegible]
तेजस्काय और वायकाय के ज[illegible] सिवाय अन्य
गति और [illegible] गोत्र [illegible]
तेजस्काय व[illegible]
[illegible]ख्यात प्रदेश[illegible]
तेजस्काय व
प्रकृतियो का [illegible]

असंख्यात उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी बतलाया है। सातवें नरक मे भी इन तीन प्रकृतियो का निरन्तर बन्ध होता रहता है।

आयुकर्म की चारो प्रकृतियो—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवायु का जघन्य और उत्कृष्ट बन्धकाल अन्तर्मुहूर्त है—आउ अंतमुहू। क्योकि आयुकर्म का एक भव मे एक ही बार बंध होता है और वह भी अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त तक होता रहता है।

औदारिक शरीर नामकर्म का एक समय से लेकर उत्कृष्ट बन्धकाल असंख्यात पुद्गल परावर्त है। क्योकि जीव एक समय तक औदारिक शरीर का बन्ध करके दूसरे समय में उसके विपक्षी वैक्रिय शरीर आदि का भी बन्ध कर सकता है तथा असंख्यात पुद्गल परावर्त का समय इसलिए माना जाता है कि स्थावरकाय मे जन्म लेने वाला जीव असंख्यात पुद्गल परावर्त काल तक स्थावरकाय में पडा रह सकता है। तब उसके औदारिक के सिवाय अन्य किसी भी शरीर का बन्ध नही होता है।

'सायठिई पुव्वकोडूणा' साता वेदनीय का उत्कृष्ट बन्धकाल कुछ कम एक पूर्व कोटि है। जब कोई जीव एक समय तक साता वेदनीय का बन्ध करके दूसरे समय में उसकी प्रतिपक्षी असाता वेदनीय का बन्ध करता है तब तो उसका काल एक समय ठहरता है और जब कोई कर्मभूमिज मनुष्य आठ वर्ष की उम्र के पश्चात जिन दीक्षा धारण करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है तब उसके कुछ अधिक आठ वर्ष कम एक पूर्व कोटि काल तक निरन्तर साता वेदनीय का बंध होता रहता है। क्योंकि छठे गुणस्थान के बाद साता वेदनीय की विरोधिनी असाता वेदनीय प्रकृति का बन्ध नहीं होता है तथा कर्मभूमिज मनुष्य की उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि की होती है, अ

संहनन और औदारिक अंगोपांग नामकर्म का तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट सतत बंध होता है। चार आयु और तीर्थकर नामकर्म का जघन्य निरंतर बंध भी अन्तर्मुहूर्त होता है।

विशेषार्थ— इन चार गाथाओ में अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के नाम तथा उनके निरंतर बन्ध होने के उत्कृष्ट समय को बतलाया है। इन प्रकृतियों के निरंतर बन्ध होने के जघन्य समय का संकेत इसलिये नही किया है क्योंकि अध्रुवबन्धिनी होने से एक समय के बाद भी इनका बन्ध रुक सकता है।

सभी प्रकृतियों का निरंतर बन्धकाल समान नही होने से समान समय वाली प्रकृतियो के वर्ग बनाकर उन-उन के बन्ध का समय बतलाया है। जिनका स्पष्टीकरण नीचे किये जा रहा है।

तिर्यंचद्विक (तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी) और नीच गोत्र का बन्धकाल एक समय से लेकर असंख्यात काल हो सकता है— समयादसंखकालं तिरिदुगनीएसु। इसका कारण यह है कि उक्त तीन प्रकृतिया जघन्य से एक समय तक बंधती है, क्योकि दूसरे समय में इनकी विपक्षी प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है। किन्तु जब कोई जीव तेजस्काय और वायुकाय मे जन्म लेता है तो उसके तिर्यंचद्विक व नीच गोत्र का निरंतर वन्ध होता रहता है,जब तक वह उस काय मे बना रहता है। तेजस्काय और वायुकाय के जीवो में तिर्यंचद्विक के सिवाय अन्य किसी गति और आनुपूर्वी का वन्ध नही होता और न उच्च गोत्र का ही। तेजस्काय व वायुकाय मे जन्म लेने वाला जीव लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश होते है, अधिक-से-अधिक उतने समय तक बराबर तेजस्काय व वायुकाय में जन्म लेता रहता है। इसीलिए इन तीन प्रकृतियो का उत्कृष्ट निरन्तर वन्धकाल असंख्यात समय अर्थात्

असंख्यात उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी बतलाया है। सातवे नरक मे भी इन तीन प्रकृतियों का निरन्तर बन्ध होता रहता है।

आयुकर्म की चारो प्रकृतियो—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवायु का जघन्य और उत्कृष्ट बन्धकाल अन्तमुंहूर्त है—आउ अंतमुहू। क्योंकि आयुकर्म का एक भव में एक ही बार बंध होता है और वह भी अधिक-से-अधिक अन्तमुंहूर्त तक होता रहता है।

औदारिक शरीर नामकर्म का एक समय से लेकर उत्कृष्ट बन्धकाल असंख्यात पुद्गल परावर्त है। क्योंकि जीव एक समय तक औदारिक शरीर का बन्ध करके दूसरे समय में उसके विपक्षी वैक्रिय शरीर आदि का भी बन्ध कर सकता है तथा असंख्यात पुद्गल परावर्त का समय इसलिए माना जाता है कि स्थावरकाय मे जन्म लेने वाला जीव असंख्यात पुद्गल परावर्त काल तक स्थावरकाय मे पड़ा रह सकता है। तब उसके औदारिक के सिवाय अन्य किसी भी शरीर का बन्ध नही होता है।

'सायठिई पुव्वकोडूणा' साता वेदनीय का उत्कृष्ट बन्धकाल कुछ कम एक पूर्व कोटि है। जब कोई जीव एक समय तक साता वेदनीय का बन्ध करके दूसरे समय मे उसकी प्रतिपक्षी असाता वेदनीय का बन्ध करता है तब तो उसका काल एक समय ठहरता है और जब कोई कर्मभूमिज मनुष्य आठ वर्ष की उम्र के पश्चात जिन दीक्षा धारण करके केवलज्ञान।प्राप्त कर लेता है तब उसके कुछ अधिक आठ वर्ष कम एक पूर्व कोटि काल तक निरन्तर साता वेदनीय का बंध होता रहता है। क्योंकि छठे गुणस्थान के बाद साता वेदनीय की विरोधिनी असाता वेदनीय प्रकृति का बन्ध नही होता है तथा कर्मभूमिज मनुष्य की उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि की होती है, अतः

साता वेदनीय का निरन्तर उत्कृष्ट बन्धकाल कुछ अधिक आठ वर्ष कम एक पूर्व कोटि बतलाया है।[1]

एक सौ पचासी सागर तक निरन्तर बन्धने वाली प्रकृतियों के नाम इस प्रकार है – 'परघुस्सासे पणिदि तसचउगे'—पराघात, उच्छ्वास, पंचेन्द्रिय जाति और त्रसचतुष्क, कुल ये सात प्रकृतियां है। इन प्रकृतियो के अध्रुवबन्धिनी होने से कम-से-कम इनका निरन्तर बन्धकाल एक समय है। क्योंकि एक समय के बाद इनकी विपक्षी प्रकृतिया इनका स्थान ले लेती है तथा उत्कृष्ट निरन्तर बन्धकाल एकसौ पचासी सागर है।

यद्यपि गाथा में उक्त सात प्रकृतियो के निरन्तर बन्ध के उत्कृष्ट समय को एक सौ पचासी सागर बताया है और पंचसंग्रह मे भी इसी प्रकार कहा है। लेकिन इसके साथ चार पल्य अधिक और जोड़ना चाहिये।[2] क्योंकि इनकी प्रतिपक्षी प्रकृतियों का जितना अबन्धकाल होता है उतना ही इनका बन्धकाल है। गाथा ५६ में इनकी प्रतिपक्षी स्थावरचतुष्क आदि प्रकृतियों का उत्कृष्ट अबन्धकाल चार पल्य अधिक एकसौ पचासी सागरोपम बतलाया है, अतः इनका बन्ध-

---

१ देशोनपूर्वकोटिभावनात्वेपा – इह किल कोऽपि पूर्वकोट्यायुष्को गर्भस्थो नवमासान सातिरेकान् गमयति, जातोऽप्यष्टौ वर्षाणि यावद् देशविरतिं सर्वविरतिं वा न प्रतिपद्यते, वर्षाष्टकादधो वर्तमानस्य सर्वस्यापि तथास्वाभाव्यात् देशतः सर्वतो वा विरतिप्रतिपत्तेरभावात्।

—पंचसंग्रह मलयगिरि टीका, पृ० ७६

२ इह च 'सचतुःपल्यम' इति अनिर्देशेऽपि 'सचतुःपल्यम्' इति व्याख्यान कार्यम्। यतो यावानतेद्विपक्षस्याबन्धकालस्तावानेवासा बन्धकाल इति। पंचसंग्रहादौ च उपलक्षणादिना केनचित् कारणेन यन्नोक्त तदभिप्राय न विद्म इति।

—पंचम कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० ६०

काल उतना ही समझना चाहिये। क्योकि उनके अवन्धकाल मे ही इनका वन्ध हो सकता है। इस समयप्रमाण को इस प्रकार समझना चाहिए कि—

कोई जीव वाईस सागर प्रमाण स्थितिवंध करके छठे नरक में उत्पन्न हुआ, वहां पराघात आदि इन सात प्रकृतियों की प्रतिपक्षी प्रकृतियो का वन्ध न होने से इन सात प्रकृतियो का निरन्तर बन्ध किया और अंतिम समय में सम्यक्त्व को प्राप्त करके मनुष्यगति मे जन्म लिया। यहाँ अणुव्रतों का पालन करके चार पल्य की स्थिति वाले देवों मे जन्म लिया और सम्यक्त्व सहित मरण करके पुनः मनुष्य हुआ और महाव्रत धारण करके मरकर नौवे ग्रैवेयक मे इकतीस सागर की आयु वाला देव हुआ। वहा मिथ्यादृष्टि होकर मरते समय पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त करके मनुष्य हुआ। वहा से तीन बार मर-मरकर अच्युत स्वर्ग में जन्म लिया और इस प्रकार छियासठ सागर पूर्ण किये। अन्तर्मुहूर्त के लिए तीसरे मिश्र गुणस्थान में आया और उसके वाद पुनः सम्यक्त्व प्राप्त किया और दो वार विजयादिक में जन्म लेकर छियासठ सागर पूर्ण किये। इस प्रकार छठे नरक वगैरह मे भ्रमण करते हुए जीव को कही भवस्वभाव से और कही सम्यक्त्व के कारण पराघात आदि प्रकृतियो का वन्ध होता रहता है।

शुभ विहायोगति, पुरुषवेद, सुभगत्रिक, उच्चगोत्र और समचतुरस्र संस्थान इन सात प्रकृतियों का उत्कृष्ट निरंतर वन्धकाल एकसौ वत्तीस[1]

---

1 पचसग्रह की टीका मे इन प्रकृतियो का निरन्तर वन्धकाल तीन पल्य अधिक एक सौ वत्तीस सागर वतलाया है। वहा कहा है कि तीन पल्य की आयु वाला तिर्यंच अथवा मनुष्य भव के अंत मे सम्यक्त्व को प्राप्त करके पहले वताये हुये क्रम से १३२ सागर तक ससार मे भ्रमण करता है।

सागर है। अध्रुववन्धिनी प्रकृतिया होने से इनका जघन्य वन्धकाल एक समय है लेकिन उत्कृष्ट वन्धकाल एकसौ वत्तीस सागर होने का कारण यह है कि गाथा ५७ में इनकी विपक्षी प्रकृतियो का उत्कृष्ट अवन्धकाल एकसौ वत्तीस सागर वतालाया है, अतः इनका वन्धकाल उसी क्रम से उतना ही समझना चाहिये।

एक समय स लेकर अन्तमुर्हूर्त तक वन्धने वाली इकतालीस प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—

अशुभ विहायोगति, अशुभ जातिचतुष्क (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), वज्रऋषभनाराच संहनन को छोड़कर शेप ऋपभनाराच आदि पाच अशुभ संहनन, न्यग्रोधपरिमण्डल आदि पांच अशुभ संस्थान, आहारकद्विक, नरकद्विक, उद्योतद्विक, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति, स्थावर दशक, नपुसकवेद, स्त्रीवेद, युगलद्विक, (हास्य-रति और शोक-अरति) और असाता वेदनीय।

उक्त इकतालीस प्रकृतियों का निरन्तर वन्धकाल कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक अन्तमुर्हूर्त वतलाया है। ये प्रकृतियाँ अध्रुववन्धिनी है अतः अपनी-अपनी विरोधी प्रकृतियो की वन्धयोग्य सामग्री के होने पर इनका अन्तमुर्हूर्त के पश्चात् वन्ध रुक जाता है। इन इकतालीस प्रकृतियो के निरन्तर वन्ध होने के उत्कृष्ट काल को अन्तमुर्हूर्त मानने का कारण यह है कि साता वेदनीय, रति, हास्य, स्थिर, शुभ और यशःकीर्ति की विरोधिनी प्रकृतिया असाता वेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्ति का वन्ध छठे गुणस्थान तक होता है, अतः वहाँ तक तो इनका निरन्तर वन्ध अन्तमुर्हूर्त तक होता है किन्तु उसके वाद के गुणस्थानो में भी इनका वन्धकाल अन्तमुर्हूर्त है, क्योंकि उन गुणस्थानों का काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

मनुष्यद्विक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी), तीर्थंकर नाम, वज्रऋषभ-नाराच संहनन, औदारिक अंगोपाग का निरन्तर बंधकाल उत्कृष्ट से तेतीस सागर है। क्योंकि अनुत्तरवासी देवों के मनुष्यगति के योग्य प्रकृतियों का ही बंध होता है। जिससे वे अपने जन्म-समय से लेकर तेतीस सागर की आयु तक उक्त प्रकृतियो की विरोधिनी नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, देवद्विक, वैक्रियद्विक, पांच अशुभ संहनन ऋषभनाराच आदि का बंध नही करते है। तीर्थंकर प्रकृति की कोई विरोधिनी प्रकृति नही है, अतः उसका भी तेतीस सागर तक वरावर बंध होता है।

मनुष्यद्विक आदि उक्त पाच प्रकृतियो मे से तीर्थंकर प्रकृति के सिवाय चार प्रकृतियों का जघन्य बंधकाल एक समय है, क्योकि उनकी विरोधिनी प्रकृतियाँ है।

सामान्यत यह वताया गया है कि अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का जघन्य बंधकाल एक समय है। लेकिन कुछ प्रकृतियों के जघन्य बंध-काल में विशेषता होने से ग्रन्थकार ने संकेत किया है कि 'लहू वि आउ-जिणे'—चार आयुकर्मों और तीर्थंकर नामकर्म का जघन्य बंधकाल भी अन्तर्मुहूर्त है। अर्थात् तीर्थंकर नामकर्म और नरकायु आदि चार आयु, कुल पांच प्रकृतियों का उत्कृष्ट और जघन्य बंधकाल अन्तर्मुहूर्त ही है। न कि जघन्य बंधकाल एक समय और उत्कृष्ट बंधकाल अन्त-मुहूर्त है।

आयुकर्म के बंधकाल के बारे में पहले बता चुके है कि एक भव में एक बार ही आयु का बंध होता है और वह भी अन्तर्मुहूर्त के लिये ही होता है। तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य बंध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण इस प्रकार समझना चाहिए कि कोई जीव तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके उपशम श्रेणि चढा, वहा नौवे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक तीर्थंकर प्रकृति का बंध नही किया क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति के बंध

आठवें गुणस्थान के छठे भाग में ही हो जाता है। पुनः उपशम श्रेणि से गिरकर अन्तमुहूर्त तक तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके वह जीव उपशम श्रेणि चढा और वहां उसका अवन्धक हुआ। उस समय तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य बंधकाल अन्तमुहूर्त घटित होता है।

इस प्रकार से अध्रुवबंधिनी प्रकृतियो के निरन्तर[1] बंधकाल के कथन के साथ स्थितिबंध का विवेचन पूर्ण होता है। अब आगे रसबंध (अनुभाग बंध) का विवेचन करते है।

रसबध

बंध के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और रस इन चार भेदों मे से प्रकृतिबंध और स्थितिबंध का वर्णन करने के बाद अब रसबंध अथवा अनुभाग बंध का वर्णन करते है। सबसे पहले ग्रन्थकार शुभ और अशुभ प्रकृतियों के तीव्र और मंद अनुभाग बंध के कारणों को बतलाते है।

तिव्वो असुहसुहाणं संकेसविसोहिओ विवज्जयउ।
मंदरसो गिरिमहिरयजलरेहासरिसकसाएहिं ॥६३॥
चउठाणाई असुहा सुहन्नहा विग्घदेसघाइआवरणा।
पुमसजलणिगदुतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥६४॥

शब्दार्थ—तिव्वो—तीव्ररस, असुहसुहाणं—अशुभ और शुभ प्रकृतियो का, संकेसविसोहिओ—सक्लेश और विशुद्धि द्वारा, विवज्ज-

---

१ गो० कर्मकाड मे अध्रुववधिनी प्रकृतियो का सिर्फ जघन्य वन्धकाल ही वतलाया है—

अवरो भिण्णमुहुत्तो तित्थाहाराण सव्वआऊण।
समओ छावट्ठीण वधो तम्हा दुधा सेसा ॥ १२६

तीर्थंकर, आहारकद्विक और चार आयुओ के निरन्तर वध होने का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और शेप छियासठ प्रकृतियो के निरन्तर न्ध का जघन्य काल एक समय है।

यउ—विपरीतता से, **मंदरसो**—मदरस, **गिरिमहिरयजलरेहा**—पर्वत, पृथ्वी, रेती और जल की रेखा के, **सरिस**—समान, **कसाएहिं**—कषाय द्वारा।

चउठाणाई—चतु:स्थानादि, **असुहा**—अशुभ प्रकृतियो मे, **सुहन्नहा**—शुभ प्रकृतियो मे विपरीतता से, **विग्घदेसघाइआवरणा**—अन्तराय और देशघाती आवरण प्रकृतिया, **पुमसंजलण**—पुरुषवेद और संज्वलन कषाय, **इगदुतिचउठाणरसा**—एक, दो, तीन, चार स्थानिक रसयुक्त, **सेसा**—वाकी की प्रकृतिया, **दुगमाइ**—दो आदि स्थानिक रसयुक्त।

गाथार्थ—अशुभ और शुभ प्रकृतियों का तीव्र रस अनुक्रम से संक्लेश और विशुद्धि के द्वारा वंधता है। पर्वत, पृथ्वी, रेती और पानी में की गई रेखा के समान कषाय द्वारा—

अशुभ प्रकृतियों में चतु:स्थानिक आदि रस होता है और शुभ प्रकृतियों में विपरीतता द्वारा चतु:स्थानिक आदि रस होता है। पाच अन्तराय, देशघाती आवरण करने वाली प्रकृतियां, पुरुषवेद और संज्वलन कषाय चतुष्क, ये प्रकृतियां एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानक और चारस्थानिक रसयुक्त और वाकी की प्रकृतिया द्विस्थानिक आदि तीन प्रकार के रसयुक्त वंधती है।

विशेषार्थ—लोक मे कार्मण वर्गणाये व्याप्त है। इन कर्म परमाणुओं मे जीव के साथ वंधने से पहले किसी प्रकार का रस—फलजनन शक्ति नहीं रहती है। किन्तु जव वे जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते है तव ग्रहण करने के समय में ही जीव के कषाय रूप परिणामो का निमित्त पाकर उनमें अनंतगुणा रस पड जाता है जो अपने विपाकोदय मे उस-उस रूप मे अपना-अपना फल देकर जीव के गुणो का घात करते है।

इसीलिए बंध को प्राप्त कर्म पुद्गलों में फल देने की जो शक्ति होती है, उसे रसबंध अथवा अनुभाग बंध कहते है। इसको अब उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते है—जैसे सूखा घास नीरस होता है, लेकिन ऊंटनी, भैस, गाय और बकरी के पेट में पहुँचकर वह दूध के रूप में परिणत होता है तथा उसके रस में चिकनाई की हीनाधिकता देखी जाती है। अर्थात् उसी सूखे घास को खाकर ऊंटनी खूब गाढा दूध देती है और उसमे चिकनाई भी बहुत अधिक होती है। भैस के दूध मे उससे कम गाढापन और चिकनाई रहती है। गाय के दूध में उससे भी कम गाढा-पन और चिकनाई है तथा बकरी के दूध में गाय के दूध से भी कम गाढापन व चिकनाई होती है। इस प्रकार जैसे एक हो प्रकार का घास भिन्न-भिन्न पशुओ के पेट में जाकर भिन्न-भिन्न रस रूप परिणत होता है, उसी प्रकार एक ही प्रकार के कर्म परमाणु भिन्न-भिन्न जीवो के भिन्न-भिन्न कषाय रूप परिणामो का निमित्त पाकर भिन्न-भिन्न रस वाले हो जाते है। जो यथासमय अपना फल देते है।

जैसे ऊंटनी के दूध में अधिक शक्ति होती है और बकरी के दूध में कम। वैसे ही शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार की प्रकृतियो का अनु-भाग तीव्र भी होता है और मंद भी। अर्थात् अनुभाग बंध के दो प्रकार है—तीव्र अनुभाग बंध और मंद अनुभाग बंध। ये दोनो प्रकार के अनुभाग बंध शुभ प्रकृतियों मे भी होते है और अशुभ प्रकृतियो में भी। इसीलिये ग्रन्थकार ने अनुभाग बंध का वर्णन शुभ और अशुभ प्रकृतियों के तीव्र और मंद अनुभाग बंध के कारणों को बतलाते हुए प्रारंभ किया है।

अशुभ और शुभ प्रकृतियों के तीव्र और मंद अनुभाग बंध होने के कारणों को बतलाते हुए कहा है कि संक्लेश परिणामो से अशुभ यों मे तीव्र अनुभाग बंध होता है और विशुद्ध भावों से शुभ

प्रकृतियो मे तीव्र अनुभाग बंध होता है तथा इससे विपरीत भावो से मंद अनुभाग बंध होता है अर्थात् विशुद्ध भावों से अशुभ प्रकृतियो मे मंद अनुभाग बंध तथा संक्लेश भावो से शुभ प्रकृतियों में मंद अनुभाग बंध होता है।

अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग को नीम वगैरह के कड़ुवे रस की उपमा और शुभ प्रकृतियो के अनुभाग को ईख के रस की उपमा दी जाती है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि जैसे नीम का रस कटुक होता है, वैसे ही अशुभ प्रकृतियो को अशुभ फल देने के कारण उनका रस बुरा समझा जाता है। ईख का रस मीठा और स्वादिष्ट होता है, वैसे ही शुभ प्रकृतियों का रस सुखदायक होता है।

अशुभ और शुभ दोनो ही प्रकार की प्रकृतियों के तीव्र और मंद रस की चार-चार अवस्थाये होती है। जिनका प्रथम कर्मग्रन्थ की गाथा २ की व्याख्या मे संकेत मात्र किया गया है। यहां कुछ विशेष रूप मे कथन करते है।

तीव्र और मंद रस की अवस्थाओ के चार-चार प्रकार इस तरह है—१ तीव्र, २ तीव्रतर, ३ तीव्रतम, ४ अत्यन्त तीव्र और १ मंद, २ मंदतर, ३ मंदतम और अत्यन्त मंद। यद्यपि इसके असंख्य प्रकार है यानी एक-एक के असंख्य प्रकार जानना चाहिये लेकिन उन सबका समावेश इन चार स्थानो मे हो जाता है। इन चार प्रकारो को क्रमशः एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक कहा जाता है। अर्थात् एकस्थानिक से तीव्र या मंद, द्विस्थानिक से तीव्रतर या मंदतर, त्रिस्थानिक से तीव्रतम या मंदतम और चतुःस्थानिक मे अत्यन्त तीव्र या अत्यन्त मंद का ग्रहण करना चाहिये। इनको इस तरह समझना चाहिये कि जैसे नीम का तुरन्त निकला हुआ रस स्वभाव से ही कटुक होता है जो उसकी तीव्र अवस्था है। जब उस रस

को अग्नि पर पकाने से सेर का आधा सेर रह जाता है तो वह कटुकतर हो जाता है, यह अवस्था तीव्रतर है। सेर का तिहाई रहने पर कटुकतम हो जाता है, यह तीव्रतम अवस्था है और जब सेर का पाव भर रह जाता है जो अत्यन्त कटुक है, यह अत्यन्त तीव्र अवस्था होती है। यह अशुभ प्रकृतियों के तीव्र रस (अनुभाग) की चार अवस्थाओं का दृष्टान्त है। शुभ प्रकृतियो के तीव्र रस की चार अवस्थाओ का दृष्टान्त इस प्रकार है—जैसे ईख के पेरने पर जो स्वाभाविक रस निकलता है, वह स्वभाव से मधुर होता है। उस रस को आग पर पका कर सेर का आधा सेर कर लिया जाता है तो वह मधुरतर हो जाता है और सेर का एक तिहाई रहने पर मधुरतम और सेर का पाव भर रहने पर अत्यन्त मधुर हो जाता है। इस प्रकार तीव्र रस की चार अवस्थाओ को समझना चाहिये।

अब मंद रस की चार अवस्थाओं को स्पष्ट करते है। जैसे नीम के कटुक रस या ईख के मधुर रस मे एक चुल्लू पानी डाल देने पर वह मंद हो जाता है। एक गिलास पानी डालने पर मंदतर, एक लोटा पानी डालने पर मन्दतम तथा एक घड़ा पानी डालने पर अत्यन्त मंद हो जाता है। इसी प्रकार अशुभ और शुभ प्रकृतियों के मंद रस की मंद, मंदतर, मन्दतम और अत्यन्त मंद अवस्थाये समझना चाहिये।

इस तीव्रता और मंदता का कारण कषाय की तीव्रता और मंदता है। तीव्र कषाय से अशुभ प्रकृतियों में तीव्र और शुभ प्रकृतियों में मंद अनुभाग बंध होता है और मंद कषाय से अशुभ प्रकृतियों मे मंद और शुभ प्रकृतियो मे तीव्र अनुभाग बंध होता है। अर्थात् संक्लेश परिणामो की वृद्धि और विशुद्ध परिणामो की हानि से अशुभ प्रकृतियो का तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्त तीव्र तथा शुभ प्रकृतियां का मंद, मंदतर, मंदतम और अत्यन्त मंद अनुभाग बंध होता है और विशुद्ध परिणामो की वृद्धि तथा सक्लेश परिणामो की हानि से शुभ प्रकृतियो

का तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्त तीव्र अनुभाग बंध होता है तथा अशुभ प्रकृतियों का मंद, मंदतर, मंदतम और अत्यन्त मंद अनुभाग बंध होता है।

अब तीव्र और मंद अनुभाग बंध के उक्त चार-चार भेदों के कारणों का निर्देश करते है कि 'गिरिमहिरयजलरेहासरिसकसाएहिं'—पर्वत की रेखा के समान, पृथ्वी की रेखा के समान, धूलि की रेखा के समान और जल की रेखा के समान कषाय परिणामों से क्रमशः अत्यन्त तीव्र (चतुःस्थानिक), तीव्रतम (त्रिस्थानिक), तीव्रतर (द्विस्थानिक) और तीव्र (एकस्थानिक) अनुभाग बंध होता है। यह संकेत अशुभ प्रकृतियों की अपेक्षा से किया गया है और शुभ प्रकृतियों में इसके विपरीत समझना चाहिये। अर्थात् जल व धूलि रेखा के समान परिणामों से अत्यन्त तीव्र (चतुःस्थानिक), पृथ्वी की रेखा के समान परिणामों से तीव्रतम (त्रिस्थानिक) और पर्वत की रेखा के समान परिणामों से तीव्रतर (द्विस्थानिक) अनुभाग बंध होता है। शुभ प्रकृतियो में तीव्र (एकस्थानिक) रस बंध नही होता है, जिसका विशेप स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

पूर्व में यह बताया गया है कि अनुभाग बंध का कारण कपाय है और तीव्र, तीव्रतर आदि व मंद, मंदतर आदि चार-चार भेद अनुभाग बंध के ही है। इनका कारण हेतु काषायिक परिणामो की अवस्थायें है। कषाय के चार भेद है क्रोध, मान, माया और लोभ और इनमें से प्रत्येक की चार-चार अवस्थाये होती है। अर्थात् क्रोध कपाय की चार अवस्थाये होती है। इसी प्रकार मान की, माया की और लोभ की चार-चार अवस्थाये होती है। जिनके नाम क्रमशः अनन्तानुबंधी कपाय, अप्रत्याख्यानावरण कपाय, प्रत्याख्यानावरण कपाय और संज्वलन कषाय है। शास्त्रकारो ने इन चारों कपायों के लिये चार उपमाये दी है। जिनका संकेत गाथा में किया गया है। अनन्तानुबंधी कषाय

की उपमा पर्वत की रेखा से दी जाती है। जैसे पर्वत में पडी दरार सैकड़ों वर्ष वीतने पर भी नही मिटती है, वैसे ही अनन्तानुवंधी कषाय की वासना भी असंख्य भवों तक वनी रहती है। इस कषाय के उदय से जीव के परिणाम अत्यन्त संक्लिष्ट होते है और पाप प्रकृतियों का अत्यन्त तीव्र रूप चतु स्थानिक अनुभाग वंध करता है। किन्तु शुभ प्रकृतियों में केवल मधुरतर रूप द्विस्थानिक ही रसवंध करता है, क्योंकि शुभ प्रकृतियो मे एकस्थानिक रसबंध नही होता है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय को पृथ्वी की रेखा की उपमा दी जाती है। अर्थात् जैसे तालाब मे पानी सूख जाने पर जमीन मे दरारे पड़ जाती है और वे दरारे समय पाकर पुर जाती है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण कषाय होती है कि इस कषाय की वासना भी अपने समय पर शात हो जाती है। इस कषाय का उदय होने पर अशुभ प्रकृतियो मे भी त्रिस्थानिक रसबंध होता है और शुभ प्रकृतियो मे भी त्रिस्थानिक रसबंध होता है। अर्थात् कटुकतम और मधुरतम अनुभाग बंध होता है।

प्रत्याख्यानावरण कषाय को वालू या धूलि की रेखा की उपमा दी जाती है। जैसे वालू में खीची गई रेखा स्थायी नही होती है, जल्दी ही पुर जाती है। उसी तरह प्रत्याख्यानावरण कषाय की वासना को समझना चाहिए कि वह भी अधिक समय तक नही रहती है। उस कषाय का उदय होने पर पाप प्रकृतियो में द्विस्थानिक अर्थात् कटुकतर तथा पुण्य प्रकृतियों से चतुःस्थानिक रसवंध होता है।

संज्वलन कषाय की उपमा जलरेखा से दी जाती है। जैसे जल में खीची गई रेखा खीचने के साथ ही तत्काल मिटती जाती है, वैसे ही संज्वलन कषाय की वासना भी अन्तर्मुहूर्त में ही नष्ट हो जाती है। कषाय का उदय होने पर पुण्य प्रकृतियो में चतुःस्थानिक रसवंध,

होता है और पाप प्रकृतियों में केवल एकस्थानिक अर्थात् कटुक रूप ही रसवंध होता है।

इस प्रकार अनंतानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय से अशुभ प्रकृतियों में क्रमश. चतुःस्थानिक, त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक और एकस्थानिक रसबंध होता है तथा शुभ प्रकृतियो मे द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रसबन्ध होता है।

अनुभाग बंध के चारों प्रकारों के कारण चारो कषायों को बतलाकर अब किस प्रकृति मे कितने प्रकार का रसबन्ध होता है, यह स्पष्ट करते है।

बंधयोग्य १२० प्रकृतियो मे ८२ अशुभ प्रकृतियां और ४२ शुभ प्रकृतिया है।[1] इन ८२ पाप प्रकृतियो मे से अन्तराय कर्म की ५, ज्ञानावरण की केवलज्ञानावरण को छोड़कर शेष ४, दर्शनावरण की केवलदर्शनावरण को छोडकर चक्षुदर्शनावरण आदि ३, संज्वलन कषाय चतुष्क और पुरुषवेद इन सत्रह प्रकृतियों मे एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक, इस प्रकार चारो ही प्रकार का रसबंध होता है।[2] क्योंकि ये सत्रह प्रकृतिया देशघातिनी है। घाति कर्मों की जो सर्वघातिनी प्रकृतिया है उनके तो सभी स्पर्धक सर्वघाती ही है किन्तु देशघाति प्रकृतियो के कुछ स्पर्धक सर्वघाती होते है और कुछ स्पर्धक देशघाती। जो स्पर्धक त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रस वाले होते है

---

१ वर्णचतुष्क को पुण्य और पाप दोनो रूप होने से दोनो मे ग्रहण किया जाता है। जब उन्हे पुण्य प्रकृतियो मे ग्रहण करे तब पाप प्रकृतियो मे और पाप प्रकृतियो मे ग्रहण करें तब पुण्य प्रकृतियो मे ग्रहण नहीं करना चाहिये।

२ आवरणदेसघादंतरायसंजलणपुरिससत्तरसं।
चदुविधभावपरिणदा तिविधा भावा हु सेसाणं ।

—गो०

वे तो नियम से सर्वघाती ही होते है और जो स्पर्धक द्विस्थानिक रस वाले होते है, वे देशघाती भी होते है और सर्वघाती भी, किन्तु एक-स्थानिक रस वाले स्पर्धक देशघाती ही होते है।[1] इसीलिये इन सत्रह प्रकृतियों का एक, द्वि, त्रि और चतुःस्थानिक, चारों प्रकार का रसबंध माना जाता है। इनका एकस्थानिक रसबन्ध तो नौवे गुणस्थान के संख्यात भाग बीत जाने पर बंधता है और नौवे अनिवृत्तिबादर गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानों में द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थनिक रस-बंध होता है किन्तु एकस्थानिक रसबन्ध नही होता है। क्योंकि शेष प्रकृतियो में ६५ पाप प्रकृतियाँ है और नौवें गुणस्थान के संख्यात भाग बीत जाने पर उनका बन्ध नही होता है। अर्थात् अशुभ प्रकृतियो का एकस्थानिक रसबन्ध नौवे अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के संख्यात भाग के बीत जाने के बाद ही होता है और वहा अन्तराय आदि की उक्त १७ प्रकृतियों को छोड़कर शेष अशुभ प्रकृतियों का बन्ध ही नही होता है। इसीलिये शेष ६५ प्रकृतियो का एकस्थानिक रसबन्ध नही होता है। इन ६५ प्रकृतियों में केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का भी समावेश है। लेकिन इन दोनो प्रकृतियों के बारे में यह समझना चाहिये कि इनका बन्ध दसवे गुणस्थान तक होता है, किन्तु इनके सर्व-घातिनी होने से इनमे एकस्थानिक रसबन्ध नही होता है।

शेष ४२ पुण्य प्रकृतियो में भी एकस्थानिक रसबंध नही होता है। इसका कारण यह है कि जैसे ऊपर चढ़ने के लिये जितनी सीढियाँ चढनी पड़ती है, उतारने के लिये उतनी ही सीढिया उतरनी होती है। वैसे ही संक्लिष्ट परिणामी जीव जितने संक्लेश के स्थानों पर चढता

---

१ चउतिट्ठाणरसाइ सव्वविघाइणि होंति फड्डाइ।
दुट्ठाणियाणिमीसाणि देसघाईणि सेसाणि ॥

—पंचसंग्रह १४६

है, विशुद्ध भावों के होने पर उतने ही स्थानों से उतरता है तथा उपशम श्रेणि चढते समय जितने विशुद्धिस्थानो पर चढता है, गिरते समय उतने ही संक्लेशस्थानों पर उतरता है। इस प्रकार से तो जितने संक्लेश के स्थान, उतने ही विशुद्धि के स्थान है। किन्तु जब क्षपक श्रेणि की दृष्टि से विचार करते है तो विशुद्धि के स्थान संक्लेश के स्थानो से अधिक है। क्योकि क्षपक श्रेणि चढने वाला जीव जिन विशुद्धिस्थानो पर चढता है, उन से नीचे नही उतरता है, यदि उन विशुद्धि के स्थानों के बराबर संक्लेशस्थान भी होते तो उपशम श्रेणि के समान क्षपक श्रेणि में जीव का पतन अवश्य होता, किंतु ऐसा होता नही है, क्षपक श्रेणि पर आरोहण करने के बाद जीव नीचे नही आता है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि क्षपक श्रेणि में विशुद्धि के स्थानों की संख्या अधिक है और संक्लेशस्थानों की संख्या विशुद्धि के स्थानों की अपेक्षा कम। विशुद्धिस्थानो के रहते हुए शुभ प्रकृतियों का केवल चतु:स्थानिक ही रसबंध होता है तथा अत्यन्त संक्लेश स्थानों के रहने पर शुभ प्रकृतियों का बंध ही नही होता है। कोई जीव अत्यन्त संक्लेश के समय नरकगति योग्य वैक्रिय शरीर आदि शुभ प्रकृतियों का बंध करते है, किंतु उनके भी भवस्वभाव के कारण उस समय द्विस्थानिक ही रसबंध होता है तथा मध्यम परिणामो से बंधने वाली शुभ प्रकृतियो में भी द्विस्थानिक रसबंध होता है। अतएव शुभ प्रकृतियों में कही भी एकस्थानिक रसबंध नही होता है।

इस प्रकार से अनुभाग बंध के स्थानों और उनके कारण कषायस्थानों को तथा कितनी प्रकृतियों का चारों स्थानिक वाला बंध होता है, आदि को बतलाकर पुनः शुभ और अशुभ रस का विशेष स्वरूप कहते हैं।

निबुच्छुरसो सहजो दुतिचउभाग ... ॥७२॥
इगठाणाई असुहो असुहाण सुहो सुहाणं तु

शब्दार्थ—**निंबुच्छुरसो**—नीम और ईख का रस, **सहजो**—स्वाभाविक, **दुतिचउभागकड्ढि**—दो, तीन और चार भाग मे उबाले जाने पर, **इक्कभागंतो**—एक भाग शेष रहे वह, **इगठाणाई**—एकस्थानिक आदि, **असुहो**—अशुभ रस, **असुहाणं**—अशुभ प्रकृतियो का, **सुहो**—शुभ रस, **सुहाण**—शुभ प्रकृतियो का, **तु**—और।

गाथार्थ—नीम और ईख का स्वाभाविक रस तथा उसको दो, तीन, चार भाग मे उबाले जाने पर एक भाग शेष रहे, उसे अशुभ प्रकृतियो का एकस्थानिक आदि अशुभ रस और शुभ प्रकृतियों का शुभ रस जानना चाहिये।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में अनुभाग बंध के एकस्थानिक, द्विस्थानिक आदि चार भेद बतलाये है। उनका विशेप स्पष्टीकरण करने के साथ-साथ शुभ और अशुभ प्रकृतियों के स्वभाव का भी संकेत यहा किया गया है।

अशुभ प्रकृतियों को नीम और उनके रस को नीम के रस की तथा शुभ प्रकृतियो को ईख तथा उनके रस को ईख के रस की उपमा दी है। जैसे नीम का रस स्वभाव से ही कडुआ होने से पीने वाले के मुख को कड़ुवाहट से भर देता है, वैसे ही अशुभ प्रकृतियो का रस भी अनिष्टकारक और दुःखदायक है तथा जैसे ईख स्वभावत मीठा और उसका रस मधुर, आनन्ददायकहोता है, वैसे ही शुभ प्रकृतियो का रस भी जीवों को आनन्ददायक होता है।

यह तो सामान्यतया वतलाया गया है कि नीम और ईख के पेरने पर उनमे से निकलने वाला स्वाभाविक रस स्वभावत कडुवा और मीठा होता है। इस कड़ुवेपन और मीठेपन को एकस्थानिक रस चाहिए। इस स्वाभाविक एकस्थानिक रस के द्विस्थानिक, निक और चतुःस्थानिक प्रकारो को क्रमशः इस प्रकार समझना

चाहिये कि नीम और ईख का एक-एक सेर रस लेकर उन्हे आग पर उबाला जाये और जलकर आधा सेर रह जाये तो वह द्विस्थानिक रस कहा जायेगा, क्योंकि पहले के स्वाभाविक रस से उस पके हुए रस में दूनी कड़ुवाहट और दूनी मधुरता आ गई। वही रस उबलने पर सेर का तिहाई रह जाता है तो त्रिस्थानिक रस समझना चाहिए, क्योंकि उसमे पहले के स्वाभाविक रस से तिगुनी कड़ुवाहट या तिगुनी मधुरता आ गई है। वही रस जब उबलने पर एक सेर का पाव भर रह जाता है तो वह चतुःस्थानिक रस है, क्योकि पहले के स्वाभाविक रस से उसमें चौगुनी कड़ुवाहट और चौगुना मीठापन पाया जाता है।

अब उक्त उदाहरण के आधार से अशुभ और शुभ प्रकृतियों में एकस्थानिक आदि को घटाते है। जैसे नीम के एकस्थानिक रस से द्विस्थानिक रस में दुगनी कड़ुवाहट होती है, त्रिस्थानिक मे तिगुनी कड़ुवाहट और चतुःस्थानिक मे चौगुनी कड़ुवाहट होती है, वैसे ही अशुभ प्रकृतियो के जो स्पर्धक सबसे जघन्य रस वाले होते है, वे एक-स्थानिक रस वाले कहे जाते है, उनसे द्विस्थानिक स्पर्धको में अनंत-गुणा रस होता है, उनसे त्रिस्थानिक स्पर्धको मे अनन्तगुणा रस और उनसे चतुःस्थानिक स्पर्धकों मे अनन्तगुणा रस होता है। इसी प्रकार शुभ प्रकृतियों में भी समझ लेना चाहिये कि एकस्थानिक से द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्थानो मे अनन्तगुणा शुभ रस होता है।

उक्त चारो स्थान अशुभ प्रकृतियो मे कषायो की तीव्रता बढने से और शुभ प्रकृतियो मे कषायों की मंदता बढने से होते है। कषायो की तीव्रता के बढने से अशुभ प्रकृतियो मे एकस्थानिक से लेकर चतुः-स्थानिक पर्यन्त रस पाया जाता है और कषायो की मंदता के बढने से शुभ प्रकृतियों में द्विस्थानिक से लेकर चतुःस्थानिक पर्यन्त रस पाया

जाता है। शुभ प्रकृतियों में एकस्थानिक रसबंध नही होता है।[1]

इस प्रकार से अनुभाग वंध का स्वरूप, उसके कारण और भेदो का वर्णन करके अव अनुभाग बन्ध के स्वामियों को वतलाते है। पहले उत्कृष्ट अनुभाग बंध के स्वामियों का कथन करते है।

तिव्वमिगथावरायव सुरमिच्छा विगलसुहुमनिरयतिग।
तिरिमणुयाउ तिरिनरा तिरिदुगछेवट्ठ सुरनिरया ॥६६॥

शब्दार्थ—**तिव्व**—तीव्र अनुभाग वंध, **इगथावरायव**—एकेन्द्रिय जाति, स्थावर और आतप नामकर्म का, **सुरमिच्छा**—मिथ्यादृष्टि देव, **विगलसुहुमनिरयतिगं**—विकलत्रिक, सूक्ष्मत्रिक और नरकत्रिक का, **तिरिमणुयाउ**—तिर्यंचायु और मनुष्यायु का, **तिरिनरा**—तिर्यच और मनुष्य, **तिरिदुगछेवट्ठ**—तिर्यचद्विक और सेवार्त सहनन का, **सुरनिरिया**—देव और नारक।

---

१ गो० कर्मकाड मे भी अनुभाग वध का वर्णन कर्मग्रन्थ के वर्णन से मिलता जुलता है, लेकिन कथनशैली भिन्न है। उसमे घातिकर्मो की शक्ति के चार विभाग किये है—लता, दारु, अस्थि और पत्थर (गा०-१८०)। जैसे ये चारो पदार्थ उत्तरोतर अधिक कठोर होते है, उसी प्रकार कर्मों की शक्ति समझना चाहिए। इन चारो विभागो के क्रमश. एक, द्वि, त्रि और चतु स्थानिक नाम दिये जा सकते है। इनमे लता भाग देशघाती है और दारु भाग का अनतवां भाग देशघाती और शेष वहुभाग सर्वघाती है। अस्थि और पत्थर भाग तो सर्वघाती ही है। अघातीकर्मों के पुण्य और पाप रूप दो विभाग करके पुण्य प्रकृतियो के गुड, खाड, शक्कर और अमृत रूप चार विभाग किये है और पाप प्रकृतियो मे नीम, कजीर, विप और हलाहल इस तरह चार विभाग किये है (गा० १८४)। इन वभागो को भी क्रमश. एक, द्वि, त्रि और चतु.स्थानिक नाम दिया जा

गाथार्थ—एकेन्द्रिय जाति, स्थावर और आतप नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बंध मिथ्यादृष्टि देव करते है। विकलेन्द्रियत्रिक, सूक्ष्मत्रिक, नरकत्रिक, तिर्यंचायु और मनुष्यायु का उत्कृष्ट अनुभाग बंध मिथ्यादृष्टि तिर्यच और मनुष्य करते है और तिर्यंचद्विक और सेवार्त संहनन का उत्कृष्ट अनुभाग वंध मिथ्यादृष्टि देव और नारक करते है।

विशेषार्थ—अनुभाग वंध के दो प्रकार है—उत्कृष्ट और जघन्य। अनुभाग वंध का स्वरूप समझाकर इस गाथा से उत्कृष्ट अनुभाग वंध के स्वामियो का कथन प्रारम्भ किया गया है। चारों गति के जीव कर्म वंध के साथ ही अपनी-अपनी काषायिक परिणति के अनुसार कर्मों मे यथायोग्य फलदान शक्ति का निर्माण करते है।

वंधयोग्य १२० प्रकृतियो में से किस गति और गुणस्थान वाले जीव उत्कृष्ट अनुभाग वंध करते है—को वतलाते हुए सर्वप्रथम कहा है कि 'तिव्वमिगथावरायव सुरमिच्छा'—एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम और आतप नाम इन तीन प्रकृतियों का मिथ्यादृष्टि देव[1] उत्कृष्ट अनुभाग वंध करते है। मिथ्यादृष्टि देवों को उक्त तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग वंध होने का कारण यह है कि नारक तो मरकर एकेन्द्रिय पर्याय मे जन्म नही लेते है, अतः उक्त प्रकृति का वंध ही नही होता तथा आतप प्रकृति के उत्कृष्ट अनुभाग वंध के लिये जितनी विशुद्धि की आवश्यकता है, उतनी विशुद्धि के होने पर मनुष्य और तिर्यंच पंचेन्द्रिय तिर्यंच मे जन्म लेने के योग्य अन्य शुभ प्रकृतियो का वंध

१ ईशान स्वर्ग तक के देवों का यहां ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि ईशान स्वर्ग तक के देव ही मरकर एकेन्द्रिय पर्याय मे जन्म ले सकते है, उसके ऊपर के देव एकेन्द्रिय पर्याय धारण नही करते है।

करते हैं और एकेन्द्रिय तथा स्थावर प्रकृति के उत्कृष्ट अनुभाग वंध के लिये जितने संक्लेश भावों की आवश्यकता है, उतना संक्लेश होने पर वे नरकगति के योग्य अशुभ प्रकृतियों का वंध करते है। किन्तु देवगति में उत्कृष्ट संक्लेश के होने पर भी नरकगति के योग्य प्रकृतियों का वंध भवस्वभाव से ही नही होता है। अतः नारक, मनुष्य और तिर्यंच उक्त तीन प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग वंध नही करते है, लेकिन ईशान स्वर्ग तक के देव ही उनका उत्कृष्ट अनुभाग वंध करते है।

विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त), नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु), तिर्यंचायु और मनुष्यायु इन ग्यारह प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग वंध मिथ्यादृष्टि तिर्यच और मनुष्य करते है—विगलसुहुमनिरयतिगं तिरिमणुयाउ तिरिनरा। इसका कारण यह है कि तिर्यचायु और मनुष्यायु के सिवाय शेष नौ प्रकृतियों को नारक और देव जन्म से ही नहीं बाधते है तथा तिर्यच और मनुष्य आयु का उत्कृष्ट अनुभाग वंध वे ही जीव करते है जो मरकर भोगभूमि मे जन्म लेते है, जिससे देव और नारक इन दो प्रकृतियो का भी उत्कृष्ट अनुभाग वन्ध नही कर सकते है। किन्तु उनका उत्कृष्ट अनुभाग वंध मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच ही करते है। इसी प्रकार शेप प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग भी अपने-अपने योग्य संक्लेश परिणामों के धारक मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच ही करते है। अतः उक्त ग्यारह प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग वंध मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंचों को होता है।

'तिरिदुगछेवट्ठ सुरनिरिया'—तिर्यचद्विक ओर सेवार्त संहनन इन तीन प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग वंध मिथ्यादृष्टि देव और नारक करते है। क्योकि यदि तिर्यंच और मनुष्यों मे उतने संक्लिष्ट परिणाम उनको नरकगति के योग्य प्रकृतियो का वंध होता है किन्तु देव

ौर नारक अति संक्लिष्ट परिणाम होने पर तिर्यंचगति के योग्य क्रृतियो का ही वंध करते है। इसीलिये उक्त तीन प्रकृतियो के त्कृष्ट अनुभाग वंध का स्वामी देवों और नारकों को वतलाया है।

उक्त प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभाग वंध होने के वारे में तना विशेष जानना चाहिये कि देवगति मे सेवार्त संहनन का उत्कृष्ट अनुभाग वंध ईशान स्वर्ग से ऊपर के सानत्कुमार आदि देव ही करते है। क्योकि ईशान स्वर्ग तक के देव अति संक्लिष्ट परिणामों के होने पर एकेन्द्रिय योग्य प्रकृतियो का ही वंध करते है, किन्तु सेवार्त संहनन एकेन्द्रिय योग्य नही है, क्योकि एकेन्द्रियो के संहनन नही होता है।

विउव्विसुराहारदुगं सुखगइ वन्नचउतेयजिणसायं।
समचउपरघातसदस पणिदिसासुच्च खवगाउ ॥६७॥
तमतमगा उज्जोयं सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइर।
अपमत्तो अमराउ चउगइमिच्छा उ सेसाणं ॥६८॥

शब्दार्थ—विउव्विसुराहारदुगं—वैक्रियद्विक, देवद्विक और आहारकद्विक का, सुखगई—शुभ विहायोगति, वन्नचउतेय—वर्णचतुष्क और तैजसचतुष्क, जिण—तीर्थंकर नामकर्म, सायं—साता वेदनीय का, समचउ—समचतुरस्र संस्थान, परघा—पराघात, तसदस—त्रसदशक, पणिदिसासुच्च—पचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास नामकर्म और उच्च गोत्र का, खवगाउ—क्षपक श्रेणि वाले को।

तमतमगा—तमःतमप्रभा के नारक, उज्जोयं—उद्योत नामकर्म का, सम्मसुरा—सम्यग्दृष्टि देव, मणुयउरलदुग—मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक, वइरं—वज्रऋषभनाराच संहनन का, अपमत्तो—अप्रमत्त यति, अमराउं—देवायु का, चउगइमिच्छा—चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव, उ—और, सेसाणं—शेष प्रकृतियों का।

गाथार्थ—वैक्रियद्विक, देवद्विक, आहारकद्विक, शुभ विहायोगति, वर्णचतुष्क, तैजसचतुष्क, तीर्थंकर नामकर्म, साता वेदनीय, समचतुरस्र संस्थान, पराघात, त्रसदशक, पंचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास और उच्च गोत्र का उत्कृष्ट अनुभाग बंध क्षपक श्रेणि चढ़ने वाले करते है।

तमःतमप्रभा के नारक जीव उद्योत नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बाधते है तथा सम्यग्दृष्टि देव मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक और वज्रऋषभनाराच संहनन का उत्कृष्ट अनुभाग बाधते है। शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग वंध चारो गति के मिथ्यादृष्टि जीव करते है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में पूर्व गाथा में वताई गई सत्रह प्रकृतियों के अलावा शेष रही प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग वंध के स्वामियो का कथन किया है। जिनमें कुछ प्रकृतियों का नामोल्लेख करके शेष प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग बंध का स्वामी चारो गति के मिथ्यादृष्टि जीवो को बतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

'विउव्विसुरा····सासुच्च' पद में वैक्रियद्विक से लेकर उच्छ्वास, उच्चगोत्र तक बत्तीस प्रकृतियो को ग्रहण किया गया है। जिनका उत्कृष्ट अनुभाग वंध क्षपक श्रेणि आरोहण करने वाले मनुष्यों को वतलाया है। उनमें से साता वेदनीय, उच्च गोत्र और त्रसदशक मे गर्भित यशःकीर्ति नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग वंध दसवे सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अन्त मे होता है। क्योकि इन तीन प्रकृतियों के वंधको मे वही सवसे विशुद्ध है और पुण्य प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग वंध विशुद्ध परिणामो से होता है।

उक्त तीन प्रकृतियों के सिवाय शेष उनतीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट ।। वंध आठवे अपूर्वकरण गुणस्थान के छठे भाग में देवगति के

योग्य प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति के समय होता है। इन उनतीस प्रकृतियो के बंधको में अपूर्वकरण क्षपक ही अति विशुद्ध होता है।

उक्त बत्तीस प्रकृतियो के नाम गुणस्थानों के क्रम से इस प्रकार है—

वैक्रियद्विक, देवद्विक, आहारकद्विक, शुभ विहायोगति, वर्णचतुष्क, तैजसचतुष्क (तैजस, कार्मणअगुरुलघु, निर्माण), तीर्थंकर, समचतुरस्र संस्थान, पराघात, यशःकीर्ति नामकर्म को छोडकर त्रसदशक में गर्भित त्रस, वादर, पर्याप्त आदि नौ प्रकृतियाँ, पंचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास, इन उनतीस प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभाग का वंध आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के छठे भाग मे देवगति योग्य प्रकृतियो के वंधविच्छेद के समय होता है।

साता वेदनीय, यशःकीर्ति नामकर्म और उच्च गोत्र इन तीन प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग वंध दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अंत मे होता है।

इस प्रकार से अभी तक १७ और ३२ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग वंध के स्वामियों का कथन करने के वाद अव शेष प्रकृतियो के वारे में विचार करते है—

'तमतमगा उज्जोयं' यानी तमःतमप्रभा नामक सातवे नरक के नारक उद्योत नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग वंध करते है। इसका कारण यह है कि सातवें नरक का नारक सम्यक्त्वप्राप्ति के लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करते समय अनिवृत्तिकरण में मिथ्यात्व का अंतरकरण करता है। उसके करने पर मिथ्यात्व की स्थिति के दो भाग हो जाते है—एक अन्तरकरण से नीचे की स्थिति का, जिसे प्रथम स्थिति कहते हैं और उसका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है तथा दूसरा उससे ऊपर की स्थिति का, जिसे द्वितीय स्थिति कहते है। मिथ्यात्व की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नीचे की स्थिति के अंतिम समय में यानी

आगे के समय में सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उस समय मे उस जीव के उद्योत प्रकृति का उत्कृष्ट अनुभाग वंध होता है। क्योकि यह उद्योत प्रकृति शुभ है और विशुद्ध परिणामो से ही उसका उत्कृष्ट अनुभाग वंध होता है तथा उसके बाधने वालों मे सातवे नरक का उक्त नारक ही अति विशुद्ध परिणाम वाला है। क्योंकि अन्य गतियों में इतनी विशुद्धि होने पर मनुष्यगति अथवा देवगति के योग्य प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग वंध होता है। उद्योत प्रकृति तिर्यंचगति के योग्य प्रकृतियों में से है और सातवें नरक का नारक मरकर नियम से तिर्यंच में जन्म लेता है, जिससे सातवे नरक का नारक मिथ्यात्व में प्रति-समय तिर्यंचगति योग्य कर्मों का बंध करता है।

मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक और वज्रऋषभनाराच संहनन, इन पाच प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध का स्वामी सम्यग्दृष्टि देवो को बतलाया है—सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइरं। यद्यपि इन पाच प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबंध विशुद्ध परिणाम वाले नारक भी कर सकते है, लेकिन वे नरक के दु.खों से पीड़ित रहने के कारण उतनी विशुद्धि प्राप्त नही कर पाते है तथा उनको देवों की तरह तीर्थंकरो की विभूति के दर्शन, उपदेशश्रवण, वंदन आदि परिणामों को विशुद्ध करने वाली सामग्री भी नही मिलती है, जिससे नारकों का ग्रहण नही किया गया है। तिर्यंच और मनुष्य तो अति विशुद्धि परिणाम वाले होने पर देवगति के योग्य प्रकृतियो का ही बन्ध करते है। इसीलिये इन प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभाग वन्ध का स्वामी सम्यग्दृष्टि देवो को बतलाया है।

देवायु के उत्कृष्ट अनुभाग वंध का स्वामी अप्रमत्त मुनि को बतलाया है। क्योकि यहा उत्कृष्ट अनुभाग वंध के स्वामियो को बतलाया जा रहा है, अतः देवायु का बन्ध करने वाले मिथ्यादृष्टि, अविरत दृष्टि, देशविरति आदि से वही अति विशुद्ध होते है।

इस प्रकार से ४२ पुण्य प्रकृतियों और १४ पाप प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग वंध के स्वामियों को तो अलग-अलग वतला दिया है। इनसे शेष रही ६८ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग वंध का स्वामी चारों गति के संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि जीवों को वतलाया है—चउगइमिच्छा उ सेसाणं ।[1]

समस्त वंधयोग्य प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग वंध के स्वामियों को वतलाकर अव उनके जघन्य अनुभाग वंध के स्वामियों को वतलाते है।

थीणतिग अणमिच्छ मंदरसं सजमुम्मुहो मिच्छो ।
वियतियकसाय अविरय देस पमत्तो अरइसोए ॥६९॥

शब्दार्थ—**थीणतिग**—स्त्यानर्द्धित्रिक, **अणमिच्छं**—अनतानुवधी कषाय और मिथ्यात्व मोहनीय का, **मंदरसं**—जघन्य अनुभाग वंध **सजमुम्मुहो**—सम्यक्त्व चरित्र के अभिमुख, **मिच्छो**—मिथ्यादृष्टि, **वियतियकसाय**—दूसरी और तीसरी कषाय का, **अविरय**—अविरत सम्यग्दृष्टि, **देस**—देशविरति, **पमत्तो**—प्रमत्तविरत, **अरइसोए**—अरति और शोक मोहनीय का ।

---

१ यहाँ सामान्य से ६८ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग वन्धक चारों गति के तीव्र कषायवन्त मिथ्यादृष्टि जीव वतलाये है। इसमें इतना विशेष समझना चाहिए कि हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, पहले और अन्तिम को छोड़कर शेष संहनन और संस्थान के सिवाय ५९ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग वंध तीव्र कषायी चारों गति के मिथ्यादृष्टि करते है और उक्त

गाथार्थ— स्त्यानर्द्धित्रिक, अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व मोहनीय का सम्यक्त्व सहित चारित्र प्राप्त करने के अभिमुख मिथ्यादृष्टि जघन्य अनुभाग बंध करते है। देशविरति चारित्र के सन्मुख हुआ अविरत सम्यग्दृष्टि दूसरी कषाय का और सर्वविरति चारित्र के सन्मुख होने वाला देशविरति तीसरी कषाय का और प्रमत्तसंयत अरति व शोक मोहनीय का जघन्य अनुभाग बंध करता है।

विशेषार्थ— उत्कृष्ट अनुभाग बंध के स्वामियो को बतलाकर इस गाथा से जघन्य अनुभाग बंध के स्वामियो का कथन प्रारम्भ करते है।

पूर्व में यह बतलाया गया है कि विशुद्ध परिणामो से अशुभ प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग बंध और संक्लेश परिणामों से शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध होता है। इस गाथा मे जिन प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध बतलाया है, वे सब अशुभ प्रकृतिया है। अतः उनका अनुभाग बंध करने वाले स्वामियो के लिये विशेषण दिया है— 'संजमुम्मुहो' संयम के अभिमुख मनुष्य जो गाथा में बताई गई अशुभ प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग बंध का स्वामी है।

गाथा में आये इस 'संजमुम्मुहो' पद को प्रत्येक के साथ लगाया जाता है अर्थात् जो संयम धारण करने के अभिमुख है—जो जीव तत्काल दूसरे समय में ही संयम धारण कर लेगा, उसके अपने-अपने उस गुणस्थान के अंतिम समय मे उस प्रकृति का जघन्य अनुभाग बंध होता है। यहा संयम के अभिमुख पद को प्रत्येक गुणस्थान के साथ जोड़कर आशय समझना चाहिये। जो इस प्रकार है—स्त्यानर्द्धित्रिक, अनंतानुबंधी कषायचतुष्क और मिथ्यात्व मोहनीय इन आठ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध सम्यक्त्व संयम के अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव गुणस्थान के अंतिम समय मे करता है। अप्रत्याख्यानावरण

कषायचतुष्क का जघन्य अनुभाग बंध संयम—देशसंयम के अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टि जीव अपने गुणस्थान के अन्त समय में करता है। प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का जघन्य अनुभाग बंध संयम अर्थात् सर्वविरति—महाव्रतो को धारण करने के सन्मुख देशविरति गुणस्थान वाला जीव अपने गुणस्थान के अंत समय में करता है तथा अरति व शोक का जघन्य अनुभाग बंध संयम अर्थात् अप्रमत्त संयम के अभिमुख प्रमत्त मुनि अपने गुणस्थान के अन्त मे करता है।[1] साराश यह है कि स्त्यानर्द्धित्रिक आदि आठ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध पहले गुण-स्थान वाला जब सम्यक्त्व के अभिमुख होकर चौथे गुणस्थान में जाता है तब पहले गुणस्थान के अन्तिम समय में करता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का जघन्य अनुभाग बंध पांचवे गुणस्थान—देशविरति

---

१ 'सजमुम्मुहु'त्ति सम्यक्त्वसयमाभिमुख' सम्यक्त्वसामायिक प्रतिपित्सु ''। अप्रत्याख्यानावरणलक्षणस्य अविरत सम्यग्दृष्टि सयमाभिमुख—देश-विरतिसामायिक प्रतिपित्सुर्मन्दरस वध्नाति। तथा तृतीयकषायचतुष्ट-यस्य देशविरति' 'सयमोन्मुख:''''सर्वविरतिसामायिक प्रतिपित्सुर्मन्द-रस बध्नाति। तथा 'प्रमत्तयति सयमोन्मुख —अप्रमत्तसयम प्रतिपित्सु'—।

—पचम कर्मग्रन्थ टीका, पृ० ७१

कर्मप्रकृति पृ० १६० तथा पचसग्रह प्रथम भाग मे सयम का अर्थ सयम ही किया गया है। यथा—अष्टाना कर्मणा सम्यक्त्व सयम च युगपत्प्रतिपत्तुकामो मिथ्यादृष्टिश्चरमसमये जघन्यानुभागबंध-[illegible], [illegible]नावरणकषायाणामविरतसम्यग्दृष्टि सयम प्रतिपत्तु-[illegible] [illegible]नावरणानां देशविरत सर्वविरतिप्रतिपित्सुर्जघन्यानुभाग-[illegible]।

की ओर उन्मुख चौथा गुणस्थानवर्ती जीव चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय मे करता है। प्रत्याख्यानावरण कपायचतुष्क का जघन्य अनुभाग वंध पांचवे गुणस्थान से छठे गुणस्थान में जाता है तव पाचवे गुणस्थान के अन्तिम समय में तथा अरति और शोक इन दो प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वंध छठे गुणस्थान से सातवे गुणस्थान मे जाने वाला छठे गुणस्थान के अंतिम समय मे करता है। यानी आगे-आगे का गुणस्थान प्राप्त करने से पहले समय में स्त्यानर्द्धित्रिक आदि प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध होता है।

उक्त प्रकृतियो के जघन्य अनुभाग बंध होने के प्रसंग मे इतना और समझ लेना चाहिये कि यदि पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान में न जाकर पांचवें या छठे या सातवे गुणस्थान मे जाये, इसी तरह चौथे गुणस्थान से पाचवे में न जाकर छठे या सातवे गुणस्थान में जाये तो भी उनका जघन्य अनुभाग बंध होगा। क्योकि उक्त प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग वंध के लिये विशुद्ध परिणामो की आवश्यकता है और उस दशा में तो पहले से भी अधिक विशुद्ध परिणाम होते है। इसी से गाथा मे 'संजमुम्मुहो' पद दिया गया है। जिसका यह अर्थ है कि अमुक-अमुक गुणस्थान वाले संयम के भेदो मे से किसी भी संयम की ओर अभिमुख होते है तो उनको उक्त प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग वंध होता है।

अव आगे अन्य प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग वंध के स्वामियों को वतलाते है।

अपमाइ हारगदुगं दुनिद्दअसुवन्नहासरइकुच्छा।
भयमुवघायमपुव्वो अनियट्टी पुरिससंजलणे ॥७०॥

शब्दार्थ—अपमाइ—अप्रमत्त मुनि, हारगदुगं—आहारकद्विक, दुनिद्द—दो निद्रा, असुवन्न—अप्रशस्त वर्णचतुष्क, हासरइकुच्छा—हास्य, रति और जुगुप्सा, भय—भय, उवघाय—उपघात

नामकर्म का, **अपुव्वो**—अपूर्वकरण गुणस्थान वाला, **अनियट्टी**—अनिवृत्तिबादर गुणस्थान वाला, **पुरिस**—पुरुष वेद, **संजलणे**—संज्वलन कषाय का।

गाथार्थ—आहारकद्विक का जघन्य अनुभाग बंध अप्रमत्त मुनि करते हैं। दो निद्रा, अप्रशस्त वर्णचतुष्क, हास्य, रति, जुगुप्सा, भय और उपघात नामकर्म का अपूर्वकरण गुणस्थान वाले जघन्य अनुभाग बंध करते हैं और अनिवृत्तिबादर गुणस्थानवर्ती पुरुष वेद, संज्वलन कषाय का जघन्य अनुभाग बंध करते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में आहारकद्विक आदि प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग बंध के स्वामियों को बतलाते हैं।

सर्वप्रथम आहारकद्विक के बारे में कहते हैं कि 'अपमाइ हारगदुगं' आहारकद्विक (आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग) का जघन्य अनुभाग बंध अप्रमत्त मुनि—सातवें अप्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती मुनि करते हैं। लेकिन कब करते हैं, इसका स्पष्टीकरण यह है कि आहारकद्विक यह प्रशस्त प्रकृतियां हैं अतः इनका जघन्य अनुभाग बंध अप्रमत्त-मुनि उस समय करते हैं जब वे छठे प्रमत्त संयत गुणस्थान के अभिमुख होते हैं। यानि सातवें गुणस्थान से छठे गुणस्थान की ओर अवरोहण करने की स्थिति में होते हैं तब उनके परिणाम संक्लिष्ट होते हैं और उस स्थिति में आहारकद्विक का जघन्य अनुभाग बंध करते हैं।

निद्राद्विक (निद्रा और प्रचला), अशुभ वर्णचतुष्क, (अशुभ वर्ण, अशुभ गंध, अशुभ रस, अशुभ स्पर्श) तथा हास्य, रति, जुगुप्सा, भय और उपघात, इन ग्यारह प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती तथा पुरुष वेद और संज्वलन कषाय का जघन्य अनुभाग बंध अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थान वाले करते हैं। यहां ये दोनों

की ओर उन्मुख चौथा गुणस्थानवर्ती जीव चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय मे करता है। प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का जघन्य अनुभाग बंध पाचवे गुणस्थान से छठे गुणस्थान में जाता है तब पाचवे गुणस्थान के अन्तिम समय में तथा अरति और शोक इन दो प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध छठे गुणस्थान से सातवे गुणस्थान में जाते वाला छठे गुणस्थान के अंतिम समय में करता है। यानी आगे-आगे का गुणस्थान प्राप्त करने से पहले समय मे स्त्यानर्द्धित्रिक आदि प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध होता है।

उक्त प्रकृतियो के जघन्य अनुभाग बंध होने के प्रसंग में इतना और समझ लेना चाहिये कि यदि पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान में न जाकर पाचवे या छठे या सातवे गुणस्थान में जाये, इसी तरह चौथे गुणस्थान से पाचवे में न जाकर छठे या सातवें गुणस्थान मे जाये तो भी उनका जघन्य अनुभाग बंध होगा। क्योंकि उक्त प्रकृतियो के जघन्य अनुभाग बंध के लिये विशुद्ध परिणामो की आवश्यकता है और उस दशा में तो पहले से भी अधिक विशुद्ध परिणाम होते है। इसी से गाथा में 'संजमुम्मुहो' पद दिया गया है। जिसका यह अर्थ है कि अमुक-अमुक गुणस्थान वाले संयम के भेदों मे से किसी भी संयम की ओर अभिमुख होते है तो उनको उक्त प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग बंध होता है।

अब आगे अन्य प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग बंध के स्वामियो को बतलाते है।

अपमाइ हारगदुगं दुनिद्दअसुवन्नहासरइकुच्छा।
भयमुवघायमपुव्वो अनियट्टी पुरिससंजलणे ॥७०॥

शब्दार्थ—अपमाइ—अप्रमत्त मुनि, हारगदुगं—आहारकद्विक, दुनिद्द—दो निद्रा, असुवन्न—अप्रशस्त वर्णचतुष्क, हासरइकुच्छा—हास्य, रति और जुगुप्सा, भय—भय, उवघाय—उपघात

नामकर्म का, अपुव्वो—अपूर्वकरण गुणस्थान वाला, अनियट्टी—अनिवृत्तिवादर गुणस्थान वाला, पुरिस—पुरुष वेद, संजलणे—सञ्ज्वलन कषाय का।

गाथार्थ—आहारकद्विक का जघन्य अनुभाग बंध अप्रमत्त मुनि करते है। दो निद्रा, अप्रशस्त वर्णचतुष्क, हास्य, रति, जुगुप्सा, भय और उपघात नामकर्म का अपूर्वकरण गुणस्थान वाले जघन्य अनुभाग बंध करते है और अनिवृत्तिबादर गुणस्थानवर्ती पुरुष वेद, संज्वलन कषाय का जघन्य अनुभाग वंध करते है।

विशेषार्थ—इस गाथा में आहारकद्विक आदि प्रकृतियो के जघन्य अनुभाग वंध के स्वामियों को वतलाते है।

सर्वप्रथम आहारकद्विक के वारे में कहते है कि 'अपमाइ हारगदुगं' आहारकद्विक (आहारक शरीर और आहारक अंगोपाग) का जघन्य अनुभाग वंध अप्रमत्त मुनि—सातवे अप्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती मुनि करते है। लेकिन कव करते है, इसका स्पष्टीकरण यह है कि आहारकद्विक यह प्रशस्त प्रकृतिया है अत: इनका जघन्य अनुभाग वंध अप्रमत्त-मुनि उस समय करते है जव वे छठे प्रमत्त संयत गुणस्थान के अभिमुख होते है। यानि सातवे गुणस्थान में छठे गुणस्थान की ओर अवरोहण करने की स्थिति मे होते है तव उनके परिणाम संक्लिष्ट होते है और उस स्थिति मे आहारकद्विक का जघन्य अनुभाग वंध करते है।

निद्राद्विक (निद्रा और प्रचला), अशुभ वर्णचतुष्क, (अशुभ वर्ण, अशुभ गंध, अशुभ रस, अशुभ स्पर्श) तथा हास्य, रति, जुगुप्सा, भय और उपघात, इन ग्यारह प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वंध अपूर्वकरण गुणस्थानवाले तथा पुरुष वेद और संज्वलन कषाय का जघन्य अनुभाग वंध अनिवृत्तिवादरसंपराय गुणस्थान वाले करते है। यहां ये दोनों

गुणस्थान क्षपक श्रेणि के लेना चाहिये। क्योंकि निद्रा आदि अशुभ प्रकृतिया है और अशुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग वंध विशुद्ध परिणामों से होता है और उनके वंधकों में क्षपक अपूर्वकरण तथा क्षपक अनिवृत्तिवादरसंपराय गुणस्थान वाले जीव ही विशेष विशुद्ध होते है। इन प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग वंध अपनी-अपनी व्युच्छित्ति के समय होता है।

विग्घावरणे सुहुमो मणुतिरिया सुहुमविगलतिगआऊ।
वेगुव्विछक्कममरा निरया उज्जोयउरलदुग ॥७१॥

शब्दार्थ—**विग्घावरणे**—पाच अतराय और नौ आवरण (ज्ञान-दर्शन के) का, **सुहमो**—सूक्ष्मसपराय वाला, **मणुतिरिया**—मनुष्य और तिर्यच, **सुहुमविगलतिग**—सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, **आऊ**—चार आयु का, **वेगुव्विछक्कं**—वैक्रियपट्क का, **अमरा**—देव, **निरय**—नारक, **उज्जोय**-उद्योत नामकर्म का, **उरलदुग**—औदारिकद्विक का।

गाथार्थ—पाच अंतराय तथा पाच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण का जघन्य अनुभाग बंध सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान वाला करता है। मनुष्य और तिर्यच सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, चार आयु और वैक्रियपट्क का जघन्य अनुभाग वंध तथा उद्योत नामकर्म एवं औदारिकद्विक का जघन्य अनुभाग वंध देव तथा नारक करते है।

विशेषार्थ—'विग्घावरणे सुहुमो' अंतराय कर्म की पाच प्रकृतियो (दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अन्तराय), मतिज्ञानावरण आदि ज्ञानावरण की पाच प्रकृतियों तथा चक्षुदर्शनावरण आदि दर्शनावरण की चार प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वंध सूक्ष्मसंपराय नामक

दसवें गुणस्थानवर्ती क्षपक उस गुणस्थान के चरमसमय में करता है। क्योंकि इनके बंधकों में वही सबसे विशुद्ध है।

सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त नामकर्म), विकलत्रिक, चार आयु और वैक्रियषट्क (वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी), इन सोलह प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग के स्वामी मनुष्य और तिर्यंच है। इन सोलह प्रकृतियों मे से मनुष्यायु और तिर्यचायु के सिवाय चौदह प्रकृतियो को तो देव व नारक जन्म से ही नही बाधते है तथा मनुष्य और तिर्यंच आयु का जघन्य अनुभाग बंध जघन्य स्थितिबंध के साथ ही होता है। क्योंकि ये दोनों प्रशस्त प्रकृतिया है अतः इनका जघन्य अनुभाग बंध तो संक्लेश परिणामो से होता ही है किन्तु जघन्य स्थितिबंध भी संक्लेश परिणामो से होता है। देव और नारक जघन्य स्थिति वाले मनुष्य और तिर्यंचों में उत्पन्न नही होते है, अत वे इनका जघन्य बंध नही करते है। अर्थात् इन दो प्रकृतियो का जो जघन्य स्थितिबंध करता है वही उनका जघन्य अनुभाग बंध भी करता है। इसलिये सूक्ष्मत्रिक आदि सोलह प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग बंध का स्वामी मनुष्य और तिर्यंच को बतलाया है। उद्योत और औदारिकद्विक इन तीन प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग बंध देव और नारक करते है। इसमें इतना विशेष समझना चाहिये कि औदारिक अंगोपांग का जघन्य अनुभाग बंध ईशान स्वर्ग से ऊपर के वैमानिक देव करते है। क्योंकि ईशान स्वर्ग तक के देव उत्कृष्ट संक्लेश के होने पर एकेन्द्रिययोग्य प्रकृतियो का बंध करते है और एकेन्द्रियो को अंगोपाग नही होते है। अत ईशान स्वर्ग तक के देवों के औदारिक अंगोपांग नामकर्म का जघन्य अनुभाग बंध नही होता है।

मनुष्य और तिर्यंचो के उक्त तीन प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग

वन्ध न होने का कारण यह है कि जो जीव तिर्यञ्चगति के योग्य प्रकृतियों का वन्ध करता है, वही इनका भी जघन्य अनुभाग वन्ध करता है। किन्तु मनुष्य और तिर्यंचो के उतने संक्लिष्ट परिणाम हों जितने कि इन तीन प्रकृतियो के जघन्य अनुभागबंध के लिये आवश्यक है तो वे नरकगति के योग्य प्रकृतियो का ही वन्ध करते है। इसीलिये मनुष्य और तिर्यंचों को इन प्रकृतियो का जघन्य अनुभागबंध नही बताया है

तिरिदुगनिअं तमतमा जिणमविरय निरयविणिगथावरयं।
आसुहुमायव सम्मो व सायथिरसुभजसा सिअरा ॥७२॥

शब्दार्थ तिरिदुग—तिर्यचद्विक, निअं—नीचगात्र का, तमतमा - तम तमप्रभा के नारक जिण—तीर्थकर नामकर्म का, अविरय—अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य, निरयविण - नरक के सिवाय तीन गति वाले जीव, इगथावरय—एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामकर्म का, आसुहुमा सौधर्म ईशान स्वर्ग तक के देव, आयव आतप नामकर्म का, सम्मो व—सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि, सायथिरसुभजसा—सातावेदनीय, स्थिर नाम, शुभ नाम और यश कीर्ति नामकर्म का, सिअरा—इनकी प्रतिपक्षी प्रकृतियो सहित ।

गाथार्थ— तिर्यचद्विक और नोचगोत्र का जघन्य अनुभाग वंध तम तमप्रभा नामक सातवे नरक के नारक करते है। तीर्थकर नामकर्म का जघन्य अनुभागवन्ध अविरत सम्यग्दृष्टि जीव करता है। नरकगति के सिवाय शेष तीन गति वाले जीव एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामकर्म का जघन्य अनुभागवन्ध करते है। सौधर्म और ईशान स्वर्ग तक के देव आतप नामकर्म का जघन्य अनुभागवंध करते है। सातावेदनीय, स्थिर, शुभ, यश कीर्ति और इन चारो की प्रतिपक्षी प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते है।

विशेषार्थ—'तिरिदुगनिअं तमतमा' तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी और नीचगोत्र इन तीन प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध सातवे नरक मे वतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण यह है कि सातवे नरक का कोई नारक सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये जव यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों को करता हुआ अन्त के अनिवृत्तिकरण को करता है तव वहा अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय मे इन तीन प्रकृतियो का जघन्य अनुभागबंध होता है। ये तीनो प्रकृतिया अशुभ है और सर्वविशुद्ध जीव ही उनका जघन्य अनुभागबंध करता है। अतः इनके वंधकों मे सातवे नरक का उक्त नारक ही विशेष विशुद्ध है। क्योंकि इस सरीखी विशुद्धि होने पर तो दूसरे जीव मनुष्यद्विक और उच्च गोत्र का वन्ध करते है। जिससे तिर्यंचद्विक और नीच गोत्र इन तीन प्रकृतियो के लिये सातवें नरक के नारक का ग्रहण किया है।

तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य अनुभागवंध सामान्य से अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को वतलाया है—जिणमविरय। लेकिन यह विशेष समझना चाहिये कि यह शुभ प्रकृति है और शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग वन्ध संक्लेश से होता है अत वद्धनरकायु अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य नरक मे उत्पन्न होने के लिये जव मिथ्यात्व के अभिमुख होता है तव वह तीर्थंकर नामकर्म का जघन्य अनुभाग वंध करता है। यद्यपि तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध चौथे से लेकर आठवे गुणस्थान तक होता है लेकिन शुभ प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वंध संक्लेश से होता है और वह संक्लेश तीर्थंकर प्रकृति के वंधको में मिथ्यात्व के अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टि के ही होता है। इसीलिए तीर्थंकर प्रकृति के जघन्य अनुभाग वंध के लिये अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य का ग्रहण किया है। तिर्यंचगति मे तीर्थंकर प्रकृति का वंध नही होता है जिससे यहां मनुष्य को वतलाया है और जिस मनुष्य ने तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध करने से पहले

नरकायु नही बांधी है वह नरक में नहीं जाता है, अतः वद्धनरकायु का ग्रहण किया है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व सहित मर कर नरक में उत्पन्न हो सकते है, किन्तु उनके विशुद्ध होने से वे तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य अनुभाग बंध नही कर सकते है। इसीलिये उनका यहा ग्रहण नही किया है।

एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामकर्म का जघन्य अनुभाग वन्ध नरकगति के सिवाय शेष तिर्यंच, मनुष्य और देव इन तीन गतियो के जीव करते है। लेकिन इन तीन गतियों वाले जीवों के संवन्ध मे यह विशेष जानना कि परावर्तमान मध्यम परिणाम वाले जीव करते है। क्योकि ये दोनों प्रकृतिया अशुभ है, अतः अति संक्लिष्ट परिणाम वाले जीव उनका उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध करते है और अति विशुद्ध जीव पंचेन्द्रिय जाति और त्रस नामकर्म का बन्ध करते है। इसीलिये मध्यम परिणाम का ग्रहण किया है। साराश यह है कि जव कोई जीव एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामकर्म का वन्ध करके पंचेन्द्रिय जाति और त्रस नामकर्म का बंध करता है और उनका बंध करके पुनः एकेन्द्रिय व स्थावर नामकर्म का बंध करता है तव इस प्रकार का परिवर्तन करके वंध करने वाला परावर्तमान मध्यम परिणाम वाला अपने योग्य विशुद्धि के होने पर उक्त दो प्रकृतियो का जघन्य अनुभागवंध करता है।

आतप प्रकृति का जघन्य अनुभाग बंध ईशान कल्प तक के देवों को वतलाया है। यद्यपि गाथा मे 'आसुहुम' पद है, जिसका अर्थ 'सौधर्म स्वर्ग तक' होता है। लेकिन सौधर्म और ईशान स्वर्ग एक ही श्रेणी में विद्यमान होने से दोनों को ग्रहण कर लेना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और सौधर्म, ईशान स्वर्ग तक के वैमानिक देव आतप प्रकृति का जघन्य अनुभाग वंध करते है।

उक्त देवों के ही आतप प्रकृति का जघन्य अनुभाग वंध करने का

कारण यह है कि आतप शुभ प्रकृति है और शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध विशेष संक्लिष्ट परिणामों से होता है। अतः उन देवों के एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों के बंध के समय आतप प्रकृति का जघन्य अनुभाग बंध होता है। यदि आतप प्रकृति के जघन्य अनुभाग बंध करने योग्य संक्लिष्ट परिणाम मनुष्य और तिर्यचो के हो तो वे नरकगति के योग्य प्रकृतियो का ही वन्ध करते है तथा नारक और सानत्कुमार आदि कल्पों के देव जन्म से ही इस प्रकृति का वन्ध नही करते है। इसीलिये ईशान स्वर्ग तक के देवों को ही इसका वन्धक वतलाया है।

सातावेदनीय, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति और इनकी प्रतिपक्षी असातावेदनीय, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्ति, इन आठ प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग वन्ध के स्वामी सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि है। इन वंधकों के लिये यह विशेष समझना चाहिये कि वे परावर्तमान मध्यम परिणाम वाले हों। इसका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

प्रमत्त मुनि अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त असातावेदनीय की अन्तःकोटाकोटि सागर प्रमाण जघन्य स्थिति वांधता है और अन्तर्मुहूर्त के वाद सातावेदनीय का वन्ध करता है, पुनः असातावेदनीय का बन्ध करता है। इसी तरह देशविरत, अविरत सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव साता के बाद असाता का और असाता के वाद साता वेदनीय का वन्ध करते है। इनमे से मिथ्यादृष्टि जीव साता के वाद असाता का और असाता के बाद साता का वंध तव तक करता है जव तक साता वेदनीय की स्थिति पन्द्रह कोड़ाकोडी सागरोपम होती है। उसके वाद और संक्लिष्ट परिणाम होने पर केवल असाता का ही तव तक वन्ध करता है जव तक उसकी तीन कोडाकोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति होती है। प्रमत्त संयत से आगे अप्रमत्त संयत आदि गुणस्थानो में जीव केवल सातावेदनीय का ही वन्ध करता है।

इसका साराश यह है कि साता वेदनीय के जघन्य अनुभाग वन्ध के योग्य परावर्तमान मध्यम परिणाम साता वेदनीय की पन्द्रह कोड़ाकोडी सागर स्थितिवंध से लेकर छठे गुणस्थान मे असातावेदनीय के अन्त:कोडाकोडी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिवंध तक पाये जाते है। परावर्तमान परिणाम तभी तक हो सकते है जव तक प्रतिपक्षी प्रकृति का बंध होता है। यानी तव तक साता के साथ असाता वेदनीय का भी वंध संभव है जब तक परावर्तमान परिणाम होते है। लेकिन साता वेदनीय के उत्कृष्ट स्थितिवंध से लेकर आगे जो परिणाम होते है वे इतने संक्लिष्ट होते है कि उनसे असाता वेदनीय का ही बंध हो सकता है। इसीलिये साता और असाता वेदनीय के जघन्य अनुभागबंध का स्वामी परावर्तमान मध्यम परिणाम वाले सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवों को बतलाया है।

अस्थिर, अशुभ, अयश:कीर्ति की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागर और स्थिर, शुभ, यश:कीर्ति की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागर बतलाई है। प्रमत्त मुनि अस्थिर, अशुभ, अयश:कीर्ति की अन्त:कोड़ाकोडी सागर प्रमाण जघन्य स्थिति बांधता है और विशुद्धि के कारण फिर इनकी प्रतिपक्षी स्थिर, शुभ, यश:कीर्ति का बंध करता है, उसके वाद पुनः अस्थिर आदिक का बंध करता है। इसी प्रकार देशविरति, अविरत सम्यग्दृष्टि, मिश्रदृष्टि, सासादन, मिथ्यादृष्टि स्थिरादिक के वाद अस्थिरादिक का और अस्थिरादिक के वाद स्थिरादिक का वंध करते है। उनमे से मिथ्यादृष्टि इन प्रकृतियो का उक्त प्रकार से तव तक वंध करता है जव तक स्थिरादिक का उत्कृष्ट स्थितिवंध नही होता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के योग्य इन स्थितिवंधो मे ही उक्त प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वंध होता है।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे स्थिरादिक के उत्कृष्ट स्थितिवंध के

पश्चात तो अस्थिरादिक का ही वंध होता है और अप्रमत्त आदि गुण-स्थानो मे स्थिरादिक का ही। मिथ्यादृष्टि में संक्लेश परिणामों की अधिकता है और अप्रमत्त मे विशुद्ध परिणामों की अधिकता, अतः दोनो मे ही अनुभाग बंध अधिक मात्रा मे होता है। इसीलिए इन दोनों के सिवाय शेष बताये गये स्थानों मे ही अस्थिर आदि छह प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग बंध होता है।

तसवन्नतेयचउमणुखगइदुग पणिंदिसासपरघुच्चं।
संघयणागिइनपुत्थीसुभगियरति मिच्छ चउगइगा ॥७३॥

शब्दार्थ—**तसवन्नतेयचउ**—त्रसचतुष्क, वर्णचतुष्क, तैजसचतुष्क, **मणुखगइदुग**—मनुष्यद्विक, विहायोगतिद्विक, **पणिंदि**—पचेन्द्रिय जाति, **सास**—उच्छ्वास नामकर्म, **परघुच्चं**—पराघात नाम और उच्च गोत्र का, **संघयणागिइ**—छह सहनन और छह संस्थान, **नपुत्थी**—नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, **सुभगियरति**—सुभगत्रिक और इतर दुर्भगत्रिक का, **मिच्छ**—मिथ्यादृष्टि, **चउगइया**—चारो गति वाले।

गाथार्थ—त्रसचतुष्क, वर्णचतुष्क, तैजसचतुष्क, मनुष्यद्विक, विहायोगतिद्विक, पंचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास, पराघात, उच्चगोत्र, छह संहनन, छह संस्थान, नपुंसक वेद, स्त्री वेद, सुभगत्रिक, दुर्भगत्रिक का चारो गति वाले मिथ्यादृष्टि जीव जघन्य अनुभाग वंध करते है।

विशेषार्थ—गाथा मे चालीस प्रकृतियों का नामोल्लेख कर उनके जघन्य अनुभाग वंध का स्वामी चारो गतियों के मिथ्यादृष्टि जीव को बतलाया है। इनमे से कुछ प्रशस्त और कुछ अप्रशस्त प्रकृतिया है।

त्रसचतुष्क (त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक), वर्णचतुष्क (शुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श), तैजसचतुष्क (तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण), पंचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास और पराघात ये पन्द्रह प्रकृतियां प्रशस्त है अतः

इनका जघन्य अनुभाग वंध उत्कृष्ट संक्लेश से होता है। मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच अपने उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से जब नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करते है उस समय इन पन्द्रह प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वंध करते है तथा नारक और ईशान स्वर्ग से ऊपर के देव संक्लेश के होने पर पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याय के योग्य प्रकृतियो का बंध करने के समय में और ईशान स्वर्ग तक के देव पंचेन्द्रिय जाति और त्रस को छोडकर शेप तेरह प्रकृतियो को एकेन्द्रिय जीव के योग्य प्रकृतियो को वाधते समय इनका जघन्य अनुभाग बंध करते है।

उक्त कथन का साराश यह है कि मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच तो त्रसचतुष्क आदि पन्द्रह प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध नरकगति के योग्य प्रकृतियों का वंध करने के साथ करते है। ईशान स्वर्ग से ऊपर के देव तथा नारक पंचेन्द्रिय तिर्यंचो मे जन्म लेने योग्य प्रकृतियों का वंध करते हुए तथा ईशान स्वर्ग तक के देव एकेन्द्रिय पर्याय मे जन्म लेने योग्य प्रकृतियो का वंध करते हुए पंचेन्द्रिय जाति और त्रस को छोड़ उसके योग्य उक्त प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग वन्ध करते है।

ईशान स्वर्ग तक के देवों मे पंचेन्द्रिय जाति और त्रस नामकर्म को छोडने का कारण यह है कि इन दोनो का बंध ईशान स्वर्ग तक के देवो को विशुद्ध दशा मे ही होता है। अतः इनके उक्त दोनो प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग वंध नही होता है।

स्त्री वेद और नपुसक वेद ये दोनो प्रकृतिया अप्रशस्त है, इनका जघन्य अनुभाग वंध विशुद्ध परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि जीव करते है।

मनुष्यद्विक, वज्रऋषभनाराच संहनन आदि छह संहनन और समचतुरस्र संस्थान आदि छह संस्थान, शुभ और अशुभ विहायोगति, [illegible]त्रिक (सुभग, सुस्वर, आदेय) और दुर्भगत्रिक (दुर्भग, दुःस्वर,

अनादेय) और उच्च गोत्र का जघन्य अनुभाग वंध चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव करते है, लेकिन वे मध्यम परिणाम वाले होते है।

इसका कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और सम्यग्दृष्टि मनुष्य देवद्विक का वन्ध करते है, मनुष्यद्विक का नही। संस्थानों में से समचतुरस्र संस्थान का वंध करते है। संहनन का बंध नही करते है। शुभ विहायोगति, सुभग, सुस्वर, आदेय और उच्च गोत्र का ही वन्ध करते है और मिथ्यादृष्टि दुर्भग आदि का बंध करते है।

सम्यग्दृष्टि देव और सम्यग्दृष्टि नारक मनुष्यद्विक का ही बंध करते है—तिर्यंचद्विक का नही। संस्थानो मे समचतुरस्र संस्थान का और संहननों में वज्रऋषभनाराच संहनन का वंध करते है। शुभ विहायोगति, सुभग आदि ही वाधते है और उनकी प्रतिपक्षी प्रकृतियो को नही वाधते है। जिससे उनके प्रतिपक्षी प्रकृतियों का वंध नही होता है और उनका वंध न होने से परिणामो में परिवर्तन नही होता है तथा परिवर्तन न होने से परिणाम विशुद्ध बने रहते है जिससे प्रशस्त प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग बंध नही होता है। इसी कारण से सम्यग्-दृष्टि का ग्रहण न करके मिथ्यादृष्टि का ग्रहण किया है।

मनुष्यद्विक को उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है और शुभ विहायोगति, सुभग, सुस्वर, आदेय, उच्च गोत्र, प्रथम संहनन और प्रथम संस्थान की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोड़ी सागरो-पम की है। इन शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग वंध अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति से प्रारंभ होकर प्रतिपक्षी प्रकृतियों के साथ उनकी जघन्य स्थिति अन्तःकोडाकोड़ी सागरोपम के स्थितिवंध के अध्यवसाय तक परावर्तमान मध्यम परिणामों से होता है। वह अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त के परावर्त से बंधता है। हुण्ड संस्थान और सेवार्त संहनन की अनुक्रम से वामन संस्थान और कीलिका संहनन के साथ अपनी-अपनी जघन्य

स्थिति तक परावृत्ति होने पर। इसी प्रकार शेष संहनन, सस्थान की सम्भवित शेष संहनन और संस्थान के साथ अपनी-अपनी जघन्य स्थिति तक परावृत्ति के होने पर जानना चाहिये। इन स्थितिस्थानो में मिथ्या दृष्टि परावर्तमान मध्यम परिणाम से जघन्य अनुभाग बंध को करता है। इसी तरह अन्य प्रकृतियों के लिए भी समझना चाहिये।

इस प्रकार से बंधयोग्य प्रकृतियों के उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग बंध के स्वामियो[1] का कथन करने के पश्चात् अब आगे मूल और उत्तर प्रकृतियों में अनुभाग बंध के भंगों का विचार करते है।

चउतेयवन्नवेयणिय नामणुक्कोस सेसधुवबंधी।
घाईणं अजहन्नो गोए दुविहो इमो चउहा ॥७४॥
सेसंमि दुहा..

शब्दार्थ—**चउतेयवन्न**—तैजसचतुष्क और वर्णचतुष्क, **वेयणिय**—वेदनीय कर्म, **नाम**—नाम कर्म का, **अणुक्कोस**—अनुत्कृष्ट अनुभाग बध, **सेसधुवबंधी**— बाकी की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियो का, **घाइणं**—घाति प्रकृतियो का, **अजहन्नो**—अजघन्य अनुभाग बध, **गोए**—गोत्र कर्म का, **दुविहो**—दो प्रकार के अनुभाग बन्ध (अनुत्कृष्ट और अजघन्य बन्ध) **इमो**—ये, **चउहा**—चार प्रकार के, (सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव)।

सेसमि—बाकी के तीन प्रकार के अनुभाग बध के, दुहा—दो प्रकार।

---

१ गो० कर्मकाड गा० १६५-१६९ तक मे उत्कृष्ट अनुभाग बध के और गाथा १७०-१७७ तक मे जघन्य अनुभाग बध के स्वामियो का कथन किया गया है। दोनो की कर्मग्रन्थ से समानता है। तुलना के लिये उक्त अश परिशिष्ट मे दिया है।

गाथार्थ—तैजस चतुष्क, वर्ण चतुष्क, वेदनीय कर्म और नामकर्म का अनुत्कृष्ट अनुभाग 'वंध तथा वाकी की ध्रुव-वंधिनी और घाती प्रकृतियो का अजघन्य अनुभाग वंध और गोत्रकर्म के दोनों वन्ध (अनुत्कृष्ट और अजघन्य) चारो प्रकार के है।

उक्त प्रकृतियों के शेष अनुभाग वन्ध और वाकी की अन्य शेष प्रकृतियों के सभी वंध दो ही प्रकार के है।

विशेषार्थ—इस गाथा में मूल और उत्तर प्रकृतियों में अनुभाग बंध के भंगो का विचार किया गया है।

वंध के चार प्रकार है—उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य। इनमें से कर्मों की सवसे कम अनुभाग शक्ति को जघन्य और जघन्य अनुभाग शक्ति से ऊपर के एक अविभागी अंश को आदि लेकर सवसे उत्कृष्ट अनुभाग तक के भेदों को अजघन्य कहते है। इन जघन्य और अजघन्य भेदों में अनुभाग के अनन्त भेद गर्भित हो जाते हैं।

सवसे अधिक अनुभाग शक्ति को उत्कृष्ट और उसमें से एक अवि-भागी अंश कम शक्ति से लेकर सर्वजघन्य अनुभाग तक के भेदों को अनुत्कृष्ट कहते है। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेद में भी अनुभाग शक्ति के समस्त भेद गर्भित हो जाते है। इसको उदाहरण से इस प्रकार समझ सकते है कि कल्पना से सर्वजघन्य का प्रमाण ८ है और उत्कृष्ट का प्रमाण १६। तो इसमे ८ को जघन्य कहेंगे और आठ से ऊपर नौ से लेकर सोलह तक के भेदों को अजघन्य तथा सोलह को उत्कृष्ट और सोलह से एक कम पन्द्रह से लेकर आठ तक के भेदों को अनुत्कृष्ट कहेंगे। मूल और उत्तर प्रकृतियों में इन भेदों का विचार सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव भंगो के साथ किया गया है।

गाथा में वताये गये भेदो का विवरण इस प्रकार है कि तैजस-चतुष्क (तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण) तथा वर्णचतुष्क—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श (यहा शुभ वर्णचतुष्क समझना चाहिये), वेदनीय कर्म और नामकर्म का अनुत्कृष्ट अनुभाग वंध सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव इस प्रकार चार तरह का होता है। जो इस प्रकार है—

तैजसचतुष्क और शुभ वर्णचतुष्क इन आठ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग वंध क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थान मे देवगति योग्य तीस प्रकृतियो के बन्धविच्छेद के समय होता है। इसके सिवाय उपशम श्रेणि आदि अन्य स्थानो मे उक्त प्रकृतियो का अनुत्कृष्ट वंध ही होता है। किन्तु ग्यारहवे गुणस्थान मे विल्कुल वंध नही होता है और ग्यारहवे गुणस्थान से गिरकर कोई जीव उक्त प्रकृतियो का पुन॰ अनुत्कृष्ट अनुभाग वन्ध करता है तब वह सादि कहलाता है और इस अवस्था को प्राप्त होने से पहले उनका बंध अनादि कहलाता है, क्योकि उसके वह बंध अनादि से होता चला आ रहा है। भव्य जीव का वंध अध्रुव और अभव्य जीव का बंध ध्रुव होता है। इस प्रकार उक्त आठ प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट अनुभाग वंध सादि आदि चार प्रकार का होता है।

किन्तु इनके शेष उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभाग वंध के सादि और अध्रुव यह दो ही भंग होते है। क्योंकि पूर्व में वताया है कि तैजसचतुष्क और वर्णचतुष्क का उत्कृष्ट अनुभाग वंध क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थान वाला करता है जो इससे पहले नही होता है। इसीलिये सादि है और एक समय तक होकर आगे नही होता है, अत. अध्रुव है। ये प्रकृतिया शुभ है जिससे इनका जघन्य अनुभाग वंध उत्कृष्ट संक्लेशवाला पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव करता है और कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक दो समय के वाद वही जीव उनका अजघन्य वंध करता है। कालान्तर मे उत्कृष्ट संक्लेश होने पर,

वह पुनः उनका जघन्य अनुभाग बंध करता है। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य अनुभाग बंध सादि और अध्रुव हैं।

वेदनीय और नामकर्म का भी अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध सादि आदि चार प्रकार का है। क्योंकि साता वेदनीय और यश कीर्ति नामकर्म की अपेक्षा वेदनीय और नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बंध क्षपक सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान में ही होता है और शेष स्थानों में अनुत्कृष्ट बंध होता है। ग्यारहवें गुणस्थान में उनका बंध नहीं होता है। जिससे ग्यारहवें गुणस्थान से च्युत होकर जो अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है वह सादि और उससे पहले अनादि। भव्य जीव का बंध अध्रुव और अभव्य का ध्रुव है। इस प्रकार वेदनीय और नामकर्म के अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध के सादि आदि चार भंग होते हैं।

वेदनीय और नामकर्म के अनुत्कृष्ट बंध के सिवाय शेष उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य बंध के सादि और अध्रुव भंग ही होते है। उत्कृष्ट बंध तो क्षपक सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान मे ही होता है, अन्य गुणस्थान मे नही, अतः सादि है और बारहवें आदि गुणस्थानों में नहीं होने से अध्रुव है। जघन्य अनुभाग बंध मध्यम परिणाम वाला सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करता है। यह जघन्य अनुभाग बंध अजघन्य अनुभाग बंध के बाद होने से सादि है और कम से कम एक समय और अधिक से अधिक चार समय तक जघन्य बंध होने के पश्चात पुनः अजघन्य बंध होता है, जिससे जघन्य बंध अध्रुव और अजघन्य बंध सादि है। उसके बाद उसी भव मे या दूसरे किसी भव मे पुनः जघन्य बंध के होने पर अजघन्य बंध अध्रुव होता है। इस प्रकार शेष उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य बंध सादि और अध्रुव होते है।

अब ध्रुवबंधिनी और अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के बंधो के बारे में

विचार करते हैं। तैजस चतुष्क के सिवाय शेष ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का अजघन्य अनुभाग बंध चार प्रकार का होता है। पाच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाच अंतराय, ये चौदह प्रकृतिया अशुभ है और इनका जघन्य अनुभाग बंध सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अंत में होता है और ग्यारहवे में इनका बंध नही होता है। अतः ग्यारहवे गुणस्थान से च्युत होकर जो अनुभाग बंध होता है वह सादि है ओर उससे पहले का बंध अनादि है। भव्य का बंध अध्रुव और अभव्य का बंध ध्रुव है।

संज्वलन चतुष्क का जघन्य अनुभाग बंध क्षपक अनिवृत्तिवादर गुणस्थान में अपने बंधविच्छेद के समय मे होता है। इसके सिवाय अन्य सब जगह अजघन्य वन्ध होता है। ग्यारहवे गुणस्थान मे बंध नही होता है, अतः वहां से च्युत होकर जो बंध होता है वह सादि है, उससे पहले का अनादि, भव्य का बंध अध्रुव और अभव्य का वन्ध ध्रुव है।

निद्रा, प्रचला, अशुभ वर्णचतुष्क, उपघात, भय और जुगुप्सा का क्षपक अपूर्वकरण मे अपने-अपने बंधविच्छेद के समय में एक समय तक जघन्य अनुभाग बंध और अन्य सब स्थानो पर अजघन्य अनुभाग वंध होता है। उपशम श्रेणि मे गिरने पर पुन उनका अजघन्यबंध होता है जो सादि है। बंधविच्छेद से पहले उनका वंध अनादि, अभव्य का वंध ध्रुव और भव्य का वंध अध्रुव है।

प्रत्याख्यानावरण कपाय चतुष्क का जघन्य अनुभाग वंध देशविरति गुणस्थान के अंत में संयमाभिमुख करता है और उससे पहले होने वाला वंध अजघन्य वंध है। अप्रत्याख्यानावरण कपाय चतुष्क का जघन्य अनुभाग वंध क्षायिक सम्यक्त्व और संयम प्राप्त करने का इच्छुक अविरत सम्यग्दृष्टि जीव अपने गुणस्थान के अंत मे करता है।

इसके सिवाय सर्वत्र उसका अजघन्य अनुभाग बंध होता है। स्त्यानर्द्धि, निद्रा-निद्रा और प्रचला-प्रचला, मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय का जघन्य अनुभाग बंध विशुद्ध परिणामी मिथ्यादृष्टि अपने गुणस्थान के अंतिम समय में करता है और शेष सर्वत्र उनका अजघन्य अनुभाग बंध होता है। उसके बाद संयम वगैरह को प्राप्त करके वहां से गिर-कर पुनः उनका अजघन्य अनुभाग बंध करता है तो वह सादि और उसके पहले का अनादि, अभव्य का बंध ध्रुव और भव्य का बंध अध्रुव होता है। इस प्रकार ४३ ध्रुवप्रकृतियों का अजघन्य अनुभाग बंध चार प्रकार का होता है।

अब उनके जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध के दो-दो प्रकारो को स्पष्ट करते है। उक्त ४३ प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग बंध सूक्ष्मसंपराय आदि गुणस्थानों मे होता है जो उन-उन गुणस्थानों में पहली वार होने से सादि है। बारहवे आदि ऊपर के गुणस्थानों में नही होने से अध्रुव है। उत्कृष्ट अनुभाग बंध उत्कृष्ट संक्लेश वाला पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव करता है जो एक या दो समय तक होता है। उसके बाद अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध करता है। काला-न्तर में उत्कृष्ट संक्लेश के होने पर पुनः उनका उत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध में सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते है।

अब अध्रुवबंधिनी प्रकृतियो के उत्कृष्ट आदि चारों अनुभाग बंधो को बतलाते है। अध्रुवबंधिनी होने से इन प्रकृतियों के उत्कृष्ट, अनु-त्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभाग बंध के सादि और अध्रुव यह दो प्रकार होते है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चारों घाति कर्म अशुभ है। इनका अजघन्य अनुभाग बंध चार प्रकार का

है। अशुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध और शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध विशुद्ध परिणामी बंधक करता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय अशुभ है अतः इनका जघन्य अनुभाग बंध क्षपक सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अंत समय मे होता है और मोहनीय का बंध नौवे गुणस्थान तक होता है। जिससे नौवे गुणस्थान के अंत में उसका जघन्य अनुभाग बंध होता है। इन गुणस्थानो के सिवाय शेष सभी स्थानों में उक्त चारो कर्मों का अजघन्य अनुभाग बंध होता है। ग्यारहवे और दसवे गुणस्थान में उक्त चारो कर्मों का बंध न करके वहा से गिरने के वाद जब पुनः उनका अजघन्य अनुभाग बंध होता है तब वह सादि है और जो जीव नौवे, दसवे आदि गुणस्थानो मे कभी नही आये, उनकी अपेक्षा वह अजघन्य बंध अनादि है। अभव्य का बंध ध्रुव है और भव्य का बंध अध्रुव है।

अब घातिकर्मों के शेष तीन—जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग बंधों मे होने वाले सादि और अध्रुव प्रकारो को स्पष्ट करते है। मोहनीय कर्म का जघन्य अनुभाग बंध क्षपक अनिवृत्तिवादर के अंतिम समय मे और शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय का क्षपक सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अन्त में। यह बंध पहली वार ही होता है अतः सादि है और वारहवे गुणस्थान मे जाने पर होता ही नही अतः अध्रुव है। यह अनादि नही है। क्योकि उक्त गुणस्थानो में आने से पहले कभी नही होता है और अभव्य के नही होने से ध्रुव भी नही है। अनुत्कृष्ट के वाद उत्कृष्ट वंध होता है अत. सादि है और उसके एक या दो समय वाद पुनः अनुत्कृष्ट वंध होता है अत उत्कृष्ट वंध अध्रुव है और अनुत्कृष्ट वंध सादि है। कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक अनन्तानन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ल के वाद उत्कृष्ट संक्लेश होने पर पुनः उत्कृष्ट वंध होता है

जिससे अनुत्कृष्ट वंध अध्रुव है। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट वंध वदलते रहने के कारण सादि और अध्रुव है।

गोत्र कर्म में अजघन्य और अनुत्कृष्ट वंध चार प्रकार का और जघन्य और उत्कृष्ट बंध दो प्रकार का होता है। उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग वंध के प्रकार वेदनीय और नाम कर्म के समान समझना चाहिये। अव जघन्य और अजघन्य बंध के बारे मे विचार करते है कि सातवे नरक का नारक सम्यक्त्व के अभिमुख होता हुआ यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों को करता है तब अनिवृत्तिकरण में मिथ्यात्व का अन्तरकरण करता है, जिससे मिथ्यात्व की स्थिति के दो भाग हो जाते है। एक नीचे की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति और दूसरी शेष ऊपर की स्थिति। नीचे की स्थिति का अनुभव करते हुए अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति के अन्तिम समय में नीच गोत्र की अपेक्षा से गोत्र कर्म का जघन्य अनुभाग वंध होता है। अन्य स्थान मे यदि इतनी विशुद्धि हो तो उससे उच्च गोत्र का अजघन्य अनुभाग वंध होता है। सातवे नरक मे मिथ्यात्व दशा मे नीच गोत्र का ही वंध 'होने से उसका ग्रहण किया है तथा जो नारक मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व के अभिमुख नहीं, उसके नीच गोत्र का अजघन्य अनुभाग वंध और सम्यक्त्व प्राप्ति होने पर उच्च गोत्र का अजघन्य अनुभाग वंध होता है। नीच गोत्र का यह जघन्य अनुभाग वंध अन्यत्र सम्भव नही है और उसी अवस्था में पहली वार होने से सादि है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर वही जीव उच्च गोत्र की अपेक्षा से नीच गोत्र का अजघन्य अनुभाग वंध करता है अत. जघन्य अनुभाग वंध अध्रुव है और अजघन्य अनुभाग वंध सादि है। इससे पहले होनेवाला अजघन्य अनुभाग वंध अनादि है। अभव्य का अजघन्य वंध ध्रुव और भव्य का अध्रुव है। इस प्रकार गोत्र कर्म के जघन्य अनुभाग वंध के दो और अजघन्य अनुभाग वंध के चार विकल्प जानना चाहिए।

आयुकर्म के जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग वंध के सादि और अध्रुव ये दो ही विकल्प होते है। क्योंकि भुज्यमान आयु के त्रिभाग में ही आयु कर्म का वंध होता है जिससे उसका जघन्यादि रूप अनुभाग बंध सादि है और अन्तर्मुहूर्त के बाद उस बंध के अवश्य रुक जाने से अध्रुव है। इस प्रकार आयुकर्म के जघन्य आदि अनुभाग वंधों के सादि और अध्रुव प्रकार समझना चाहिये।

इस प्रकार से मूल एवं उत्तर प्रकृतियों में उत्कृष्ट आदि अनुभाग बंधो के सादि आदि भंगों को जानना चाहिये।[1] अब अनुभाग वंध का वर्णन करने के पश्चात आगे प्रदेशबंध का विवेचन प्रारम्भ करते है। प्रदेशबंध के प्रारम्भ में सर्वप्रथम वर्गणाओं का निरूपण करते है।

प्रदेशबंध

……इगदुगणुगाइ जा अभवणंतगुणियाणू।
खंधा उरलोचियवग्गणा उ तह अगहणंतरिया ॥७५॥

शब्दार्थ—इगदुगणुगाइ—एकाणुक, द्व्यणुक आदि, जा—यावत्, तक, अभवणतगुणियाणू—अभव्य से अनत गुणे परमाणु वाला खंधा—स्कन्ध, उरलोचियवग्गणा—औदारिक के योग्य वर्गणा, तह - तथा, अगहणतरिया—ग्रहणयोग्य वर्गणा के बीच अग्रहणयोग्य वर्गणा।

गाथार्थ—एकाणुक, द्व्यणुक आदि से लेकर अभव्य जीवो से भी अनन्तगुणे परमाणु वाले स्कंधो तक ही औदारिक की

---

१ गो० कर्मकाड मे अनुभाग वध के जघन्य, अजघन्य आदि प्रकारो मे सादि आदि का विचार दो गाथाओ मे किया गया है। एक मे मूल प्रकृतियो की अपेक्षा, दूसरी मे उत्तर प्रकृतियो की अपेक्षा। उक्त विचार कर्मग्रंथ के समान है। गाथायें परिशिष्ट मे देखिये।

ग्रहणयोग्य वर्गणा होती है तथा एक-एक परमाणु की वृद्धि से ग्रहणयोग्य वर्गणा से अन्तरित अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है।

विशेषार्थ—यह लोक परमाणु और स्कंध रूप पुद्गलो से ठसाठस भरा हुआ है और पुद्गलकाय अनेक वर्गणाओं में विभाजित है, जिनमें एक कर्मवर्गणा भी है। ये वर्गणाये जीव के योग और कषाय का निमित्त पाकर कर्म रूप परिणत हो जाती है। पुद्गल के एक परमाणु के अवगाहस्थान को प्रदेश कहते है। अत कर्म रूप परिणत हुए पुद्गल स्कंधों का परिमाण परमाणु द्वारा आंका जाता है कि अमुक समय में इतने परमाणु वाले पुद्गलस्कन्ध अमुक जीव को कर्म रूप में परिणत हुए है, इसी को प्रदेशबंध कहते है। अतः प्रदेशबंध का स्वरूप समझने के पूर्व कर्मवर्गणा का ज्ञान होना जरूरी है। कर्मवर्गणा का स्वरूप समझने के लिए भी उसके पूर्व की औदारिक आदि वर्गणाओं का स्वरूप जान लिया जाये। इसीलिये उन-उन वर्गणाओं का भी स्वरूप समझना चाहिये। इस कारण औदारिक आदि वर्गणाओं का यहा स्वरूप कहते है।

ये औदारिक आदि वर्गणायें दो प्रकार की होती है—ग्रहणयोग्य, अग्रहणयोग्य। अग्रहणवर्गणा को आदि लेकर कर्मवर्गणा तक वर्गणाओ का स्वरूप गाथा में स्पष्ट किया जा रहा है।

समान जातीय पुद्गलों के समूह को वर्गणा[1] कहते है। ये वर्गणाये

---

१ कर्मग्रन्थ की टीका मे स्वजातीय स्कधो के समूह का नाम वर्गणा कहा है। किन्तु कर्मप्रकृति की टीका मे स्कंध और वर्गणा को एकार्थक कहा है। क्योंकि स्कध – वर्गणा की अवगाहना अगुल के असख्यातवें भाग कही है। यदि स्वजातीय स्कधो के समूह को वर्गणा कही जाये तो उसके ल

(शेप अगले पृष्ठ ·

अनंत होती है। जैसे समस्त लोकाकाश में जो कुछ एकाकी परमाणु पाये जाते है, उन्हे पहली वर्गणा कहते है। दो प्रदेशो के मेल से बनने वाले स्कंधो की दूसरी वर्गणा, तीन प्रदेशों के मेल से बननेवाले स्कंधो की तीसरी वर्गणा कहलाती है। इसी प्रकार एक-एक परमाणु बढते-बढते संख्यात प्रदेशी स्कंधो की संख्याताणु वर्गणा, असंख्यात प्रदेशी स्कंधों को असंख्याताणु वर्गणा, अनंत प्रदेशो स्कंधो की अनन्ताणु वर्गणा और अनंतानन्त प्रदेशी स्कंधो की अनन्तानन्ताणु वर्गणा समझना चाहिये।

ये वर्गणाये अग्रहणयोग्य और ग्रहणयोग्य, दो प्रकार की है। जो वर्गणाये अल्प परमाणु वाली होने के कारण जीव द्वारा ग्रहण नही की जाती, उन्हे अग्रहणवर्गणा कहते है। अभव्य जीवो की राशि से अनंत-गुणे और सिद्ध जीवो की राशि के अनन्तवे भाग प्रमाण परमाणुओ से वने स्कंध यानी इतने परमाणु वाले स्कंध जोव के द्वारा ग्रहण करने योग्य होते है और जीव उन्हे ग्रहण करके औदारिक शरीर रुप परिणमाता है। इसलिये उन्हे औदारिक वर्गणा कहते है। किन्तु औदा-रिक शरीर की ग्रहणयोग्य वर्गणाओ मे यह वर्गणा सबसे जघन्य होती है, उसके ऊपर एक-एक परमाणु बढते स्कंधो की पहली, दूसरी, तीसरी आदि अनन्त वर्गणायें औदारिक शरीर के ग्रहण योग्य होती है। जिससे औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा से अनन्तवें

व्यापी होने से उसकी अवगाहना लोकप्रमाण होगी। वर्गणा और स्कध को जहाँ एकार्थक कहा गया हो वहाँ तो अवगहना सबधी आपत्ति नही। किन्तु जहा स्वजातीय स्कधो के समूह का नाम वर्गणा कहा जाये वहा अवगाहना स्कन्ध की ली जाये तो बराबर एकरूपता बनती है। अत कर्मग्रन्थ की टीका के अनुसार स्कध की अवगाहना लेना चाहिये किन्तु वर्गणा की नही।

भाग अधिक परमाणु वाली औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस अनन्तवे भाग में अनन्त परमाणु होते है। अतः जघन्य वर्गणा से लेकर उत्कृष्ट वर्गणा पर्यन्त अनन्त वर्गणायें औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य जानना चाहिये।

औदारिक शरीर की उत्कृष्ट वर्गणा से ऊपर एक-एक परमाणु वढते स्कन्धों से वनने वाली वर्गणाये औदारिक की अपेक्षा से अधिक प्रदेश वाली और सूक्ष्म होती है, जिससे औदारिक के ग्रहण-योग्य नही होती है और जिन स्कन्धों से वैक्रिय शरीर वनता है, उनकी अपेक्षा से अल्प प्रदेश वाली और स्थूल होती है जिससे वे वैक्रिय शरीर के ग्रहण-योग्य नही होती हैं। इस प्रकार औदारिक शरीर की उत्कृष्ट वर्गणा के ऊपर एक-एक परमाणु वढते स्कंधों की अनन्त अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। जैसे औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा से उसी की उत्कृष्ट वर्गणा अनंतवे भाग अधिक है, वैसे ही अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा से उसकी उत्कृष्ट वर्गणा अनंतगुणी है। इस गुणाकार का प्रमाण अभव्य राशि से अनंतगुणा और सिद्धराशि का अनंतवा भाग है।

इस अग्रहणयोग्य वर्गणा के ऊपर पुन: ग्रहणयोग्य वर्गणा आती है और ग्रहणयोग्य वर्गणा के ऊपर अग्रहणयोग्य वर्गणा। इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे से अन्तरित है।

इस प्रकार से औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य वर्गणाओं का कथन करने के वाद वैक्रिय आदि की ग्रहणयोग्य, अग्रहण-योग्य वर्गणाओ का स्पष्टीकरण करते है।

एमेव विउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मे।
सुहुमा कमावगाहो ऊणूणगुलअसंखंसो ॥ ७६ ॥

शब्दार्थ—एमेव—पूर्वोक्त के समान, विउव्वाहारतेयभासाणु-पाणमणकम्मे—वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन

और कार्मण वर्गणा है, **सुहुमा**—सूक्ष्म, **कम**—अनुक्रम से, **अवगाहो**—अवगाहना, **ऊणूण**—न्यून-न्यून, **अगुलअसंखंसो**—अंगुल के असंख्यातवं भाग।

गाथार्थ—पूर्वोक्त के समान ही वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कार्मण वर्गणायें होती है। ये औदारिकादि वर्गणायें क्रमशः सूक्ष्म समझना चाहिये और उनकी अवगाहना उत्तरोत्तर न्यून-न्यून अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य वर्गणा का और उसकी अग्रहणयोग्य वर्गणा का स्वरूप बतला आये है। इस गाथा में उसके बाद की वर्गणाओं का निर्देश कर उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। पौद्गलिक वर्गणाओं के आठ प्रकार है—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कार्मण। ये आठों वर्गणायें प्रत्येक ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य होती है, जिससे कुल मिलाकर सोलह भेद हो जाते है। इन सोलह वर्गणाओं में से प्रत्येक के जघन्य और उत्कृष्ट दो मुख्य विकल्प होते है और जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त अनंत मध्यम विकल्प होते है। ग्रहण वर्गणा के जघन्य से उसका उत्कृष्ट अनंतवें भाग अधिक होता है और अग्रहण वर्गणा के जघन्य से उसका उत्कृष्ट अनन्त गुणा होता है।

मनुष्य और तिर्यंचों के स्थूल शरीर को औदारिक कहते है और जिन पुद्गल वर्गणाओं से यह शरीर बनता है, वे वर्गणायें औदारिक की ग्रहणयोग्य कही जाती है।

देव और नारको के शरीर को वैक्रिय कहते है। जिन वर्गणाओं से यह शरीर बनता है वे वर्गणायें वैक्रिय की ग्रहणयोग्य कही जाती है। प्रकार आगे भी समझना चाहिये। जो शरीर चौदह पूर्व के पाठी

मुनि के द्वारा ही रचा जा सके, उसे आहारक शरीर कहते है। जो शरीर भोजन पचाने में हेतु और दीप्ति का निमित्त हो, उसे तैजस शरीर कहते है। शब्दोच्चार को भाषा कहते है। बाहर की वायु को शरीर के अन्दर ले जाना और अन्दर की वायु को बाहर निकालना श्वासोच्छ्वास कहा जाता है। विचार करने के साधन को मन कहते है। कर्मों के पिंड को कार्मण—कर्म शरीर कहते है।

ये वर्गणाये क्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती है। अर्थात् औदारिक से वैक्रिय, वैक्रिय से आहारक, आहारक से तैजस। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय मे शरीरों का वर्णन करते हुए इसी प्रकार बतलाया है—परंपरं सूक्ष्मम् (२।७)। यद्यपि ये शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म है तथापि उनके निर्माण में अधिक-अधिक परमाणुओ का उपयोग होता है। जैसे रुई, लकडी, मिट्टी, पत्थर और लोहा अमुक परिमाण में लेने पर भी रुई से लकडी का आकार छोटा होगा, लकडी से मिट्टी का आकार छोटा होगा, मिट्टी से पत्थर का आकार छोटा होगा और पत्थर से लोहे का आकार छोटा होगा। लेकिन आकार में छोटे होने पर भी ये वस्तुये उत्तरोत्तर ठोस और वजनी होती है। वैसे ही औदारिक शरीर जिन पुद्गल वर्गणाओ से बनता है, वे रुई की तरह अल्प परिमाण वाली किन्तु आकार मे स्थूल होती है। वैक्रिय शरीर जिन पुद्गल वर्गणाओ से बनता है वे लकड़ी की तरह औदारिक योग्य वर्गणाओ से अधिक परमाणु वाली किन्तु अल्प परिमाण वाली है। इसी प्रकार आगे-आगे की वर्गणाओ के बारे में भी समझना चाहिये कि आगे-आगे की वर्गणाओ में परमाणुओ की संख्या बढ़ती जाती है किंतु आकार सूक्ष्म, सूक्ष्मतर होता जाता है। इसीलिये उनकी अवगाहना अर्थात् लम्बाई-चौड़ाई वगैरह सामान्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बताई है और वह अंगुल का असंख्यातवां भाग उत्तरोत्तर हीन-हीन है। इसका कारण यह है कि ज्यों-ज्यों पर-

माणुओं का संघात होता है त्यों-त्यों उनका सूक्ष्म, सूक्ष्मतर रूप परिमाण होता है।

औदारिक आदि वर्गणाओ की अवगाहना जो उत्तरोत्तर हीन-हीन अंगुल के असंख्यातवे भाग कही है वह पूर्व की अपेक्षा क्रम से एक के वाद दूसरी उत्तरोत्तर असंख्यातवा भाग हीन समझना चाहिये। इस न्यूनतर की वजह से ही अल्प परमाणु वाले औदारिक शरीर के दिखने पर भी उसके साथ विद्यमान रहने वाले तैजस और कार्मण शरीर उससे कई गुने परमाणु वाले होने पर भी दिखाई नही देते है।

तैजस वर्गणा के वाद भाषा, श्वासोच्छ्वास और मनोवर्गणा का उल्लेख करके सवसे अंत में कार्मण वर्गणा को रखा है, इसका कारण यह है कि तैजस वर्गणा से भी भाषा आदि वर्गणाये अधिक सूक्ष्म है। अर्थात् तैजस शरीर की ग्रहणयोग्य वर्गणाओ से वे वर्गणाये अधिकसूक्ष्म है जो वातचीत करते समय शब्द रूप परिणत होती है, उनसे भी वे वर्गणाये सूक्ष्म है जो श्वासोच्छ्वास रूप परिणत होती है। श्वासोच्छ्वास वर्गणा से भी मानसिक चिन्तन का आधार वनने वाली मनोवर्गणायें और अधिक सूक्ष्म है। कर्मवर्गणा मनोवर्गणा से भी सूक्ष्म है। इससे यह अनुमान हो जाए कि वे कितनी अधिक सूक्ष्म है किन्तु उनमें परमाणुओं की संख्या कितनी अधिक होती है।

औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य वर्गणाओ का विववेचन पूर्व गाथा मे किया जा चुका है। शेप रही वैक्रिय आदि की ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य वर्गणाओं को यहां स्पष्ट करते हैं।

औदारिक शरीर की अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कंधों के परमाणुओ से एक अधिक परमाणु जिन स्कंधों में पाये जाते है उन स्कंधो की समूह रूप वर्गणा वैक्रिय शरीर की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। इस जघन्य वर्गणा के स्कंध के प्रदेशों से एक अधिक ...ण जिस-जिस स्कंध में पाया जाता है उनका समूह रूप दूसरी

वर्गणा वैक्रिय शरीर की ग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। इसी प्रकार एक-एक प्रदेश अधिक स्कंधों की अनन्त वर्गणायें वैक्रिय शरीर की ग्रहणयोग्य होती है। वैक्रिय शरीर की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा से उसके अनन्तवें भाग अधिक वैक्रिय शरीर की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

वैक्रिय शरीर की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक प्रदेश अधिक स्कंधो की जो वर्गणा है वह वैक्रिय शरीर की अपेक्षा से वहुत प्रदेश वाली और सूक्ष्म होती है तथा आहारक शरीर की अपेक्षा से कम प्रदेश वाली और स्थूल होती है। अतः वैक्रिय और आहारक शरीर के लायक न होने से उसे अग्रहणवर्गणा कहते है। यह जघन्य अग्रहण वर्गणा है। उसके ऊपर एक-एक प्रदेश वढते स्कन्धो की अनन्त वर्गणायें अग्रहणयोग्य है।

अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की जो वर्गणा होती है वह आहारक शरीर की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है और इस जघन्य वर्गणा से अनन्तवे भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धो की आहारक शरीर की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। आहारक शरीर की इस ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक प्रदेश अधिक स्कन्धो की अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है और उसके ऊपर एक-एक प्रदेश वढते-वढ़ते जघन्य वर्गणा से अनन्तगुणे प्रदेशो की वृद्धि होने पर अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। ये वर्गणायें आहारक शरीर की अपेक्षा वहुप्रदेश वाली और सूक्ष्म है और तैजस शरीर की अपेक्षा से अल्प प्रदेश वाली और स्थूल है, अतः ग्रहणयोग्य नहीं है।

इस उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा से एक प्रदेश अधिक स्कन्धो की वर्गणा तैजस शरीर की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है।

उसके ऊपर एक-एक प्रदेश वढते-वढते तैजसशरीरप्रायोग्य जघन्य वर्गणा के अनन्तवे भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धो की उत्कृष्ट वर्गणा होती है। तैजस शरीर की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कन्ध से एक प्रदेश अधिक स्कन्धो की जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है और उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढते-बढते जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणा से अनन्तगुणे अधिक प्रदेश वाले स्कन्धो की उत्कृष्ट अग्रहण-योग्य वर्गणा होती है। ये अनन्त अग्रहणयोग्य वर्गणायें तैजस शरीर की अपेक्षा से बहुत प्रदेश वाली और सूक्ष्म होने तथा भाषा की अपेक्षा स्थूल और अल्प प्रदेश वाली होने से अग्रहणयोग्य है।

उक्त उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा से एक प्रदेश अधिक स्कन्धो की जो वर्गणा होती है वह भाषाप्रायोग्य जघन्य वर्गणा है और उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढते-बढ़ते जघन्य वर्गणा के अनन्तवे भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धों की भाषाप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस प्रकार अनन्त वर्गणायें भाषा की ग्रहणयोग्य होती है। भाषा की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कन्धों से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है और उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढते जघन्य वर्गणा से अनन्तगुणे प्रदेश वाले स्कन्धो की अग्रहण-योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

इस वर्गणा के स्कन्धो से एक प्रदेश अधिक स्कन्धो की वर्गणा श्वासोच्छ्वास की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है और उसके ऊपर एक-एक प्रदेश वढते-वढते जघन्य वर्गणा के स्कन्ध प्रदेशो के अनन्तवें भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धो की श्वासोच्छ्वास की ग्रहण-योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

श्वासोच्छ्वास की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कन्धो से एक 'देश अधिक स्कंधो की अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है और

उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढते-बढते अनन्तगुणे प्रदेश वाले स्कंधों की उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। इस वर्गणा के स्कंधों से एक प्रदेश अधिक स्कंधों की मनोद्रव्य की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। जघन्य वर्गणा के ऊपर एक-एक प्रदेश बढते-बढते जघन्य वर्गणा के स्कंधो के प्रदेशो से अनन्तवे भाग अधिक प्रदेश वाले स्कंधों की मनोद्रव्य की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

मनोद्रव्य की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक प्रदेश अधिक स्कंधों की अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढते-बढते जघन्य वर्गणा के स्कंध प्रदेशों से अनन्तगुणे प्रदेश वाले स्कंधों की अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस उत्कृष्ट वर्गणा के स्कन्ध के प्रदेशो से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की वर्गणा कर्म की ग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है और उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढते जघन्य वर्गणा के अनन्तवें भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धों की कर्म की योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

इस प्रकार से आठ वर्गणा ग्रहणयोग्य और आठ वर्गणा अग्रहणयोग्य होती है। अग्रहण वर्गणायें ग्रहण वर्गणाओं के मध्य में होती है। अर्थात् अग्रहण वर्गणा, औदारिक वर्गणा, अग्रहण वर्गणा, वैक्रिय वर्गणा इत्यादि। जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणा के एक स्कन्ध में जितने परमाणु होते है, उनसे अनन्तगुणे परमाणु उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा के एक-एक स्कन्ध मे होते हैं और जघन्य ग्रहणयोग्य वर्गणा के एक स्कन्ध मे जितने परमाणु होते है उसके अनन्तवें भाग अधिक परमाणु उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य वर्गणा के स्कन्धों मे होते है।

इस समस्त कथन का साराश यह है कि पूर्व-पूर्व की उत्कृष्ट वर्गणा के स्कन्धों मे एक-एक प्रदेश बढने पर आगे-आगे की जघन्य वर्गणा का प्रमाण आता है। अग्राह्य वर्गणा की उत्कृष्ट वर्गणा अपनी

जघन्य वर्गणा से सिद्ध राशि के अनन्तवे भाग गुणित है और ग्राह्य वर्गणा की उत्कृष्ट वर्गणा अपनी जघन्य वर्गणा से अनन्तवे भाग अधिक है।

यहा पर वर्गणाओं के सोलह भेद[1] बताने और उनके कथन करने का उद्देश्य यही है कि जो चीज कर्म रूप परिणत होती है, उसके स्वरूप की रूपरेखा दृष्टि में आ जाये।

ग्रहणयोग्य वर्गणाओं का स्वरूप और उनकी अवगाहना का प्रमाण वतलाकर अब आगे की गाथा में अग्रहण वर्गणाओ के परिमाण का कथन करते है।

इक्किक्कहिया सिद्धाणंतसा अंतरेसु अग्गहणा।
सव्वत्थ जहन्नुचिया नियणतंसाहिया जिट्ठा ॥७७॥

शब्दार्थ — **इक्किक्कहिया**—एक एक परमाणु द्वारा अधिक **सिद्धाणतंसा**—सिद्धो के अनतवें भाग, **अंतरेसु**—अन्तराल मे, **अग्गहणा**—अग्रहणयोग्य वर्गणा, **सव्वत्थं**—सर्व वर्गणाओ पे, **जहन्नुचिया**—जघन्य ग्रहण वर्गणा से, **नियणतंसाहिया**—अपने अनन्तवे भाग अधिक, **जिट्ठा**—उत्कृष्ट वर्गणा।

---

१ पचसग्रह मे भी कर्मग्रन्थ के समान ही वर्गणाओ का निरूपण किया है। वहा १६ वर्गणाओ से आगे की वर्गणाओ को इस प्रकार बताया है—

कम्मोवरिं धुवेयरसुण्णा पत्तेयसुण्णवायरिया।
सुण्णा सुहुमा सुण्णा महखधो सगुणनामाओ। —बधनकरण १६

कर्मवर्गणा मे ऊपर ध्रुववर्गणा, अध्रुववर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, शून्यवर्गणा, वादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा और महास्कध वर्गणा होती है।

कर्मप्रकृति और गो० जीवकाड मे भी कुछ सामान्य से नामभेद के साथ यही वर्गणायें कही हैं।

गाथार्थ—औदारिक आदि वर्गणाओं के मध्य में एक-एक परमाणु द्वारा अधिक सिद्धों के अनंतवे भाग परिमाण वाली अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। औदारिक आदि सभी वर्गणाओ का उत्कृष्ट अपने-अपने योग्य जघन्य से अनंतवे भाग अधिक होता है।

विशेषार्थ पूर्व की दो गाथाओ मे ग्रणहयोग्य वर्गणाओ के नाम और उनकी अवगाहना का प्रमाण बतलाया है और यह भी कहा है कि ग्रहणयोग्य वर्गणाये अग्रहणयोग्य वर्गणाओ से अन्तरित होती है। इस गाथा में अग्रहणयोग्य वर्गणाओ का प्रमाण और ग्रहणयोग्य वर्गणाओ के जघन्य और उत्कृष्ट भेदों का अन्तर बतलाया है।

यद्यपि पूर्व में ग्रहणयोग्य वर्गणाओ का विचार करते समय अग्रहणयोग्य वर्गणाओं के प्रमाण का भी संकेत कर आये है, तथापि संक्षेप में पुन यहा स्पष्ट कर देते है कि उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य वर्गणा के प्रत्येक स्कन्ध मे जितने परमाणु होते है, उनमे एक अधिक परमाणु वाले स्कन्धो के समूह की अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। इसके बाद दो अधिक परमाणु वाले स्कन्धो के समूह की दूसरी अग्रहणयोग्य वर्गणा जानना चाहिए। इसी प्रकार तीन अधिक, चार अधिक, आदि तीसरी, चौथी आदि अग्रहणयोग्य वर्गणाये समझ लेना चाहिए।

अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा के एक स्कन्ध मे जितने परमाणु हो उनको सिद्धराशि के अनन्तवे भाग से गुणा करने पर जो प्रमाण आता है, उतने परमाणु वाले स्कन्धों के समूह की अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इसीलिये प्रत्येक अग्रहणयोग्य वर्गणा की संख्या सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग बतलाई है। क्योंकि जघन्य अग्रहण वर्गणा के एक स्कन्ध मे जितने परमाणु होते है वे सिद्धराशि के अनन्तवे भाग से गुणा करने पर आते है। इसीलिये जघन्य से लेकर उत्कृष्ट तक

वर्गणा के उतने ही विकल्प होते है यानी अग्रहण वर्गणा के जो अनन्त भेद होते है, वे भेद प्रत्येक अग्रहण वर्गणा के जानना चाहिये। न कि कुल अग्रहण वर्गणाये सिद्धराशि के अनन्तवे भाग प्रमाण है।

अग्रहण वर्गणाओ के वारे मे दूसरी वात यह भी जानना चाहिये कि ये ग्रहण वर्गणाओ के अन्तराल में ग्रहण वर्गणा के बाद अग्रहण वर्गणा और अग्रहण वर्गणा के बाद ग्रहण वर्गणा, इस क्रम से होती हे। ऐसा नही है कि उनमें से कुछ वर्गणाये औदारिक वर्गणा से पहले होती है और कुछ बाद में। इसी प्रकार वैक्रिय आदि की ग्रहणयोग्य वर्गणाओ के वारे मे समझना चाहिये।

अग्रहण वर्गणाओ का उत्कृष्ट अपने-अपने जघन्य से सिद्ध राशि के अनन्तवे भाग गुणित है और ग्रहणयोग्य वर्गणाओं का उत्कृष्ट अपने-अपने जघन्य से अनन्तवे भाग अधिक है। यानी जघन्य ग्रहणयोग्य स्कन्ध से अनन्तवे भाग अधिक परमाणु उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य स्कन्ध में होते है।

इस प्रकार से वर्गणाओ का ग्राह्य-अग्राह्य, उत्कृष्ट-जघन्य आदि सभी प्रकारो से विवेचन किये जाने के पश्चात् अब आगे की गाथा में जीव जिस प्रकार के कर्मस्कन्ध को ग्रहण करता है, उसे बतलाते है।

अंतिमचउफासदुगंधपचवन्नरसकम्मखंधदल।
सव्वजियणतगुणरसम्णुजुत्तमणंतयपएस ॥७८॥
एगपएसोगाढं नियसव्वपएसउ गहेइ जिऊ।

शब्दार्थ **अन्तिमचउफास**—अन्त मे चार स्पर्श, **दुगंध**—दो गध, **पंचवन्नरस**—पाच वर्ण और पाच रम वाले, **कम्मखधदल**—कर्मस्कन्ध दलिको को, **सव्वजियणतगुणरसं**—सर्व जीवो से भी अनन्त गुणे रम वाले, **अणुजुत्तं**—अणुओ से युक्त, **अणंतयपएसं**—अनन्त प्रदेश वाले, **एगपएसोगाढं**—एक क्षेत्र मे अवगाढ रूप मे विद्य-

मान, नियसव्वपएसउ—अपने समस्त प्रदेशो द्वारा, गहेइ—ग्रहण करता है, जिउ—जीव ।

गाथार्थ—अन्त के चार स्पर्श, दो गंध, पांच वर्ण और पाच रस वाले सब जीवों से भी अनन्त गुणे रस वाले अणुओं से युक्त अनन्त प्रदेश वाले और एक क्षेत्र में अवगाढ रूप से विद्यमान कर्मस्कन्धो को जीव अपने सर्व प्रदेशों द्वारा ग्रहण करता है ।

विशेषार्थ—गाथा में जीव द्वारा ग्रहण किये जाने वाले कर्मस्कन्धों का स्वरूप बतलाते हुए यह स्पष्ट किया है कि जीव किस क्षेत्र में रहने वाले कर्मस्कन्धों को ग्रहण करता है और उनके ग्रहण की क्या प्रक्रिया है ।

जीव द्वारा जो कर्मस्कन्ध ग्रहण किये जाते है वे पौद्गलिक है अर्थात् पुद्गल परमाणुओ का समूहविशेष है । इसीलिए उनमे भी पुद्गल के गुण—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाये जाते है । अर्थात् जैसे पुद्गल रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला है वैसे ही कर्मस्कन्ध भी रूप आदि वाले होने से पुद्गलजातीय है ।

एक परमाणु में पाच प्रकार के रसों में से कोई एक रस, पाच प्रकार के रूपो मे से कोई एक रूप, दो प्रकार की गंधों मे से कोई एक गंध और आठ प्रकार के स्पर्शों—गुरु-लघु, कोमल-कठोर, शीत-उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष मे से दो अविरुद्ध स्पर्श होते है ।[1]

---

[1] कारणमेव तदन्त्य सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणु. ।
एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्श कार्यलिङ्गश्च ॥

—तत्त्वार्थभाष्य मे उद्धृत

परमाणु किसी से उत्पन्न नही होता है किन्तु दूसरी वस्तुओ को

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

इस प्रकार से एक परमाणु में एक रूप, एक रस, एक गंध और अंत के चार स्पर्शों में से दो स्पर्श होते है किन्तु इन परमाणुओ के समूह से जो स्कन्ध तैयार होते है, उनमें पांचों वर्ण, पाचों रस, दोनो गंध और चार स्पर्श हो सकते है। क्योंकि उस स्कन्ध में बहुत से परमाणु होते है और उन परमाणुओं में से कोई किसी रूप वाला, कोई किसी रस वाला, कोई किसी गंध वाला होता है तथा किसी परमाणु मे अंत के चार स्पर्शों—शीत-उष्ण और स्निग्ध-रूक्ष-में से स्निग्ध और उष्ण स्पर्श पाया जाता है और किसी में रूक्ष और शीत स्पर्श पाया जाता है। इसीलिये कर्मस्कन्धों को पंच वर्ण, पंच रस, दो गंध और चार स्पर्श वाला कहा जाता है। इसी कारण ग्रन्थकार ने कर्मस्कन्ध को अंत के चार स्पर्श[1] दो गंध, पांच वर्ण और पांच रस वाला वतलाया है।

कर्मस्कन्धों को चतुःस्पर्शी कहने का कारण यह है कि स्पर्श के जो आठ भेद बतलाये गये है उनमें से आहारक शरीर के योग्य ग्रहण वर्गणा तक के स्कन्धों में तो आठो स्पर्श पाये जाते है किन्तु उससे

उत्पन्न करने वाला होने से कारण है। उससे छोटी दूसरी कोई वस्तु नही है, अत वह अन्त्य है। सूक्ष्म है, नित्य है तथा एक रस, एक गध, एक वर्ण और दो स्पर्श वाला है। उसके कार्य को देखकर उसका अनुमान ही किया जा सकता है किन्तु प्रत्यक्ष नही होता है।

परमाणु मे शीत और उष्ण मे से एक तथा स्निग्ध और रूक्ष मे से एक, इस प्रकार दो स्पर्श होते है।

१ कर्मग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका मे लिखा है कि वृहत्शतक की टीका म वतलाया है कि कर्मस्कन्ध मे मृदु और लघु स्पर्श तो अवश्य रहते है। इनके सिवाय स्निग्ध, उष्ण अथवा स्निग्ध, शीत अथवा रूक्ष, उष्ण अथवा रूक्ष, शीत मे से दो स्पर्श और रहते है। इसीलिये एक कर्मस्कन्ध मे चार स्पर्श वतलाये जाते हैं।

ऊपर तैजसशरीर आदि प्रायोग्य वर्गणाओं के स्कन्धो में केवल चार ही स्पर्श होते है—

पञ्चरसपञ्चवण्णेहिं परिणया अट्ठफास दो गंधा।
जीवाहारगजोग्गा चउफासविसेसिया उवरिं ॥[1]

अर्थात् जीव के ग्रहण योग्य औदारिक आदि वर्गणाये पाच रस, पाच वर्ण, आठ स्पर्श और दो गंध वाली होती है, किन्तु ऊपर की तैजस शरीर आदि के योग्य ग्रहण वर्गणाये चार स्पर्श वाली होती है।

द्रव्यो के दो भेद है—गुरुलघु और अगुरुलघु। इन दो भेदो मे वर्गणाओ का वटवारा करते हुए आवश्यक नियुक्ति में लिखा है—

ओरालियवेउव्वियआहारयतेय गुरुलहूदव्वा।
कम्मगमणभासाइं एयाइं अगुरुलहुयाइं ॥४१॥

औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस द्रव्य गुरुलघु है और कार्मण, भापा और मनोद्रव्य अगुरुलघु है। इन गुरुलघु और अगुरुलघु की पहिचान के लिये द्रव्यलोकप्रकाश सर्ग ११ श्लोक चौवीस[2] मे लिखा है कि आठ स्पर्शवाला वादर रूपी द्रव्य गुरुलघु होता है और चार स्पर्श वाले सूक्ष्म रूपी द्रव्य तथा अमूर्त आकाशादिक भी अगुरुलघु होते है। इसके अनुसार तैजस वर्गणा के गुरुलघु होने से उनमे तो आठ स्पर्श सिद्ध होते है और उसके वाद की भापा, कर्म आदि वर्गओं के अगुरुलघु होने से उनमे चार स्पर्श माने जाते है।

इस प्रकार से अभी तक जीव द्वारा ग्रहण किये जाने वाले कर्म-स्कन्धो के स्वरूप की एक विशेपता वतलाई है कि 'अन्तिम चउफास

---

१ पंचसंग्रह ४१०

२ बादरमष्टस्पर्शं द्रव्यं रूप्येव भवति गुरुलघुकम्।
अगुरुलघु चतुःस्पर्शं सूक्ष्मं वियदाद्यमूर्तमपि॥

दुगंधपंचवन्नरसकम्मखंधदलं' वे कर्मस्कन्ध अन्तिम चार स्पर्श, दो गंध, पाच वर्ण और पाच रस वाले होते है। अव आगे उनकी दूसरी विशेषता का वर्णन करते है कि वे कर्मस्कन्ध - सव्वजियणंतगुणरसं - सर्व जीवराशि से अनन्तगुणे रस के धारक होते है। यहा रस का अर्थ खट्ठे, मीठे आदि पाच प्रकार के रस नही किन्तु उन कर्मस्कन्धों मे शुभाशुभ फल देने की शक्ति है। यह रस प्रत्येक पुद्गल मे पाया जाता है। जिस तरह पुद्गल द्रव्य के सबसे छोटे अंश को परमाणु कहते है, उसी तरह शक्ति के सबसे छोटे अंश को रसाणु कहते है। ये रसाणु बुद्धि के द्वारा खण्ड किये जाने से वनते है।[1] क्योकि जैसे पुद्गल द्रव्य के स्कन्धो के टुकडे किये जा सकते है वैसे उसके अन्दर रहने वाले गुणो के टुकडे नही किये जा सकते है। फिर भी हम दृश्यमान वस्तुओ मे गुणो की हीनाधिकता को बुद्धि के द्वारा सहज मे ही जान लेते है। जैसे कि भैस, गाय और बकरी का दूध हमारे सामने रखा जाये तो उसकी परीक्षा कर कह देते है कि भैस के दूध में चिकनाई अधिक है और गाय के दूध मे उससे कम तथा बकरी के दूध मे तो चिकनाई नही-जैसी है। इस प्रकार से यद्यपि चिकनाई गुण होने से उसके अलग-अलग खण्ड तो नही किये जा सकते है किन्तु उसकी तरतमता का ज्ञान किया जाता है। यह तरतमता ही इस वात को सिद्ध करती

---

१ रसाणु को गुणाणु या भावाणु भी कहते है और ये वुद्धि के द्वारा खण्ड किये जाने पर वनते है। जैसा कि पचसग्रह मे लिखा है—

पञ्चण्ह सरीराण परमाणूण मईए अविभागो।
कप्पियगाणगसो गुणाणु भावाणु वा होंति ॥४१७॥

पाच शरीरो के योग्य परमाणुओ की इस शक्ति का बुद्धि के द्वारा खण्ड करने पर जो अविभागी एक अश होता है, उसे गुणाणु या भावाणु कहते हैं।

है कि बुद्धि द्वारा गुणों के भी अंश हो सकते है और उनके तरतम भाव का ज्ञान किया जाता है।

इन गुणो के अंशों को रसाणु कहते है। ये रसाणु भी सबसे जघन्य रस वाले पुद्गल द्रव्य मे सर्व जीवराशि से अनन्तगुणे होते है।[1] इसीलिए कर्मस्कन्ध को सर्व जीवराशि से अनन्तगुणे रसाणुओ से युक्त कहा है—अणुजुत्तं। ये रसाणु ही जीव के भावो का निमित्त पाकर कटुक या मधुर (अशुभ या शुभ) रूप फल देते है।

कर्मस्कन्धो की तीसरी विशेषता है कि – अणंतयपएसं एक-एक कर्मस्कन्ध अनन्त प्रदेशी होता है। ऐसा नही है कि कर्मस्कन्धो के प्रदेशो की संख्या निश्चित हो। किन्तु प्रत्येक कर्मस्कन्ध अनन्तानन्त प्रदेश वाला है, यानी वह अनन्त परमाणु वाला होता है।

पूर्वोक्त कथन का साराश यह है कि जीव द्वारा ग्रहण किये जाने वाले कर्मस्कन्ध पौद्गलिक है और पौद्गलिक होने से उनमें रूप, रस आदि पौद्गलिक गुण पाये जाते है। उनमे सर्व जीवराशि से भी अनन्तगुणी फलदान शक्ति होती है तथा अनन्त प्रदेशी है। इस प्रकार जीव द्वारा ग्रहण करके योग्य कर्मस्कन्धो का स्वरूप जानना चाहिए।

इस प्रकार कर्मस्कन्धो के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के बाद

---

1 जीवस्सज्झवसाया सुभासुभासंखलोगपरिमाणा।
सव्वजियाणंतगुणा एक्केक्के होंति भावाणू॥ — पंचसंग्रह ४।३६

अनुभाग के कारण जीव के कषायोदय रूप परिणाम दो तरह के होते है—शुभ और अशुभ। शुभ परिणाम असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर होते है और अशुभ परिणाम भी उतने ही होते है। प्रत्येक परिणाम द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलों में सर्व जीवों से अनन्तगुणे भावाणु (रसाणु) होते है।

अब यह बतलाते है कि जीवो द्वारा किस क्षेत्र में रहने वाले कर्मस्कन्धों को ग्रहण किया जाता है और ग्रहण करने की प्रक्रिया क्या है।

प्रारम्भ में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि समस्त लोक पुद्गल-द्रव्य से ठसाठस भरा हुआ है और वह पुद्गल द्रव्य औदारिक आदि अनेक वर्गणाओं मे विभाजित है और पुद्गलात्मक होने से ये समस्त लोक मे पाई जाती है। उक्त वर्गणाओ में ही कर्मवर्गणा भी एक है, अतः कर्मवर्गणा भी लोकव्यापी है। इन लोकव्यापी कर्मवर्गणाओ मे से प्रत्येक जीव उन्ही कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता है जो उसके अत्यन्त निकट होती है—एगपएसोगाढं—यानी जीव के अत्यन्त निकट-तम प्रदेश मे व्याप्त कर्मवर्गणाये जीव द्वारा ग्रहण की जाती है। जैसे आग मे तपाये लोहे के गोले को पानी मे डाल देने पर वह अपने निक-टस्थ जल को ग्रहण करता है किन्तु दूर के जल को ग्रहण नही करता है, वैसे ही जीव भी जिन आकाश प्रदेशों मे स्थित होता है, उ[illegible] आकाश प्रदेशों में रहने वाली कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता है[illegible] जीव द्वारा कर्मो के ग्रहण करने की प्रक्रिया यह है कि जैसे [illegible] हुआ लोहे का गोला जल मे गिरने पर चारों ओर से पानी को [illegible] है वैसे ही जीव भी सर्व आत्मप्रदेशों से कर्मो को ग्रहण क[illegible]

---

१ (क) एयक्खेत्तोगाढ [illegible] देसेहिं कम्मणो जोग्ग।
वधदि मग[illegible] [illegible] सादिय उभय ॥ —गो० [illegible]
एक अ[illegible] [illegible] कर्मरूप होने के योग्य अन[illegible]
और उभयरू[illegible] [illegible]व सब प्रदेशो मे कारण [illegible]
बांधता है।

(ख) एगपएसोगाढे [illegible] ।
जीवो पोग्गलदव्वे [illegible] —पंचसग्र
[illegible] एक क्षेत्र मे स्थित अथवा
[illegible] को जीव अपने समस्त

ऐसा नही होता है कि आत्मा के अमुक हिस्से से ही कर्मों का ग्रहण किया जाता हो। इसी बात को बतलाने के लिए गाथा मे कहा है—नियसव्वपएसउ गहेइ जिउ—यानी जीव अपने अमुक हिस्से द्वारा ही किसी निश्चित क्षेत्र में स्थिति कर्मस्कन्धो का ग्रहण नही करके समस्त आत्म-प्रदेशो द्वारा कर्मों का ग्रहण करता है।

इस प्रकार से जीव के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले कर्मस्कन्धो का स्वरूप और उनके ग्रहण करने की प्रक्रिया आदि का कथन करने के पश्चात अब आगे यह स्पष्ट करते है कि जीव द्वारा ग्रहण किये गये कर्मस्कन्धो का किस क्रम से विभाग होता है।

थेवो आउ तदंसो नामे गोए समो अहिउ ॥७९॥
विग्घावरणे मोहे सव्वोवरि वेयणीय जेणप्पे।
तस्स फुडत्त न हवइ ठिईविसेसेण सेसाण ॥८०॥

शब्दार्थ—**थेवो**—सबसे अल्प, **आउ**—आयुकर्म का, **तदंसो**—उसका अंश, **नामे**—नामकर्म का, **गोए**—गोत्रकर्म का, **समो**—समान, **अहिउ**—विशेषाधिक, **विग्घावरणे**—अन्तराय और आवरणद्विक का, **मोहे**—मोह का, **सव्वोवरि**—सबसे अधिक, **वेयणीय**—वेदनीय कर्म का, **जेण**—जिस कारण से, **अप्पे**—अल्पदलिक होने पर, **तस्स**—उसका (वेदनीय का), **फुडत्त**—स्पष्ट रीति से अनुभव, **न हवइ**—नही होता है, **ठिईविसेसेण**—स्थिति की अपेक्षा से, **सेसाण**—शेष कर्मों का।

गाथार्थ—आयुकर्म का हिस्सा सबसे थोडा है। नाम और गोत्र कर्म का भाग आपस मे समान है किन्तु आयुकर्म के भाग से अधिक है, अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण का हिस्सा आपस में समान है किन्तु नाम और गोत्र के हिस्से से अधिक है। मोहनीय का हिस्सा उनसे अधिक है और

सबसे अधिक वेदनीय कर्म का भाग है। क्योंकि थोडे द्रव्य के होने पर वेदनीय कर्म का अनुभव स्पष्ट रीति से नही हो सकता है। वेदनीय के अलावा शेष सातों कर्मों को अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार भाग मिलता है।

विशेषार्थ—इस गाथा मे जीव द्वारा ग्रहण किये गये कर्मस्कन्धो का ज्ञानावरण आदि प्रकृतियों में विभाजित होने को बतलाया है।

जिस प्रकार भोजन के पेट मे जाने के बाद कालक्रम से वह रस, रुधिर आदि रूप हो जाता है, उसी प्रकार जीव द्वारा प्रति समय ग्रहण की जा रही कर्मवर्गणायें भी उसी समय उतने हिस्सो मे बंट जाती है जितने कर्मों का बंध उस समय उस जीव ने किया है।

पूर्व में यह बतलाया जा चुका है कि प्रति समय जीव द्वारा कर्मस्कन्धों का ग्रहण होता रहता है, लेकिन यह भी स्पष्ट किया है कि आयुकर्म का बंध सर्वदा न होकर भुज्यमान आयु के त्रिभाग में होता है तथा वह भी अन्तर्मुहूर्त तक होता है। इन त्रिभागों में भी बंध न हो तो अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर अवश्य भी परभव की आयु का बंध हो जाता है। अतः जिस समय जीव आयुकर्म का बंध करता है उस समय तो ग्रहण किये जाने वाले कर्मस्कन्ध आयुकर्म सहित ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों में विभाजित हो जाते है यानी उनके आठ भाग हो जाते हैं और जिस समय आयु का बंध नही होता है, उस समय ग्रहण किये गये कर्मस्कन्ध आयुकर्म को छोडकर शेष ज्ञानावरण आदि सात कर्मों मे विभाजित होते है।

यह तो हुआ एक सामान्य नियम। लेकिन गुणस्थानक्रमारोहण के समय जब जीव दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान को प्राप्त कर लेता तब आयु और मोहनीय कर्म के सिवाय शेष छह कर्मों का बंध करता अतः उस समय गृहीत कर्मस्कन्ध सिर्फ छह कर्मों मे ही विभाजित

होते है और ग्यारहवे आदि गुणस्थानो से एक सातावेदनीय कर्म का बंध होता है। अतः उस समय ग्रहण किये हुए कर्मस्कन्ध उस एक कर्म रूप ही हो जाते है।

इस प्रकार ग्रहण किये हुए कर्मस्कन्धो का आठो कर्मों मे विभाजित होने का क्रम समझना चाहिये। अब प्रत्येक कर्म को मिलने वाले हिस्से का स्पष्टीकरण करते है कि अपनी-अपनी कालस्थिति के अनुसार प्रत्येक कर्म को ग्रहण किये हुए कर्मस्कन्धो का हिस्सा मिलता है। यानी जिस कर्म की स्थिति कम है तो उसे कम और अधिक स्थिति है तो उसे अधिक हिस्सा मिलेगा। लेकिन यह सामान्य नियम वेदनीय कर्म को छोडकर शेष सात कर्मों पर लागू होता है। वेदनीय कर्म को अधिक हिस्सा मिलने के कारण को आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

सबसे कम स्थिति आयुकर्म की होने से सर्वप्रथम आयुकर्म से कर्मस्कन्धों के विभाजन को स्पष्ट किया जा रहा है कि—'थेवो आउ' आयुकर्म का भाग सबसे थोडा है। इसका कारण यह है कि आयुकर्म की स्थिति सिर्फ तेतीस सागर है जबकि नाम, गोत्र आदि शेष सात कर्मों मे से किसी की बीस कोड़ाकोडी सागर, किसी की तीस कोडाकोडी सागर और किसी की सत्तर कोडाकोडी सागर की उत्कृष्ट स्थिति है। अतः अन्य कर्मों की स्थिति की अपेक्षा आयुकर्म की स्थिति सबसे कम होने से आयुकर्म को ग्रहण किये गये कर्मस्कन्धो का सबसे कम भाग मिलता है।

आयुकर्म से नाम और गोत्र कर्म का हिस्सा अधिक है। क्योंकि आयुकर्म की स्थिति तो सिर्फ तेतीस सागर ही है, जबकि नाम और गोत्र कर्म की स्थिति बीस कोड़ाकोडी सागर प्रमाण है। नाम और गोत्र कर्म की स्थिति समान है अतः उनको हिस्सा भी बराबर-बराबर मिलता है—'नामे गोए समो'। अन्तराय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मों को [illegible]

और गोत्र कर्म से अधिक हिस्सा मिलता है। क्योंकि नाम और गोत्र कर्म की स्थिति तो बीस-बीस कोड़ाकोड़ी सागर है जबकि अन्तराय आदि तीन कर्मों मे से प्रत्येक की स्थिति तीस-तीस कोडाकोडी सागर है। लेकिन इन तीनों कर्मों की स्थिति समान होने से उनका भाग आपस में बराबर-बराबर है। इन तीनो कर्मों से मोहनीय कर्म का भाग अधिक है, क्योकि उसकी स्थिति सत्तर कोड़ाकोडी सागर की है।

इस प्रकार वेदनीय कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों को उनकी स्थिति के अनुसार क्रमश' अधिक पुद्गलस्कन्धों के प्राप्त होने को बतलाया। अव वेदनीय कर्म को अधिक द्रव्य मिलने के कारण को स्पष्ट करते है – सव्वोवरि वेयणीय। क्योंकि बहुत द्रव्य के विना वेदनीय कर्म के सुख-दुःख आदि का अनुभव स्पष्ट नही होता है। अल्प द्रव्य मिलने पर वेदनीय कर्म अपने सुख-दु'ख का वेदन कराने रूप कार्य करने मे समर्थ नही होता है—जेणप्पे तस्स फुडत्त' न हवई। किन्तु अधिक द्रव्य मिलने पर ही वह अपना कार्य करने मे समर्थ है।[1] वेदनीय कर्म को अधिक द्रव्य मिलने का कारण यह है कि सुख-दु.ख के निमित्त से वेदनीय कर्म की निर्जरा अधिक होती है। अर्थात् प्रत्येक जीव प्रतिसमय सुख-दुःख का वेदन करता है, जिससे वेदनीय कर्म का उदय प्रतिक्षण होने से उसकी निर्जरा भी अधिक होती है। इसी-

---

१ कमसो वुड्ढठिईण भागो दलियस्स होइ सविसेसो।
तइयस्स सव्वजेट्ठो तस्स फुडत्त जओणप्पे॥

—पंचसग्रह २-५

अधिक स्थिति वाले कर्मों का भाग क्रम मे अधिक होता है किन्तु वेदनीय का भाग सवमे ज्येष्ठ होता है क्योंकि अल्प दल होने पर उसका व्यक्त अनुभव नही हो सकता है।

लिए उसका द्रव्य सबसे अधिक होता है।[1] इसी से वेदनीय कर्म की स्थिति बीस कोडाकोडी सागर होने पर भी उसे सबसे अधिक भाग[2] मिलता है।

इस प्रकार से मूल प्रकृतियो में कर्मस्कन्धो के विभाग को बतलाकर अब आगे की गाथा मे उत्तर प्रकृतियों में उसका क्रम बतलाते है।

नियजाइलद्धदलियाणंतसो होइ सव्वघाईण।
बज्झतीण विभज्जइ सेस सेसाण पइसमय ॥८१॥

शब्दार्थ—**नियजाइलद्धदलिय**—अपनी मूल प्रकृति रूप जाति द्वारा प्राप्त किये गये कर्म दलिको का, **अणंतसो**—अनन्तवा भाग, **होई**—होता है, **सव्वघाईण**—सर्वघाती प्रकृतियो का, **बज्झतीण**—बधने वाला, **विभज्जइ**—विभाजित होता है, **सेस** शेष भाग, **सेसाण**—बाकी की प्रकृतियो मे, **पइसमयं**—प्रत्येक समय मे।

गाथार्थ—अपनी-अपनी मूल प्रकृति द्वारा प्राप्त किये गये कर्मदलिकों का अनन्तवा भाग सर्वघाति प्रकृतियो को प्राप्त होता है और शेष बचा हुआ हिस्सा प्रतिसमय बंधने वाली प्रकृतियों मे विभाजित हो जाता है।

विशेषार्थ—गाथा मे यह बताया गया है कि मूल कर्मप्रकृतियो को प्राप्त होने वाला पुद्गल द्रव्य ही उन-उन कर्मों की उत्तर प्रकृतियो में विभाजित होकर उन्हे प्राप्त होता है। क्योकि उत्तर प्रकृतियां के

1 [illegible]णिमित्तादो बहुणिज्जरगोत्ति वेयणीयस्स।
[illegible] होदित्ति णिद्दिट्ठं॥
— गो० कर्मकाड १९३

2 [illegible] अनुसार कर्मों को [illegible] अधिक भाग मिलने की रीति [illegible] [illegible] स्पष्ट किया गया है। [illegible] परिशिष्ट मे दी [illegible] है।

सिवाय मूल प्रकृति नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नही है। लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिये कि जिस प्रकार गृहीत पुद्गल द्रव्य उन्ही कर्मों मे विभाजित होता है जिन कर्मों का उस समय बंध होता है, उसी प्रकार प्रत्येक मूल प्रकृति को जो भाग मिलता है, वह भाग भी उसकी उन्ही उत्तर प्रकृतियों में विभाजित होता है, जिनका उस समय बंध होता है और जो प्रकृतिया उस समय नही बंधती है, उनको उस समय भाग भी नही मिलता है।[1]

ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिकर्म है और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र यह चार अघातिकर्म है। घातिकर्मों की कुछ उत्तर प्रकृतिया सर्वघातिनी होती है और कुछ देशघातिनी। गाथा में सर्वघातिनी और देशघातिनी प्रकृतियों को लक्ष्य में रखकर प्राप्त द्रव्य के विभाग को बतलाया है कि—अणंतंसो होई सव्वघाईणं—घातिकर्मों को जो भाग प्राप्त होता है, उसका अनन्तवा भाग सर्वघातिनी प्रकृतियों में और शेष बहुभाग बंधने वाली देशघाति प्रकृतियो में विभाजित हो जाता है[2]—बज्झंतीण विभज्जइ सेसं सेसाण पइसमयं।

---

१ ज समय जावइयाइ बधए ताण एरिस विहीए।
पत्तेय पत्तेय भागे निव्वत्तए जीवो ॥ —पंचसग्रह २८८

२ (क) ज सव्वघातिपत्त सगकम्मपएसणतमो भागो।
आवरणाण चउद्धा तिहा य अह पंचहा विग्घे ॥
—कर्मप्रकृति, बंधनकरण, गा० २५

जो कर्मदलिक सर्वघाति प्रकृतियो को मिलता है, वह अपनी-अपनी मूल प्रकृति को मिलने वाले भाग का अनन्तवा भाग होता है और शेष द्रव्य का बटवारा देशघातिनी प्रकृतियो मे हो जाता है। अत ज्ञानावरण का शेष द्रव्य चार भागो मे विभाजित होकर उसकी चार देश-

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि ज्ञानावरण की उत्तर प्रकृतिया पाच है। उनमे से केवलज्ञानावरण प्रकृति सर्वघातिनी है और शेष चार देशघातिनी है। अत: जो पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरण रूप परिणत होता है, उसका अनन्तवां भाग सर्वघाती है अत: वह केवलज्ञानावरण को मिलता है और शेष देशघाती द्रव्य चार देशघाती प्रकृतियों में विभाजित हो जाता है। दर्शनावरण की उत्तर प्रकृतिया नौ है। उनमें केवलदर्शनावरण और निद्रा आदि स्त्यानर्द्धि पर्यन्त पाच निद्रायें सर्वघातिनी है और शेष तीन प्रकृतियां देशघातिनी है। अतः जो द्रव्य दर्शनावरण रूप परिणत होता है उसका अनन्तवा भाग सर्वघाति होने से वह छह सर्वघातिनी प्रकृतियो मे बंट जाता है और शेष द्रव्य तीन देशघातिनी प्रकृतियों में विभाजित हो जाता है।

मोहनीय कर्म को जो भाग मिलता है, उसमें अनन्तवा भाग सर्वघाती है और शेप देशघाती द्रव्य है। मोहनीय कर्म के दो भेद है—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय, अतः प्राप्त सर्वघाती द्रव्य के भी दो भाग हो जाते है। उसमें से एक भाग दर्शनमोहनीय को मिल जाता

घातिनी प्रकृतियो को और दर्शनावरण का शेष द्रव्य तीन भागो मे विभाजित होकर उनकी तीन देशघतिनी प्रकृतियो को मिल जाता है किन्तु अन्तराय कर्म को मिलने वाला भाग पूरा का पूरा पाच भागो मे विभाजित होकर उसकी पाचों देशघातिनी प्रकृतियो को मिलता है, क्योंकि अन्तराय की कोई भी प्रकृति सर्वघातिनी नही है।

(ख) सव्वुक्कोसरसो जो मूलविभागस्सणंतिमो भागो।
सव्वघाईण दिज्जइ सो इयरो देसघाईण॥

—पचसंग्रह ४३४

[illegible] प्रकृति को मिले हुए भाग का अनन्तवा भाग प्रमाण जो [illegible] रस वाला द्रव्य है, वह सर्वघातिनी प्रकृतियों को मिलता है और [illegible] रस वाला द्रव्य देशघातिनी प्रकृतियो को दिया जाता है।

और दूसरा भाग चारित्रमोहनीय को। दर्शनमोहनीय को प्राप्त पूरा भाग उसकी उत्तर प्रकृति मिथ्यात्व को ही मिलता है, क्योंकि वह सर्वघातिनी है। किन्तु चारित्रमोहनीय के प्राप्त भाग के बारह भेद होकर अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, इन बारह भागो मे बंट जाता है। मोहनीय कर्म के देशघाती द्रव्य के दो भाग होते है। उनमे से एक भाग कषायमोहनीय का और दूसरा नोकषाय मोहनीय का होता है। कषायमोहनीय के द्रव्य के चार भाग होकर संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ को मिल जाते है और नोकषाय मोहनीय के पाच भाग होकर क्रमश: तीन वेदो मे से किसी एक बध्यमान वेद को, हास्य और रति के युगल तथा शोक और अरति के युगल में से किसी एक युगल को (युगल मे से प्रत्येक को एक भाग) तथा भय और जुगुप्सा को मिलते है।[1]

---

१ (क) उक्कोसरसस्सद्ध मिच्छे अद्ध तु इयरघाईण।
संजलण नोकसाया सेस अद्धद्धय लेंति॥

—पचसग्रह ४३५

मोहनीय कर्म के सर्वघाति द्रव्य का आधा भाग मिथ्यात्व को मिलता है और आधा भाग बारह कषायो को। शेष देशघाति द्रव्य का आधा भाग सज्वलन कषाय को और आधा भाग नोकषाय को मिलता है।

(ख) मोहे दुहा चउद्धा य पचहा वावि वज्झमाणीण।

—कर्मप्रकृति, बंधनकरण २६

स्थिति के प्रतिभाग के अनुसार मोहनीय को जो भाग मिलता है उसके अनन्तवे भाग सर्वघाति द्रव्य के दो भाग किये जाते हैं। आधा भाग दर्शनमोहनीय को और आधा भाग चारित्रमोहनीय को मिलता है। शेप मूल भाग के भी दो भाग किये जाते हैं, उसमे से आधा भाग कषाय-

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

अन्तराय कर्म को प्राप्त भाग पाच विभागो में विभाजित होकर उसको दान-अन्तराय आदि पांचो उत्तर प्रकृतियो को मिलता है। क्योकि अन्तराय कर्म देशघाती है और ध्रुवबंधी होने के कारण दानान्तराय आदि पाचो प्रकृतिया सदा वंधती है।

घातिकर्मो की उत्तर प्रकृतियों मे प्राप्त द्रव्य के विभाजन को वतलाने के पश्चात अब वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्मों को प्राप्त भाग के विभाग को स्पष्ट करते है।

वेदनीय कर्म की दो उत्तर प्रकृतिया है, किन्तु उनमे से प्रति समय एक ही प्रकृति का वंध होता है, अतः वेदनीय कर्म को जो द्रव्य मिलता है वह उस समय वंधने वाली एक प्रकृति को मिलता है। इसी प्रकार आयुकर्म के वारे में भी समझना चाहिए कि आयुकर्म की एक समय में एक ही उत्तर प्रकृति वंधती है तथा आयुकर्म को जो भाग मिलता है वह उस समय वंधने वाली एक प्रकृति को ही मिल जाता है।

नामकर्म को जो मूल भाग मिलता है वह उसकी वंधने वाली उत्तर प्रकृतियों में विभाजित हो जाता है। अर्थात् गति, जाति, शरीर, उपाग, वंधन, संघात, संहनन, संस्थान आनुपूर्वी, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, पराघात, उद्योत, उपघात, उच्छ्वास, निर्माण, तीर्थंकर, आतप, विहायोगति और त्रसदशक अथवा स्थावरदशक मे से जितनी प्रकृ-

मोहनीय को और आधा भाग नोकषाय मोहनीय को मिलता है। कषाय-मोहनीय को मिलने वाले भाग के पुन चार भाग होते हैं और [illegible] भाग [illegible] क्रोध, मान, माया और लोभ को दिये जाते हैं। [illegible] मोहनीय के पांच भाग होते है। [illegible] तीन वेदों में से किसी एक वेद को, [illegible] और [illegible] के युगलो में से किसी एक युगल [illegible] और जुगुप्सा को दिये जाते है। [illegible] [illegible] होता है।

तियो का एक समय मे बंध होता है, उतने भागों में वह प्राप्त द्रव्य बंट जाता है।

उक्त प्रकृतियों में से कुछ एक के बारे में विशेषता यह है कि वर्ण-चतुष्क को जितना जितना भाग मिलता है वह उनके अवान्तर भेदो में बंट जाता है। जैसे वर्ण नाम को मिलने वाला भाग उसके पाच भागो मे विभाजित होकर शुक्ल आदि भेदों में बंट जाता है। इसी तरह गंध, रस और स्पर्श के अवान्तर भेदों के बारे में भी समझना चाहिए कि उन-उनको प्राप्त भाग उनके अवान्तर भेदो मे विभाजित होता है। संघात और शरीर नामकर्म को जो भाग मिलता है वह तीन या चार भागो में विभाजित होकर संघात और शरीर नाम की तीन या चार प्रकृतियो को मिलता है। संघात और शरीर नाम के तीन या चार भागों में विभाजित होने का कारण यह है कि यदि औदारिक, तैजस और कार्मण अथवा वैक्रिय, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरो और संघातो का एक साथ बंध होता है तो तीन भाग होते है और यदि वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर तथा संघात का बंध होता है तो चार विभाग हो जाते है।

बंधन नाम को प्राप्त होने वाले भाग के यदि तीन शरीरो का वंध हो तो सात भाग होते है और यदि चार शरीरों का वंध हो तो ग्यारह भाग होते है। सात और ग्यारह भाग इस प्रकार जानना चाहिए कि औदारिक-औदारिक, औदारिक-तैजस, औदारिक-कार्मण, औदारिक-तैजस-कार्मण, तैजस-तैजस, तैजस-कार्मण और कार्मण-कार्मण इन सात वंधनो का वंध होने पर सात भाग अथवा वैक्रिय-वैक्रिय, वैक्रिय-तैजस, वैक्रिय-कार्मण, वैक्रिय-तैजस-कार्मण, तैजस-तैजस, तैजस-कार्मण और कार्मण-कार्मण, इन सात वंधनो का वंध होने पर सात भाग होते है और वैक्रियचतुष्क, आहारकचतुष्क तथा तैजस और कार्मण के इस प्रकार ग्यारह वंधनो का वंध होने पर ग्यारह भाग होते हैं।

इसके सिवाय नामकर्म की अन्य प्रकृतियों में कोई अवान्तर विभाग नहीं होने से जो भाग मिलता है वह पूरा बंधने वाली उस एक प्रकृति को ही मिल जाता है। क्योकि अन्य प्रकृतिया आपस मे विरोधिनी है अतः एक का वंध होने पर दूसरी का वंध नही होता है। जैसे कि एक गति का वंध होने पर दूसरी गति का वंध नही होता है। इसी तरह जाति, संस्थान और संहनन भी एक समय में एक ही वंधता है और त्रसदशक का वंध होने पर स्थावरदशक का वंध नही होता है।

गोत्रकर्म को जो भाग मिलता है, वह सवका सव उसकी वंधने वाली एक ही प्रकृति को मिलता है, क्योकि गोत्रकर्म की एक समय मे एक ही प्रकृति वधती है।[1]

इन वंधने वाली प्रकृतियो के विभाग-क्रम मे से जव अपने-अपने गुणस्थानो में किसी प्रकृति का वंधविच्छेद हो जाता है तो उसका भाग सजातीय प्रकृतियों में विभाजित हो जाता है और यदि सजातीय

---

1 वेदनीय, आयु, गोत्र और नाम कर्म के द्रव्य का वटवारा उनकी उत्तर प्रकृतिया मे करने का क्रम कर्मप्रकृति मे इस प्रकार वतलाया है—

वेयणिआउयगोएसु वज्झमाणीण भागो सि ॥
पिंडपगईसु वज्झन्तिगाण वन्नरसगंधफासाणं ।
सव्वासि सघाए तणुम्मि य तिगे चउक्के वा ॥

प्रकृति का भी बंधविच्छेद हो जाये तो उनके हिस्से का द्रव्य उनकी मूल प्रकृति के अन्तर्गत विजातीय प्रकृतियों को मिलता है। यदि उन विजातीय प्रकृतियो का भी बंध रुक जाता है तो उस मूल प्रकृति को द्रव्य न मिलकर अन्य मूल प्रकृतियो को द्रव्य मिल जाता है। जैसे कि स्त्यानर्द्धित्रिक का बंधविच्छेद होने पर उनके हिस्से का द्रव्य उनकी सजातीय प्रकृति निद्रा और प्रचला को मिलता है और निद्रा व प्रचला का भी बंधविच्छेद होने पर उनका द्रव्य अपनी ही मूल प्रकृति के अन्तर्गत चक्षुदर्शनावरण आदि विजातीय प्रकृतियों को मिलता है। उनका भी बंधविच्छेद होने पर ग्यारहवे आदि गुणस्थानो मे सब द्रव्य सातावेदनीय को ही मिलता है। इसी प्रकार अन्य प्रकृतियों के बारे मे भी समझना चाहिए। साराश यह है कि किसी प्रकृति का बंध-विच्छेद होने पर उसका भाग समान जातीय प्रकृति को मिल जात है और उस समान जातीय प्रकृति का भी बंधविच्छेद होने पर मूल प्रकृति के अन्तर्गत उनकी विजातीय प्रकृतियो को मिलता है। यदि उस मूल प्रकृति का ही विच्छेद हो जाये तो विद्यमान अन्य मूल प्रकृतियों को वह द्रव्य प्राप्त होने लगता है।

इस प्रकार बताई गई रीति के अनुसार मूल और उत्तर प्रकृतियों को कर्मदलिक मिलते है[1] और गुणश्रेणि रचना के द्वारा ही जीव उन कर्मदलिको के बहुभाग का क्षपण करता है। अत अब आगे गुणश्रेणि का स्वरूप, उसकी संख्या और नाम बतलाते है। सर्वप्रथम गुणश्रेणि की संख्या और नामो को कहते है कि—

---

१ गो० कर्मकाड गा० १९९ से २०६ तक उत्तर प्रकृतियो मे पुद्गल द्रव्य के बटवारे का वर्णन किया है तथा कर्मप्रकृति (प्रदेशवध गा २८) में दलिका के विभाग का पूरा-पूरा विवरण तो नही दिया है। किन्तु उत्तर प्रकृतियो मे कर्मदलिको के विभाग की हीनाधिकता बतलाई है। उक्त दोनो ग्रन्थो का मतव्य परिशिष्ट मे दिया गया है।

सम्मदरसव्वविरई अणविसजोयदंसखवगे य।
मोहसमसंतखवगे खीणसजोगियर गुणसेढी ॥८२॥

शब्दार्थ—**सम्मदरसव्वविरई**—सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति, **अणविसजोय**—अनन्तानुबन्धी का विसयोजन, **दंसखवगे**—दर्शनमोहनीय का क्षपण, **मोहसम**—मोहनीय का उपशमन, **संत**—उपशान्तमोह, **खवगे** क्षपण, **खीण**—क्षीणमोह **सजोगियर**—सयोगिकेवली और अयोगिकेवली, **गुणसेढी**—गुणश्रेणि।

गाथार्थ—सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति, अनन्तानुबंधी का विसंयोजन, दर्शनमोहनीय का क्षपण, चारित्रमोहनीय का उपशमन, उपशान्तमोह, क्षपण, क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली ये गुणश्रेणियां हैं।

विशेषार्थ—यद्यपि बद्ध कर्मों की स्थिति और रस का घात तो बिना वेदन किये ही शुभ परिणामों के द्वारा किया जा सकता है किन्तु निर्जरा के लिये उनका वेदन होना जरूरी है यानी कर्मों के दलिकों का वेदन किये बिना उनकी निर्जरा नहीं हो सकती है। यों तो जीव प्रतिसमय कर्मदलिकों का अनुभवन करता रहता है और उनसे निर्जरा होती है। कर्मों की इस भोगजन्य निर्जरा को औपक्रमिक निर्जरा अथवा सविपाक निर्जरा कहते हैं। किन्तु इस तरह से एक तो परिमित कर्मदलिकों की ही निर्जरा होती है और दूसरे इस भोगजन्य निर्जरा के साथ नवीन कर्मों के बंध का क्रम भी चलता रहता है। अर्थात् इस भोगजन्य निर्जरा के द्वारा नवीन कर्मों का बंध होता रहता है, जिससे कर्मनिर्जरा का वास्तविक रूप में फल नहीं निकलता है और संसारभ्रमण से छुटकारा नहीं हो पाता है। अतः संसारभ्रमण से छुटकारा [illegible] के लिए [illegible] समय में [illegible] [illegible] आवश्यक है और [illegible] [illegible]

जानी चाहिये। अल्पसमय में उत्तरोत्तर कर्मपरमाणुओ की अधिक-से-अधिक संख्या में निर्जरा होने को गुणश्रेणि निर्जरा कहते है। इस प्रकार की निर्जरा तभी हो सकती है जब आत्मा के भावो मे उत्तरोत्तर विशुद्धि की वृद्धि होती है। उत्तरोत्तर विशुद्धि स्थानों पर आरोहण करने से ही अधिक-से-अधिक संख्या में निर्जरा होती है।

गाथा मे विशुद्धिस्थानो के क्रम से नाम कहे है। जिनमे उत्तरोत्तर अधिक-अधिक निर्जरा होती है। ये स्थान गुणश्रेणि निर्जरा अथवा गुणश्रेणि रचना का कारण होने से गुणश्रेणि कहे जाते है। जिनके नाम इस प्रकार है—

१ सम्यक्त्व (सम्यक्त्व की प्राप्ति होना), २ देशविरति, ३ सर्वविरति, ४ अनंतानुबंधी कषाय का विसंयोजन, ५ दर्शनमोहनीय का क्षपण, ६ चारित्रमोह का उपशमन, ७ उपशांतमोह, ८ क्षपण, ९ क्षीणमोह, १० सयोगिकेवली और ११ अयोगिकेवली।[1]

इनका संक्षेप में अर्थ इस प्रकार है कि जीव प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये अपूर्वकरण आदि करण करते समय असंख्यातगुणी-

---

१ समत्तदेससंपुन्नविरइउप्पत्तिअणविसजोगे।
दंसणखवणे मोहस्स समणे उवसंत खवगे य॥
खीणाइतिगे असंखगुणियगुणसेढिदलिय जहकमसो।
सम्मत्ताइणेक्कारसण्ह कालो उ संखसे॥

—पंचसंग्रह ३१४,३१५

सम्यक्त्व देशविरति और सम्पूर्ण विरति की उत्पत्ति मे, अनन्तानुबन्धी के विसंयोजन मे, दर्शनमोहनीय के क्षपण मे, मोहनीय के उपशमन में, उपशान्तमोह मे, क्षपक श्रेणि मे और क्षीणकषाय आदि तीन गुणस्थानो मे असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिको की गुणश्रेणि रचना होती है तथा सम्यक्त्व आदि ग्यारह गुणश्रेणियो का काल क्रमशः संख्यातवे भाग, संख्यातवें भाग है।

होती है। उपशान्तमोह नामक ग्यारहवे गुणस्थान मे सातवी गुण श्रेणि और क्षपकश्रेणि में चारित्रमोहनीय का क्षपण करते हुए आठवी गुणश्रेणि होती है। क्षीणमोह नामक बारहवे गुणस्थान में नौवी गुणश्रेणि, सयोगिकेवली नामक तेरहवे गुणस्थान में दसवी गुण श्रेणि और अयोगिकेवली नामक चौदहवे गुणस्थान मे ग्यारहवं गुणश्रेणि होती है।[1]

इन सभी गुणश्रेणियो में क्रम से उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे कर्मदलिकों की गुणश्रेणि निर्जरा होती है किन्तु उसके वेदन करने का काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा, संख्यातगुणा हीन लगता है अर्थात् कम समय में अधिक-अधिक कर्मदलिको का क्षय होता है। इसीलिये इन ग्यारह स्थानों को गुणश्रेणिस्थान कहते है।

---

१ गो० जीवकाड मे भी गुणश्रेणियो की गणना इस प्रकार की है—

सम्मत्तुप्पत्तीये सावयविरदे अणतकम्मसे।
दसणमोहक्खवगे कषायउवसामगे य उवसंते ॥६६॥
खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला सखेज्जगुणक्कमा होति ॥६७॥

सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने पर, श्रावक के, मुनि के, अनन्तानुबन्धी कषाय का विसयोजन करने की अवस्था मे, दर्शनमोह का क्षपण करने वाले के, कषाय का उपशम करने वाले के, उपशान्त मोह के, क्षपक श्रेणि के तीन गुणस्थानो मे, क्षीणमोह गुणस्थान मे तथा स्वस्थान केवली के और समुद्घात करने वाले केवली के गुणश्रेणि निर्जरा का द्रव्य उत्तरोत्तर असख्यातगुणा, असख्यातगुणा है और काल उसके विपरीत है अर्थात् उत्तरोत्तर सख्यातगुणा, सख्यातगुणा काल लगता है—काल उत्तरोत्तर सख्यात गुणहीन है।

कर्मग्रथ से इसमे केवल इतना ही अन्तर है कि अयोगिकेवली के स्थान पर समुद्घातकेवली को गिनाया है।

इन गुणश्रेणियों[1] का यदि गुणस्थान के क्रम से विभाग किया जाये तो उनमें चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक के सभी गुणस्थान तथा सम्यक्त्वप्राप्ति के अभिमुख मिथ्यादृष्टि भी संमिलित हो जाते है। विशुद्धि की वृद्धि होने पर ही चौथे, पाचवे आदि गुणस्थान होते है। अतः आगे-आगे के गुणस्थानो मे जो उक्त गुणश्रेणिया होती है, उनमे अधिक-अधिक विशुद्धि होना स्वाभाविक है।

इस प्रकार गुणश्रेणियो के ग्यारह स्थानो को वतलाकर अव आगे की गाथा मे गुणश्रेणी का स्वरूप तथा गुणश्रेणियो मे होने वाली निर्जरा का कथन करते है।

गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसंखगुणणाए।
एयगुणा पुण कमसो असंखगुणनिज्जरा जीवा ॥८३॥

शब्दार्थ—गुणसेढी—गुणाकारप्रदेशो की रचना, दलरयणा—ऊपर की स्थिति मे उतरते हुए प्रदेशाग्र की रचना, अणुसमय—प्रत्येक समय की, उदयाद—उदय क्षण से, असंखगुणणाए—असंख्य गुणना से, एयगुणा—ये पूर्वोक्त गुण वाले, पुण—पुन, कमसो—

अनुक्रम से, असखगुणनिज्जरा –असख्यात गुण निर्जरा वाले, जीवा — जीव ।

गाथार्थ—ऊपर की स्थिति से उदय क्षण से लेकर प्रति-समय असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे कर्मदलिको की रचना को गुणश्रेणि कहते है तथा पूर्वोक्त सम्यक्त्व, देशविरति, सर्व-विरति आदि गुण वाले जीव अनुक्रम से असंख्यातगुणी, असं-ख्यातगुणी निर्जरा करते है ।

विशेषार्थ—गाथा के पहले चरण मे गुणश्रेणि का स्वरूप और दूसरे चरण मे पूर्व गाथा मे बतलाये गये गुणश्रेणि वाले जीवों के कर्मनिर्जरा का प्रमाण बतलाया है ।

पूर्व मे जो सम्यक्त्व, देशविरति आदि ग्यारह नाम बतलाये है वे तो स्वयं गुणश्रेणि नही है किन्तु उन उनमे क्रम से असंख्यातगुणी, असंख्यातगुणी निर्जरा होने से गुणश्रेणि के कारण है। अंतः करण में कार्य का उपचार करके उन्हे गुणश्रेणि कहा जाता है। गुणश्रेणि तो एक क्रियाविशेष है जो इस गाथा में बतलाई गई है—गुणसेढी दलरयणा ......।

इस क्रिया का प्रारम्भ सम्यक्त्व प्राप्ति से होता है। अतः सर्वप्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बारे मे विचार करते है। पहले यह बताया जा चुका है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए जीव यथाप्रवृत्तकरण अपूर्व-करण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करणो को करता है। अपूर्वकरण में प्रवेश करते ही निम्नलिखित चार काम प्रारम्भ हो जाते हैं—

एक स्थितिघात, दूसरा रसघात, तीसरा नवीन स्थितिबंध और चौथा गुणश्रेणि। स्थितिघात के द्वारा पहले बांधे हुए कर्मों की स्थिति को कम कर दिया जाता है। अर्थात् स्थितिघात के द्वारा उन्ही . ों की स्थिति का घात किया जाता है जिनकी स्थिति एक अन्त-

मुहूर्त से अधिक होती है। अतः स्थिति का घात कर देने से जो कर्म-दलिक बहुत समय बाद उदय मे आते है वे तुरन्त ही उदय में आने योग्य हो जाते है। जिन कर्मदलिकों की स्थिति कम हो जाती है उनमें से प्रति समय असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिक ग्रहण करके उदय समय से लेकर ऊपर की ओर स्थापित कर दिये जाते है। कर्मदलिकों के निक्षेप करने का क्रम इस प्रकार होता है कि ऊपर की स्थिति मे कर्मदलिकों को ग्रहण करके उनमे से उदय समय मे थोडे दलिको का निक्षेप होता है, दूसरे समय मे उससे असंख्यातगुणे दलिको का दलिकों का निक्षेपण होता है। इसी प्रकार अन्तमुहूर्त काल के अन्तिम समय तक प्रतिसमय असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिकों का निक्षेपण किया जाता है।[1] अर्थात् पहले समय में जो दलिक ग्रहण किये जाते

---

[1] कर्मप्रकृति (उपशमनाकरण) की १५वी गाथा, उसकी प्राचीन चूर्णि तथा पंचसंग्रह मे भी इसी प्रकार गुणश्रेणि का स्वरूप आदि बतलाया है। जो इस प्रकार है—

गुणसेढी निक्खेवो समये समये असंखगुणणाए।
अद्धादुगाइरित्तो सेसे सेसे य निक्खेवो॥

—कर्मप्रकृति उपशमनाकरण, गा० १५

प्रतिसमय असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिकों के निक्षेपण करने को गुणश्रेणि कहते हैं। उसका काल अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के काल से कुछ अधिक है। इस काल में से ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है त्यों-त्यों ऊपर के शेष समयों में ही दलिकों का निक्षेपण किया जाता है।

उवरिल्लाओ ठिइओ घेत्तूण दलियं उदयसमये थोवं पक्खिवइ, बिइयसमये असंखेज्जगुणं एव जाव अंतोमुहुत्तं।

—कर्मप्रकृति चूर्णि

है, उनमे से थोड़े दलिक उदय समय मे दाखिल कर दिये जाते है, उससे असंख्यातगुणे दलिक उदय समय से ऊपर के द्वितीय समय मे दाखिल कर दिये जाते है, उससे असंख्यातगुणे दलिक तीसरे समय मे, उससे असंख्यातगुणे दलिक क्रमशः चौथे, पाँचवे आदि समयो मे दाखिल कर दिये जाते है। इसी क्रम से अन्तर्मुहूर्त काल के अंतिम समय तक असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिकों की स्थापना की जाती है। यह तो हुई प्रथम समय मे गृहीत दलिकों के स्थापन करने की विधि। इसी प्रकार शेष दूसरे, तीसरे, चौथे आदि समयो में गृहीत दलिको के निक्षेपण की विधि जानना चाहिये। यह क्रिया अन्तर्मुहूर्त काल के समयो तक ही होती रहती है।

साराश यह है कि गुणश्रेणि का काल अन्तर्मुहूर्त है, अतः अन्तर्मुहूर्त तक ऊपर की स्थिति मे से कर्मदलिको का प्रति समय ग्रहण किया जाता है और प्रति समय जो कर्मदलिक ग्रहण किये जाते है, उनका स्थापन असंख्यात गुणित क्रम से उदय क्षण से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल के अन्तिम समय तक मे कर दिया जाता है। जैसे कल्पना से अन्तर्मुहूर्त का प्रमाण १६ समय मान लिया जाये तो गुणश्रेणि के प्रथम समय में जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये उनका स्थापन पूर्वोक्त प्रकार से १६ समयो में किया जायेगा। दूसरे समय मे जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये, उनका स्थापन बाकी के १५ समयों में ही होगा, क्योंकि पहले उदयक्षण का वेदन हो चुका है। तीसरे समय मे जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये उनका स्थापन शेष चौदह समयो मे ही होगा। इसी प्रकार से चौथे, पाँचवें आदि समयो के क्रम के बारे मे समझना चाहिये, किन्तु ऐसा नही समझना चाहिये कि प्रत्येक समय मे गृहीत दलिको का स्थापन सोलह ही समयो मे होता है और इस तरह गुण· का काल ऊपर की ओर बढता जाता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त

काल तक असंख्यात गुणित क्रम से जो दलिको की स्थापना की जाती है, उसे गुणश्रेणि कहते है ।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय जीव इस प्रकार की गुणश्रेणि रचना करता है। गुणश्रेणि उदय समय से होती है और ऊपर-ऊपर असंख्यात गुणे दलिकस्थापित किये जाते है। अतः गुणश्रेणि करने वाला जीव ज्यों-ज्यों ऊपर की ओर चढता है त्यों-त्यों प्रति समय असंख्यात-गुणी, असंख्यातगुणी निर्जरा करता जाता है। इसका कारण यह है कि जिस क्रम से दलिक स्थापित होते है उसी क्रम से वे प्रतिसमय उदय में आते है, वे असंख्यात गुणित क्रम से स्थापित किये जाते है और उसी क्रम से उदय में आते है, जिससे सम्यक्त्व मे असंख्यात-गुणी निर्जरा होती है ।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद देशविरति और सर्वविरति की प्राप्ति के लिये जीव यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण ही करता है, तीसरा अनिवृत्तिकरण नही करता और अपूर्वकरण मे यहा गुणश्रेणि रचना भी नहीं होती है और अपूर्वकरण का काल समाप्त होने पर निश्चित ही देशविरति या सर्वविरति की प्राप्ति हो जाती है। जिससे अनिवृत्तिकरण की आवश्यकता नही रहती है ।

स्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय अनुदयवती है अतः उनमें उदयावलिका को छोड़कर ऊपर के समय से गुणश्रेणि होती है।

देशविरति और सर्वविरति की प्राप्ति के पश्चात एक अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव के परिणाम वर्धमान ही रहते है, लेकिन उसके बाद कोई नियम नही है। किसी के परिणाम वर्धमान भी रहते है, किसी के तदवस्थ रहते है और किसी के हीयमान हो जाते है[1] तथा जब तक देशविरति या सर्वविरति रहती है तब तक प्रतिसमय गुणश्रेणि भी होती है। हां यहा इतनी विशेषता जरूर है कि देशचारित्र अथवा सकलचारित्र के साथ उदयावलि के ऊपर एक अन्तर्मुहूर्त काल तक परिणामों की नियत वृद्धि का काल उतना ही होने से असंख्यात गुणित क्रम से गुणश्रेणि की रचना करता है। उसके बाद यदि परिणाम वर्धमान रहते है तो परिणामो के अनुसार कभी असंख्यातवे भाग अधिक, कभी संख्यातवे भाग अधिक और कभी संख्यात गुणी और कभी असंख्यात गुणी गुणश्रेणि करता है। यदि हीयमान परिणाम हुए तो उस समय उक्त प्रकार से ही हीयमान गुणश्रेणि करता है और अवस्थित दशा मे अवस्थित गुणश्रेणि को करता है। इसका तात्पर्य यह है कि वर्धमान परिणामों की दशा मे दलिकों की संख्या बढती हुई होती है, हीयमान दशा मे घटती हुई होती है और अवस्थित दशा मे अवस्थित रहती है। इस प्रकार देशविरति और सर्वविरति में प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

चौथी गुणश्रेणि का नाम है अनन्तानुबंधी की विसंयोजना। अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरति

---

[1] उदयावलिए उप्पि गुणसेढि कुणइ सह चरित्तेण।
अंतो असखगुणणाए तत्तियं वड्ढए काल ॥ —पंचसंग्रह ७६३

और सर्वविरति जीव करते है।[1] अविरत सम्यग्दृष्टि जीव तो चारो गति के लेना चाहिये और देशविरति मनुष्य व तिर्यंच होते है तथा सर्वविरति मनुष्य ही होते है।

जो जीव अनन्तानुवन्धी कषाय का विसंयोजन करने के लिये उद्यत होता है वह यथाप्रवृत्त आदि तीनों करणों को करता है। यहा इतनी विशेषता है कि अपूर्वकरण के प्रथम समय से ही गुणसंक्रमण भी होने लगता है यानी अपूर्वकरण के प्रथम समय मे अनन्तानुवन्धी कषाय के थोडे दलिको का शेष कषायों मे संक्रमण करता है, दूसरे समय में उससे असंख्यातगुणे, तीसरे समय में उससे असंख्यातगुणे दलिकों का पर कषाय रूप संक्रमण करता है। यह क्रिया अपूर्वकरण के अंतिम समय तक होती है और उसके वाद अनिवृत्तिकरण में गुण-संक्रमण और उद्वलन संक्रमण के द्वारा दलिकों का विनाश कर देता है। इस प्रकार अनन्तानुवन्धी के विसंयोजन में प्रति समय असंख्यात-गुणी निर्जरा जाननी चाहिये।

दर्शनमोहनीय का क्षपण जिन काल में (केवलज्ञानी के विद्यमान रहने के समय मे) उत्पन्न होने वाला वज्रऋषभनाराच संहनन का धारक मनुष्य आठ वर्ष की उम्र के वाद करता है।[2] अर्थात् दर्शन-मोहनीय की क्षपणा के लिये समय तो केवलज्ञान प्राप्त आत्मा की विद्यमानता का है और क्षपणा करने वाला मनुष्य वज्रऋषभनाराच संहनन का धारक हो तथा कम-से-कम अवस्था आठ वर्ष से ऊपर

१

२

स्थान में प्रत्याख्यानावरण कपाय अनुदयवती है अतः उनमे उदयावलिका को छोडकर ऊपर के समय से गुणश्रेणि होती है।

देशविरति और सर्वविरति की प्राप्ति के पश्चात एक अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव के परिणाम वर्धमान ही रहते है, लेकिन उसके बाद कोई नियम नही है। किसी के परिणाम वर्धमान भी रहते है, किसी के तदवस्थ रहते है और किसी के हीयमान हो जाते है[1] तथा जब तक देशविरति या सर्वविरति रहती है तब तक प्रतिसमय गुणश्रेणि भी होती है। हा यहां इतनी विशेषता जरूर है कि देशचारित्र अथवा सकलचारित्र के साथ उदयावलि के ऊपर एक अन्तर्मुहूर्त काल तक परिणामों की नियत वृद्धि का काल उतना ही होने से असंख्यात गुणित क्रम से गुणश्रेणि की रचना करता है। उसके बाद यदि परिणाम वर्धमान रहते है तो परिणामों के अनुसार कभी असंख्यातवे भाग अधिक, कभी संख्यातवे भाग अधिक और कभी संख्यात गुणी और कभी असंख्यात गुणी गुणश्रेणि करता है। यदि हीयमान परिणाम हुए तो उस समय उक्त प्रकार से ही हीयमान गुणश्रेणि करता है और अवस्थित दशा में अवस्थित गुणश्रेणि को करता है। इसका तात्पर्य यह है कि वर्धमान परिणामो की दशा में दलिकों की संख्या बढ़ती हुई होती है, हीयमान दशा मे घटती हुई होती है और अवस्थित दशा मे अवस्थित रहती है। इस प्रकार देशविरति और सर्वविरति में प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

चौथी गुणश्रेणि का नाम है अनन्तानुबंधी की विसंयोजना। अनन्तानुबन्धी कपाय का विसंयोजन अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरति

---

१ उदयावलिए उप्पि गुणसेढि कुणइ सह चरित्तेण।
अंतो असखगुणणाए तत्तियं वड्डए काल ॥ — पंचसंग्रह ७६३

और सर्वविरति जीव करते है।[1] अविरत सम्यग्दृष्टि जीव तो चारों गति के लेना चाहिये और देशविरति मनुष्य व तिर्यंच होते है तथा सर्वविरति मनुष्य ही होते है।

जो जीव अनन्तानुवन्धी कषाय का विसंयोजन करने के लिये उद्यत होता है वह यथाप्रवृत्त आदि तीनों करणों को करता है। यहां इतनी विशेषता है कि अपूर्वकरण के प्रथम समय से ही गुणसंक्रमण भी होने लगता है यानी अपूर्वकरण के प्रथम समय में अनन्तानुवन्धी कषाय के थोड़े दलिकों का शेष कषायों मे संक्रमण करता है, दूसरे समय में उससे असंख्यातगुणे, तीसरे समय में उससे असंख्यातगुणे दलिकों का पर कषाय रूप संक्रमण करता है। यह क्रिया अपूर्वकरण के अंतिम समय तक होती है और उसके बाद अनिवृत्तिकरण में गुण-संक्रमण और उद्वलन संक्रमण के द्वारा दलिकों का विनाश कर देता है। इस प्रकार अनन्तानुबन्धी के विसंयोजन में प्रति समय असंख्यात-गुणी निर्जरा जाननी चाहिये।

दर्शनमोहनीय का क्षपण जिन काल मे (केवलज्ञानी के विद्यमान रहने के समय में) उत्पन्न होने वाला वज्रऋषभनाराच संहनन का धारक मनुष्य आठ वर्ष की उम्र के बाद करता है।[2] अर्थात् दर्शन-मोहनीय की क्षपणा के लिये समय तो केवलज्ञान प्राप्त आत्मा की विद्यमानता का है और क्षपणा करने वाला मनुष्य वज्रऋषभनाराच संहनन का धारक हो तथा कम-से-कम अवस्था आठ वर्ष से ऊपर

---

१ चउगइया पज्जता तिन्निवि सयोयणा विजोयति।
करणेंहि तीहिं सहिया नतरकरण उवसमो वा॥
—कर्मप्रकृति उपशमनाकरण ३१

२ दसणमोहे वि तहा कयकरणद्धा य पच्छिमे होइ।
जिणकालगो मणुस्सो पट्ठवगो अट्ठवासुप्पि॥
—कर्मप्रकृति उपशमनाकरण, ३२

हो। दर्शनमोहनीय की क्षपणा का क्रम भी अनन्तानुवन्धी कषाय की विसंयोजना जैसा है। यहा भी पूर्ववत् तीन करण होते है और अपूर्व-करण मे गुणश्रेणि आदि कार्य होते है।

उपशम श्रेणि का आरोहण करने वाला जीव भी यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों को करता है, लेकिन इतना अंतर है कि यथाप्रवृत्तकरण सातवे गुणस्थान में करता है, अपूर्वकरण-अपूर्वकरण नामक गुणस्थान में और अनिवृत्तिकरण अनिवृत्तिकरण नामक गुणस्थान में करता है यहां भी पूर्ववत् स्थितिघात गुणश्रेणि आदि कार्य होते है। अतः उपशमक भी क्रम से असंख्यातगुणी, असंख्यातगुणी निर्जरा करता है।

चारित्रमोहनीय का उपशम करने के वाद उपशांतमोह नामक ग्यारहवे गुणस्थान में पहुँचकर भी जीव गुणश्रेणि रचना करता है। उपशान्तमोह का काल अन्तर्मुहूर्त है, और उसके संख्यातवे भाग काल में गुणश्रेणि की रचना होती है, जिससे यहा पर भी जीव प्रति-समय असंख्यातगुणी, असंख्यातगुणी निर्जरा करता है।

ग्यारहवे गुणस्थान से च्युत होकर जब जीव छठे गुणस्थान तक आकर क्षपक श्रेणि चढता है अथवा उपशमश्रेणि पर आरूढ हुए विना ही सीधा क्षपक श्रेणि पर चढता है तो वहां भी यथाप्रवृत्त-करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, इन तीनो करणो को करता है और उनमे उपशमक और उपशान्तमोह गुणस्थान से भी असंख्यातगुणी निर्जरा करता है। इसी प्रकार क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली नामक गुणश्रेणियों भी उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी, असंख्यातगुणी निर्जरा समझना चाहिए।

इन ग्यारह गुणश्रेणियो मे से प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त होने पर भी प्रत्येक के अन्तर्मुहूर्त का काल उत्तरोत्तर हीन होता है या निर्जरा द्रव्य का परिमाण सामान्य से असंख्यातगुणा, असंख्यात-

गुणा होने पर भी उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ होता है। यानी परिणामों के उत्तरोत्तर विशुद्ध होने से उत्तरोत्तर कम-कम समय में अधिक-अधिक द्रव्य की निर्जरा होती है।

इस प्रकार गुणश्रेणि का विधान जानना चाहिये। गुणश्रेणि के उक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जीव ज्यों-ज्यों आगे के गुणस्थानों में बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसके असंख्यातगुणी निर्जरा होती है और क्रमशः संक्लेश की हानि तथा विशुद्धि का प्रकर्ष होने पर आगे-आगे के गुणस्थान कहलाते हैं। अतः अब आगे की गाथा मे गुणस्थानों का जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल बतलाते है।

पलियासंखंसमुहू सासणइयरगुण अंतरं हस्स।
गुरु मिच्छी वे छसट्ठी इयरगुणे पुग्गलद्धंतो ॥८४॥

शब्दार्थ—**पलियासखसमुहू**—पल्य का असख्यातवा भाग और अन्तमुहूर्त, **सासणइयरगुण**—सासादन और दूसरे गुणस्थानो का, **अतरं**—अन्तर, **हस्सं**—जघन्य, **गुरु**—उत्कृष्ट, **मिच्छी**—मिथ्यात्व मे, **वे छसट्ठी**—दो छियासठ सागरोपम, **इयरगुणे**—दूसरे गुणस्थानो मे, **पुग्गलद्धंतो**- कुछ न्यून अर्धपुद्गल परावर्त।

गाथार्थ—सासादन और दूसरे गुणस्थानों का जघन्य अन्तर अनुक्रम से पल्योपम का असंख्यातवां भाग और अन्तमुहूर्त है। मिथ्यात्व गुणस्थान का उत्कृष्ट अन्तर दो बार के छियासठ सागर अर्थात् १३२ सागर है और अन्य गुणस्थानो का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्त है।

विशेषार्थ—पूर्व कथन से यह स्पष्ट हो चुका है कि गुणश्रेणियों के जो सम्यक्त्व, देशविरति आदि नाम हैं, वे प्रायः गुणस्थान जैसे कि सम्यक्त्व गुण का जिस स्थान में प्रादुर्भाव होता है वह गुणस्थान, जिस स्थान में देशविरति गुण प्रकट होता है वह

गुणस्थान कहा जाता है आदि। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। अतः उक्त गुणश्रेणियों का संबंध गुणस्थानो के साथ होने के कारण गाथा में गुणस्थानों का जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल बतलाया है। कोई जीव किसी गुणस्थान से च्युत होकर पुनः जितने समय के बाद उस गुणस्थान को प्राप्त करता है, वह समय उस गुणस्थान का अन्तरकाल कहलाता है।

सर्वप्रथम गुणस्थानों का जघन्य अन्तराल बतलाते हुए कहा है—पलियासंखंसमुहू सासणइयरगुण अंतरं हुस्सं—सासादन नामक दूसरे गुणस्थान का जघन्य अन्तरकाल पल्य के असंख्यातवे भाग और शेष गुणस्थानो का अन्तर अन्तमुहूर्त है। जिसको यहा स्पष्ट करते है।

सासादन गुणस्थान के जघन्य अन्तरकाल को पल्य के असंख्यातवें भाग इस प्रकार समझना चाहिए कि कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव अथवा सम्यक्त्व मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय की उद्‌वलना[1] कर देने वाला सादि मिथ्यादृष्टि जीव औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करके अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सासादन सम्यग्दृष्टि होकर मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है। यदि वही जीव उसी क्रम से पुनः सासादन गुणस्थान को प्राप्त करे तो कम-से-कम पल्य के असंख्यातवें भाग काल के बाद ही प्राप्त करता है। इसका कारण यह है कि सासादन गुणस्थान से मिथ्यात्व गुणस्थान में आने पर सम्यक्त्व मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय की सत्ता अवश्य रहती है। इन दोनों प्रकृतियो की सत्ता होते हुए पुनः औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त नही हो सकता है और औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त किये विना सासादन गुणस्थान नही हो सकता। अतः मिथ्यात्व में जाने के वाद जीव सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनों मोहनीय कर्म की प्रकृतियों की प्रतिसमय

---

१ यथाप्रवृत्त आदि तीन करणो के विना ही किसी प्रकृति को अन्य प्रकृति रूप परिणमाने को उद्‌वलन कहते है।

उद्वलना करता है यानी दोनों प्रकृतियों के दलिकों को मिथ्यात्व मोहनीय रूप परिणमाता रहता है।

इस प्रकार उद्वलन करते-करते पल्य के असंख्यातवे भाग काल मे उक्त दोनों प्रकृतियो का अभाव हो जाता है और अभाव होने पर वही जीव पुनः औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर सासादन गुणस्थान मे आ जाता है। इसीलिए सासादन गुणस्थान का अंतराल काल पल्य के असंख्यातवे भाग माना गया है।

सासादन गुणस्थान का जघन्य अन्तर पल्य के असंख्यातवे भाग प्रमाण वतलाने का कारण यह है कि कोई जीव उपशम श्रेणि से गिरकर सासादन गुणस्थान में आते है और अन्तर्मुहूर्त के बाद पुनः उपशम श्रेणि पर चढकर और वहां से गिरकर पुनः सासादन गुणस्थान में आते है। इस दृष्टि से तो सासादन का जघन्य अंतर बहुत थोडा रहता है, किन्तु उपशम श्रेणि से च्युत होकर जो सासादन सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, वह केवल मनुष्यगति मे ही संभव है और वहां पर भी इस प्रकार की घटना बहुत कम होती है, जिससे यहा उसकी विवक्षा नही की है किन्तु उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर जो सासादन की प्राप्ति वतलाई है, वह चारो गतियो मे संभव है। अत' उसकी अपेक्षा से ही सासादन का जघन्य अन्तर पल्य के असंख्यातवे भाग वतलाया है। यानी श्रेणि की अपेक्षा नही किन्तु उपशम सम्यक्त्व से च्युत होने की अपेक्षा से सासादन गुणस्थान का जघन्य अन्तर पल्य के असंख्यातवे भाग वतलाया है।

सासादन के सिवाय वाकी के गुणस्थानो मे से क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली, इन तीन गुणस्थानों का तो अंतर काल नहीं होता, क्योकि ये गुणस्थान एक वार प्राप्त होकर पुनः प्राप्त नही होते हैं। शेष रहे गुणस्थानों मे से मिथ्यादृष्टि, मिश्रदृष्टि, अविरत

दृष्टि, देशविरति, प्रमत्त, अप्रमत्त तथा उपशम श्रेणि के अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसंपराय तथा उपशान्तमोह गुणस्थान से च्युत होकर जीव अन्तमुहूर्त के बाद ही पुनः उन गुणस्थानो को प्राप्त कर लेता है। अतः उनका जघन्य अन्तरकाल एक अन्तमुहूर्त ही होता है। क्योकि जब कोई जीव उपशम श्रेणि पर चढकर ग्यारहवे गुणस्थान तक पहुँचता है और वहा से गिरकर क्रमश. उतरते-उतरते पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे आ जाता है और उसके बाद पुनःएक अन्तमुहूर्त में ग्यारहवे गुणस्थान तक जा पहुँचता है। क्योंकि एक भव मे दो वार उपशम श्रेणि पर चढने का विधान है।[1] उस समय मिश्र गुणस्थान के सिवाय बाकी के गुणस्थानों मे से प्रत्येक का जघन्य अन्तरकाल अन्तमुहूर्त होता है।

मिश्र गुणस्थान को छोडने का कारण यह है कि श्रेणि से गिरकर जीव मिश्र गुणस्थान में नही जाता है। अत. जब जीव श्रेणि पर नही चढ़ता तब मिश्र गुणस्थान तथा सासादन के सिवाय मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक का जघन्य अन्तर अन्तमुहूर्त होता है। क्योंकि ये गुणस्थान अन्तमुहूर्त के बाद पुनः प्राप्त हो सकते है। इस प्रकार से गुणस्थानो का जघन्य अन्तरकाल समझना चाहिये।

अव उत्कृष्ट की अपेक्षा गुणस्थानों का अन्तरकाल वतलाते हुए सर्वप्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान का अन्तरकाल कहते है कि—गुरु मिच्छी वे छसठी—यानी मिथ्यात्व गुणस्थान का उत्कृष्ट अन्तरकाल दो छियासठ सागर अर्थात् ६६+६६=१३२ सागर है। वह इस प्रकार है—कोई जीव विशुद्ध परिणामो के कारण मिथ्यात्व गुणस्थान को छोडकर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल ६६ सागर समाप्त करके वह जीव अन्तमुहूर्त के लिये सम्यग्मिथ्यात्व मे

---

[1] एगभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोह उवसमेज्जा। —कर्मप्रकृति गा० ६४

चला जाता है। वहाँ से पुनः क्षयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करके ६६ सागर की समाप्ति तक यदि उसने मुक्ति प्राप्त नही की तो वह जीव अवश्य मिथ्यात्व में चला जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्व गुणस्थान का उत्कृष्ट अंतर दो छियासठ सागर—एकसौ वत्तीस सागर से कुछ अधिक होता है।

सासादन से लेकर उपशातमोह गुणस्थान तक के शेप गुणस्थानों का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्त है – इयरगुणे पुग्गलद्धंतो। क्योंकि इन गुणस्थानो से पतित होकर जीव अधिक-से-अधिक कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्त काल तक संसार मे परिभ्रमण करता रहता है और उसके वाद पुनः उसे उक्त गुणस्थानो की प्राप्ति होती है। इसीलिये इन गुणस्थानो का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्त माना गया है।[1]

क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थानो में अन्तर नही होने के कारण को पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है कि ये एक वार प्राप्त होकर पुन. प्राप्त नही होते है। यानी इन गुणस्थानो की प्राप्ति होने के वाद उनका क्षय नही होता है। जिससे जघन्य या उत्कृष्ट अतरकाल का विचार करने की आवश्यकता नही रहती है।

इस प्रकार से गुणस्थानो का जघन्य और उत्कृष्ट अंतरकाल वतलाने के वाद अव आगे की गाथाओ मे अंतरकाल के वर्णन मे आये पल्योपम, अर्धपुद्गल परावर्त का स्वरूप विस्तार से बतलाते है। पहले पल्योपम का स्वरूप स्पष्ट करते है।

उद्धारअद्धखित्तं पलिय तिहा समयवाससयसमए।
केसवहारो दीवोदहिआउतसाइपरिमाण ॥८५॥

---

१ पचसग्रह मे भी गुणस्थानो का अन्तर इसी प्रकार का वतलाया है—

पलियासखो सासायणतर सेसयाण अतमुहू।
मिच्छस्स वे छसट्ठी इयराण पोग्गलद्धंतो ॥६५

शब्दार्थ—उद्धारअद्धखित्त—उद्धार, अद्धा और क्षेत्र, पलिय—पल्योपम, तिहा—तीन प्रकार का. समयवाससयसमए—समय, सौ वर्ष और समय मे, केसवहारो—वालाग्र का उद्धरण करे, दीवोदहि—द्वीप और समुद्र, आउतसाइ—आयु और त्रसादि जीवो का, परिमाणं—परिमाण, गणना।

गाथार्थ—उद्धार, अद्धा और क्षेत्र, इस प्रकार पल्योपम के तीन भेद है। उनमें अनुक्रम से एक समय में, सौ वर्ष मे और एक समय में वालाग्र का उद्धरण किया जाता है। जिससे उनके द्वारा क्रम से द्वीप समुद्रो, आयु और त्रसादि जीवो की गणना की जाती है।

विशेषार्थ—इस गाथा में पल्योपम के भेद, उनका स्वरूप और उनके उपयोग करने का संक्षेप से निर्देश किया है।

लोक मे जो वस्तुये सरलता से गिनी जा सकती है और जहाॅ तक गणित विधि का क्षेत्र है, वहा तक तो गणना करना सरल होता लेकिन उसके आगे उपमा प्रमाग को प्रवृत्ति होती है। जैसे कि तिल, सरसों, गेहूँ आदि धान्य गिने नही जा सकते, अत उन्हें तोल या माप वगैरह से आक लेते है। इसी प्रकार समय की जो अवधि वर्षों के रूप मे गिनी जा सकती है, उसकी तो गणना की जाती है और उसके लिये शास्त्रो मे पूर्वांग, पूर्व आदि की संज्ञाये मानी हे, किन्तु इसके बाद भी समय की अवधि इतनी लम्बी है कि उसकी गणना वर्षों में नही की जा सकती है। अतः उसके लिये उपमाप्रमाण का सहारा लिया जाता है। उस उपमाप्रमाण के दो भेद है—पल्योपम[1] और सागरोपम।

समय की जिस लम्बी अवधि को पल्य की उपमा दी जाती है, उसे

[1] अनाज वगैरह भरने के गोलाकार स्थान को पल्य कहते है।

पल्योपम काल कहते है। पल्योपम के तीन भेद है—उद्धारअद्धखित्तं पलिय—उद्धार पल्योपम, अद्धा पल्योपम और क्षेत्र पल्योपम। इसी प्रकार सागरोपम काल के भी तीन भेद है—उद्धार सागरोपम, अद्धा सागरोपम और क्षेत्र सागरोपम। इनमें से प्रत्येक पल्योपम और सागरोपम दो-दो प्रकार का होता है—एक वादर और दूसरा सूक्ष्म।[1] इनका स्वरूप क्रमशः आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

गाथा ४०, ४१ मे क्षुद्रभव का प्रमाण बतलाने के प्रसंग में प्राचीन कालगणना का संक्षेप मे निर्देश करते हुए समय, आवलिका, उच्छ्वास, प्राण, स्तोक, लव और मुहूर्त का प्रमाण वतलाया है। उसके वाद ३० मुहूर्त का एक दिन-रात, पन्द्रह दिन का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष प्रसिद्ध है और वर्षों की अमुक-अमुक संख्या को लेकर युग, शताब्दि आदि संज्ञाये प्रसिद्ध है। उनके ऊपर प्राचीन काल मे जो संज्ञाये निर्धारित की गई है, वे अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार इस प्रकार है—

८४ लाख वर्ष का एक पूर्वांग, ८४ लाख पूर्वांग का एक पूर्व, ८४ लाख पूर्व का त्रुटितांग, ८४ लाख त्रुटितांग का एक त्रुटित, ८४ लाख त्रुटित का एक अडडांग, ८४ लाख अडडांग का एक अडड। इसी प्रकार क्रमश. अववांग, अवव, हुहु अंग, हुहु, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनिपूरांग, अर्थनिपूर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका, ये उत्तरोत्तर ८४ लाख गुणे होते है।[2] इन संज्ञाओ को वतलाकर

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र मे सूक्ष्म और व्यवहारिक भेद किये है।

२ ये सज्ञायें अनुयोगद्वार सूत्र (गा० १०७, सूत्र १३८) के अनुसा[र] हैं। ज्योतिष्करण्ड के अनुसार उनका क्रम इस प्रकार है

(शेष अगले [पृष्ठ पर])

आगे लिखा है—'एयावयाचेव गणिए एयावया चेव गणिअस्स विसए, एत्तोऽवरं ओवमिए पवत्तइ ।'[1] अर्थात् शीर्षप्रहेलिका तक गुणा करने से १९४ अंक प्रमाण जो राशि उत्पन्न होती है, गणित की अवधि वहीं तक है, उतनी ही राशि गणित का विषय है। उसके आगे उपमा प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

उपमा प्रमाण का स्पष्टीकरण करने के लिये बालाग्रो के उद्धरण को आधार बनाया है। पहला नाम है उद्धारपल्य, जिसका स्वरूप यह

पूर्व का एक लताग, ८४ लाख लताग का एक लता, ८४ लाख लता का एक महालताग, ८४ लाख महालताग का एक महालता, इसी प्रकार आगे नलिनाग, नलिन, महानलिनाग, महानलिन, पद्माग, पद्म, महापद्माग, महापद्म, कमलाग, कमल, महाकमलाग, महाकमल, कुमुदाग, कुमुद, महाकुमुदाग, महाकुमुद, त्रुटिताग, त्रुटित, महात्रुटिताग, महात्रुटित, अडडाग, अडड, महाअडडाग, महाअडड, ऊहाग, ऊह, महाऊहाग, महाऊह, शीर्षप्रहेलिकाग और शीर्षप्रहेलिका। (गाथा ६४-७१)

अनुयोगद्वारसूत्र और ज्योतिष्करण्ड मे आगत नामो की भिन्नता का कारण काललोकप्रकाश मे इस प्रकार स्पष्ट किया है—'अनुयोगद्वार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि माथुर वाचना के अनुगत है और ज्योतिष्करड आदि वल्भी वाचना के अनुगत, इसी से दोनो मे अंतर है।

दिगम्बर ग्रन्थ तत्त्वार्थराजवार्तिक मे—पूर्वांग, पूर्व, नयुताग, नयुत, कुमुदांग, कुमुद, पद्माग, पद्म, नलिनांग, नलिन, कमलाग, कमल, तुट्याग तुट्य, अटटाग, अटट, अममाग अमम, हूहू अग, हूहू, लताग, लता, महालता आदि सज्ञायें दी हैं। ये सब सज्ञायें ८४ लाख को ८४ लाख से गुणा करने पर वनती है। इस गुणन विधि मे श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थ एक मत है।

[1] अनुयोगद्वार सूत्र १३७

है कि—उत्सेधांगुल[1] के द्वारा निष्पन्न एक योजन प्रमाण लंबा, एक योजन प्रमाण चौड़ा और एक योजन प्रमाण गहरा एक गोल पल्य—गढा बनाना चाहिए, जिसकी परिधि कुछ कम ३⅙ योजन होती है। एक दिन से लेकर सात दिन तक के उगे हुए वालाग्रों[2] से उस पल्य को इतना ठसाठस[3] भर देना चाहिये कि न आग उन्हें जला सके, न वायु उड़ा सके और न जल का ही उसमें प्रवेश हो सके। इस पल्य से प्रति समय एक-एक वालाग्र निकाला जाये। इस तरह करते-करते जितने समय में वह पल्य खाली हो जाये, उस काल को बादर उद्धार-पल्य कहते है।

दस कोटाकोटी वादर उद्धारपल्योपम का एक वादर उद्-धारसागरोपम होता है।

इन वादर उद्धारपल्योपम और वादर उद्धारसागरोपम का इतना ही प्रयोजन है कि इनके द्वारा सूक्ष्म उद्धारपल्योपम और सूक्ष्म उद्धारसागरोपम सरलता से समझ मे आ जाये—

अस्मिन्निरूपिते सूक्ष्मं सुबोधमबुधैरपि।
अतो निरूपितं नान्यत्किञ्चिदस्य प्रयोजनम् ॥—द्रव्यलोकप्रकाश १।८६

---

१ अगुल के तीन भेद हैं—आत्मागुल, उत्सेधागुल और प्रमाणागुण। इनकी व्याख्या आगे की गई है।

२ पल्य को वालागो से भरने सबन्धी अनुयोगद्वार सूत्र आदि का विवेचन परिशिष्ट मे दिया गया है।

३ पल्य को ठसाठस भरने के सबन्ध मे द्रव्यलोकप्रकाश सर्ग १।८२ मे स्पष्ट किया है—

तथा च चक्रिसैन्येन तमाक्रम्य प्रसर्प्पता।
न मनाक् क्रियते नीचैरेवं निविडतागताम् ॥

वे केशाग्र इतने घने भरे हुए हो कि यदि चक्रवर्ती की सेना उन पर से निकल जाये तो वे जरा भी नीचे न हो सके।

अब सूक्ष्म उद्धार पल्योपम व सागरोपम का स्वरूप समझाते है। वादर उद्धारपल्य के एक-एक केशाग्र के अपनी बुद्धि के द्वारा असंख्यात-असंख्यात टुकड़े करना। द्रव्य की अपेक्षा ये टुकड़े इतने सूक्ष्म होते है कि अत्यन्त विशुद्ध आख वाला पुरुष अपनी आख से जितने सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य को देख सकता है, उसके भी असंख्यातवे भाग होते है तथा क्षेत्र की अपेक्षा सूक्ष्म पनक[1] जीव का शरीर जितने क्षेत्र को रोकता है, उससे असंख्यात गुणी अवगाहना वाले होते है, इन केशाग्रों को भी पहले की तरह पल्य में ठसाठस भर देना चाहिये। पहले की तरह ही प्रति समय केशाग्र के एक-एक खण्ड को निकालने पर संख्यात करोड़ वर्ष में वह पल्य खाली होता है। अतः उस काल को सूक्ष्म उद्धारपल्योपम कहते है। दस कोटाकोटी सूक्ष्म उद्धारपल्योपम का एक सूक्ष्म उद्धारसागरोपम होता है।

इन सूक्ष्म उद्धारपल्योपम और सूक्ष्म उद्धारसागरोपम से द्वीप और समुद्रों की गणना की जाती है। अढाई सूक्ष्म उद्धारसागरोपम के अथवा पच्चीस कोटाकोटि सूक्ष्म उद्धारपल्योपम के जितने समय होते है, उतने ही द्वीप और समुद्र है—

एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओअणं ? एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहि दीवसमुद्दाणं उद्धारो घेप्पइ। केवइया णं भंते ! दीवसमुद्दा....... .. .. जावइआणं अड्ढाइज्जाणं उद्धारसागरोवमाणं उद्धारसमया एवइया णं दीवसमुद्दा।

—अनुयोगद्वार सूत्र १३८

---

१ विशेषावश्यक भाष्य की कोट्याचार्य प्रणीत टीका (पृ० २१०) मे पनक का अर्थ 'वनस्पति विशेष' किया है। प्रवचनसारोद्धार की टीका (पृ० ३०३) मे उसकी अवगाहना वादर पर्याप्तक पृथ्वीकाय के शरीर के बराबर बतलाई है।

अद्धापल्योपम—पूर्वोक्त वादर उद्धारपल्य से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक केशाग्र निकालने पर जितने समय में वह खाली होता है, उतने समय को वादर अद्धापल्योपम काल कहते है। दस कोटाकोटी वादर अद्धापल्योपम काल का एक बादर अद्धासागरोपम काल होता है।

सूक्ष्म उद्धारपल्य में से सौ-सौ वर्ष के वाद केशाग्र का एक-एक खण्ड निकालने पर जितने समय मे वह पल्य खाली होता है, उतने समय को सूक्ष्म अद्धापल्योपम काल कहते है। दस कोटाकोटि सूक्ष्म अद्धापल्योपम का एक सूक्ष्म अद्धासागरोपम काल होता है। दस कोटाकोटी सूक्ष्म अद्धासागरोपम की एक अवसर्पिणी और उतने की ही एक उत्सर्पिणी होती है। इन सूक्ष्म अद्धापल्योपम और सूक्ष्म अद्धासागरोपम के द्वारा देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारक, चारो गति के जीवों की आयु, कर्मों की स्थिति आदि जानी जाती है।

एएहिं सुहुमेहिं अद्धाप० सागरोवमेहि किं पओअणं ? एएहिं सुहुमेहिं अद्धाप० सागरो० नेरइअतिरिक्खजोणिअमणुस्सदेवाणं आउअं मविज्जइ।

—अनुयोगद्वार सूत्र १३९

क्षेत्रपल्योपम—पहले की तरह एक योजन लंबे-चौडे और गहरे गड्डे में एक दिन से लेकर सात दिन तक उगे हुए वालों के अग्रभाग को पूर्व की तरह ठसाठस भर दो। वे अग्रभाग आकाश के जिन प्रदेशों को स्पर्श करे उनमें से प्रति समय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय मे समस्त प्रदेशों का अपहरण किया जा सके, उतने समय को वादर क्षेत्रपल्योपम काल कहते है। यह काल असंख्यात उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणी काल के वरावर होता है। दस कोटाकोटी वादर क्षेत्रपल्योपम का एक वादर क्षेत्रसागरोपम काल होता है।

वादर क्षेत्रपल्य के वालाग्रो में से प्रत्येक के असंख्यात खंड करके उन्हें इसी पल्य में पहले की तरह भरो। उस पल्य मे वे खंड आकाश के जिन प्रदेशों को स्पर्श करे और जिन प्रदेशों को स्पर्श न करें, उनमे से प्रति समय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय में स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेशों का अपहरण किया जा सके, उतने समय को एक सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम काल कहते है। दस कोटाकोटी सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम का एक सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपम होता है। इन सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम और सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपम के द्वारा दृष्टिवाद में द्रव्यों के प्रमाण का विचार तथा दृष्टिवाद में पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति और त्रस इन छह काय के जीवों के प्रमाण का विचार किया जाता है—

एएहिं सुहुमेहिं खेत्तप० सागरोवमेहि किं पओअणं ? एएहिं सुहुम-पलि० साग० दिट्ठिवाए दव्वा मविज्जंति।

—अनुयोगद्वार सूत्र १४०

सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम काल के स्वरूप की व्याख्या के प्रसंग मे जिज्ञासु का प्रश्न है कि यदि वालाग्रों से आकाश के स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते है तो फिर वालाग्रों का कोई प्रयोजन नही रहता है, क्योकि उस दशा मे पूर्वोक्त पल्य के अन्दर जितने प्रदेश हो उनके अपहरण करने से ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। इसका समाधान यह है कि क्षेत्रपल्योपम के द्वारा दृष्टिवाद में द्रव्यों के प्रमाण का विचार किया जाता है। उनमें से कुछ द्रव्यो का प्रमाण तो उक्त वालाग्रो से स्पृष्ट आकाश के प्रदेशो द्वारा मापा जाता है और कुछ का प्रमाण आकाश के अस्पृष्ट प्रदेशो से मापा जाता है। अत. दृष्टिवाद में वर्णित द्रव्यों के मान में उपयोगी होने के कारण वालाग्रो का निर्देश सप्रयोजन ही है, निष्प्रयोजन नहीं है—

'दृष्टिवादोक्तद्रव्यमानोपयोगित्वाद् वालाग्रप्ररूपणाऽत्रप्रयोजनवतीति ।'

—अनुयोगद्वार टीका पृ० १९३

अगुल के भेदो की व्याख्या

उद्धारपल्योपम का स्वरूप वतलाने के प्रसंग में उत्सेधांगुल के द्वारा निष्पन्न एक योजन लम्बे, चौड़े, गहरे गड्ढे—पल्य को वनाने का संकेत किया था और उसी के अनुसन्धान मे आत्मागुल, उत्सेधांगुल और प्रमाणागुल यह तीन अंगुल के भेद वतलाये है। यहाँ उनका स्वरूप समझाते है।

आत्मांगुल—अपने अंगुल के द्वारा नापने पर अपने शरीर की ऊँचाई १०८ अंगुल प्रमाण होती है। वह अंगुल उसका आत्मांगुल कहलाता है। इस अंगुल का प्रमाण सर्वदा एकसा नहीं रहता है, क्योंकि काल भेद से मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई घटती-वढ़ती रहती है।

उत्सेधागुल—परमाणु दो प्रकार का होता है—एक निश्चय परमाणु और दूसरा व्यवहार परमाणु। अनन्त निश्चय परमाणुओं का एक व्यवहार परमाणु होता है। यद्यपि वह व्यवहार परमाणु वास्तव मे स्कन्ध है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसे परमाणु कह दिया जाता है, क्योकि वह इतना सूक्ष्म होता है कि तीक्ष्ण-से-तीक्ष्ण शस्त्र के द्वारा भी इसका छेदन-भेदन नही हो सकता है, फिर भी माप के लिए इसको मूल कारण माना गया है। जो इस प्रकार है—अनन्त व्यवहार परमाणुओ की एक उत्श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका औरआठ उत्श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका की एक श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका होती है।[1] आठ श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका का एक

---

१ जीवसमास सूत्र मे अनन्त उत्श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका की एक श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका वतलाई है, लेकिन आगमो मे अनेक स्थानो पर अठगुनी ही वतलाई है। अत: यहा भी आगम के अनुसार कथन किया है।

ऊर्ध्वरेणु, आठ ऊर्ध्वरेणु का एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु, आठ रथरेणु का देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्य का एक केशाग्र, उन आठ केशाग्रों का एक हरिवर्ष और रम्यक क्षेत्र के मनुष्य का केशाग्र, उन आठ केशाग्रो का एक पूर्वापर विदेह के मनुष्य का केशाग्र, उन आठ केशाग्रों का एक भरत और ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यो का केशाग्र, उन आठ केशाग्रो की एक लीख, आठ लीख की एक यूका (जूँ), आठ यूका का एक यव का मध्य भाग और आठ यवमध्य का एक उत्सेधागुल होता है।

छह उत्सेधांगुल का एक पाद, दो पाद की एक वितस्ति, दो वितस्ति का एक हाथ, चार हाथ का एक धनुष, दो हजार धनुप का एक गव्यूत और चार गव्यूत का एक योजन होता है।

प्रमाणांगुल—उत्सेधांगुल से अढाई गुणा विस्तार वाला और चार सौ गुणा लम्बा प्रमाणागुल होता है। युग के आदि में भरत चक्रवर्ती का जो आत्मांगुल था उसको प्रमाणांगुल जानना चाहिये।[1]

दिगम्बर साहित्य मे अंगुलो का प्रमाण इस प्रकार वतलाया है—अनन्तानंत सूक्ष्म परमाणुओ की उत्संज्ञासंज्ञा, आठ उत्संज्ञासंज्ञा की एक संज्ञासंज्ञा, आठ संज्ञासंज्ञा का एक त्रुटिरेणु, आठ त्रुटिरेणु का एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु, आठ रथरेणु का उत्तर-कुरु देवकुरु के मनुष्य का एक वालाग्र, उन आठ वालाग्रों का रम्यक और हरिवर्ष के मनुष्य का एक वालाग्र, उन आठ वालाग्रो का हैमवत और हैरण्यवत के मनुष्य का एक वालाग्र, उन आठ वालाग्रों का भरत, ऐरावत व विदेह के मनुष्यों का एक वालाग्र तथा लीख, यूका आदि

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र पृ० १५६-१७२, प्रवचनसारोद्धार पृ० ४०५-८, द्रव्यलोक-प्रकाश पृ० १-२।

का प्रमाण पूर्ववत् समझना चाहिये। उत्सेधांगुल से पाँच सौ गुणा प्रमाणांगुल होता है। यही भरत चक्रवर्ती का आत्मांगुल है।[1]

इस प्रकार से पल्योपम के भेद और उनका स्वरूप जानना चाहिये।[2] पूर्व मे सासादन आदि गुणस्थानों का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्त वतलाया गया है। अतः अव आगे तीन गाथाओ मे पुद्गल परावर्त का स्वरूप स्पष्ट करते है।

दव्वे खित्ते काले भावे चउह दुह बायरो सुहुमो।
होइ अणतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरट्टो ॥८६॥
उरलाइसत्तगेणं एगजिउ मुयइ फुसिय सव्वअणू।
जत्तियकालि स थूलो दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ॥८७॥
लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबधठाणा य।
जह तह कममरणेणं पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥८८॥

शब्दार्थ—**दव्वे**—द्रव्य विषयक, **खित्ते**—क्षेत्र विषयक, **काले**—काल विषयक, **भावे**—भाव विषयक, **चउह**—चार प्रकार का, **दुह**—दो प्रकार का, **बायरो**—वादर, **सुहुमो**—सूक्ष्म, **होइ**—होता है, **अणतुस्सप्पिणिपरिमाणो**—अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण, **पुग्गलपरट्टो**—पुद्गल परावर्त।

उरलाइसत्तगेणं—औदारिक आदि सात वर्गणा रूप से, **एगजिउ**—एक जीव, **मुयइ**—छोड़ दे, **फुसिय**—स्पर्श करके, परिणमित करके, **सव्वअणू**—सभी परमाणुओ को, **जत्तियकालि**—जितने समय मे, **स**—उतना काल, **थूलो**—स्थूल, वादर, **दव्वे**—द्रव्यपुद्गल परावर्त, **सुहुमो**—सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त, **सगन्नयरा**—सात मे से किसी एक एक वर्गणा के द्वारा।

---

१ तत्त्वार्थ राजवार्तिक पृ० १४७-१४८

२ दिगम्बर साहित्य मे किये गये पल्यो के वर्णन के लिये परिशिष्ट देखें

लोगपएसा—लोक के प्रदेश, **उसप्पिणिसमया**—उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के समय, **अणुभागबंधठाणा** – अनुभाग बंध के स्थान, **य**—और, **जह तह**—जिस किसी भी प्रकार से, **कम**—अनुक्रम से, **मरणेण**—मरण के द्वारा, **पुट्ठा** – स्पर्श किये हुए, **खित्ताइ**—क्षेत्रादिक, **थूलियरा**—स्थूल (बादर) और सूक्ष्म पुद्गल परावर्त ।

गाथार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार वाले पुद्गल परावर्त के बादर और सूक्ष्म, ये दो-दो भेद होते है। यह पुद्गल परावर्त अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी काल के बराबर होता है।

जितने काल में एक जीव समस्त लोक में रहने वाले समस्त परमाणुओं को औदारिक शरीर आदि सात वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने काल को बादर द्रव्य-पुद्गल परावर्त कहते है और जितने काल में समस्त परमाणुओ को औदारिक शरीर आदि सात वर्गणाओं मे से किसी एक वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने काल को सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त कहते है।

एक जीव अपने मरण के द्वारा लोकाकाश के समस्त प्रदेशों, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल के समय तथा अनुभाग बंध के स्थानो को जिस किसी भी प्रकार (बिना क्रम के) से और अनुक्रम से स्पर्श कर लेता है तब क्रमश· बादर और सूक्ष्म क्षेत्रादि पुद्गल परावर्त होते है।

विशेषार्थ— जैन साहित्य मे प्रत्येक विषय की चर्चा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से की जाती है। इन्ही चार अपेक्षाओं को लेकर यहाँ पुद्गल परावर्त का कथन किया जा रहा है। परावर्त का अर्थ है परिवर्तन, फेरबदल, उलटफेर इत्यादि। द्रव्य से यहा

पुद्गल द्रव्य का ग्रहण किया गया है । क्योकि एक तो प्रत्येक परिवर्तन के साथ पुद्गल शब्द लगा हुआ है और उसके ही द्रव्यपुद्गल परावर्त आदि चार भेद बतलाये है। दूसरे जोव के संसार भ्रमण का कारण पुद्गल द्रव्य ही है, संसार अवस्था मे जीव उसके बिना रह ही नहो सकता है । इसीलिये पुद्गल के सबसे छोटे अणु—परमाणु को यहा द्रव्य पद से माना है। आकाश के जितने भाग में वह परमाणु समाता है, उसे प्रदेश कहते है और वह प्रदेश लोकाकाश का ही एक अंश है, क्योंकि जीव लोकाकाश में ही रहता है। पुद्गल का एक परमाणु एक प्रदेश से उसी के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश मे जितने समय में पहुँचता है, उसे समय कहते है। यह काल का सबसे छोटा हिस्सा है। भाव से यहा अनुभाग बंध के कारणभूत कषाय रूप भाव लिये गये है। इन्ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के परिवर्तन को लेकर चार परिवर्तन माने गये है ।

यद्यपि द्रव्यपुद्गल परावर्त के सिवाय अन्य किसी भी परावर्त में पुद्गल का परावर्तन नही होता है, क्योकि क्षेत्रपुद्गल परावर्त में क्षेत्र का, कालपुद्गल परावर्त में काल का और भावपुद्गल परावर्त मे भाव का परावर्तन होता है, किन्तु पुद्गल परावर्त का काल अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के बराबर बतलाया है और क्षेत्र, काल और भाव परावर्त का काल भी अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी होता है, अतः इन परावर्तो की पुद्गल परावर्त संज्ञा रखी गई है ।[1]

---

१ पुद्गलानाम्—परमाणूनाम् औदारिकादिरूपतया विवक्षितैकशरीररूपतया वा सामस्त्येन परावर्त =परिणमन यावति काले स तावान् काल. पुद्गल-परावर्त । इद च शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्त, अनेन च व्युत्पत्तिनिमित्तेन

(शेष अगले पृष्ठ देखें)

जब जीव मरण कर-करके पुद्गल के एक-एक परमाणु के द्वारा समस्त परमाणुओ को भोग लेता है तो वह द्रव्यपुद्गल परावर्त और आकाश के एक-एक प्रदेश में मरण करके समस्त लोकाकाश के प्रदेशो को स्पर्श कर चुकता है तब वह क्षेत्रपुद्गल परावर्त कहलाता है। इसी प्रकार काल और भाव पुद्गल परावर्तों के बारे मे जानना चाहिये। यह तो स्पष्ट है कि जब जीव अनादि काल से इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है तब अभी तक एक भी ऐसा परमाणु नही बचा है कि जिसका उसने भोग न किया हो, आकाश का एक भी प्रदेश ऐसा नही बचा जहाँ वह न मरा हो और उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल का एक भी समय शेष नही रहा जिसमे वह मरा न हो और ऐसा एक भी कषायस्थान बाकी नही रहा, जिसमे वह न मरा हो। उसने उन सभी परमाणु, प्रदेश, समय और कषायस्थानो का अनेक बार अपने मरण के द्वारा भोग कर लिया है। इसी को दृष्टि मे रखकर द्रव्यपुद्गल परावर्त आदि नामो से काल का विभाग कर दिया है और जो पुद्गल परावर्त जितने काल मे होता है, उतने काल के प्रमाण को उस पुद्गल परावर्त के नाम से कहा जाता है।

इसीलिए ग्रन्थकार ने पुद्गल परावर्त के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चार भेदो का यहा वर्णन किया है।

पुद्गल परावर्त के काल का ज्ञान कराने के लिये गाथा मे संकेत किया है कि वह अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी काल के

स्वैकार्थसमवायिप्रवृत्तिनिमित्तमनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूप लक्ष्यते। तेन क्षेत्रपुद्गलपरावर्तादौ पुद्गलपरावर्तनाभावेऽपि प्रवृत्तिनिमित्त-स्यानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूपस्य विद्यमानत्वात् पुद्गलपरावर्त-शब्द प्रवर्तमानो न विरुद्ध्यते। प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ०

बरावर होता है। अर्थात् अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी काल का एक पुद्‌गल परावर्त होता है।

पुद्‌गल परावर्त के चार भेद है—'दव्वे खित्ते काले भावे चउह' यानी द्रव्यपुद्‌गल परावर्त, क्षेत्रपुद्‌गल परावर्त, कालपुद्‌गल परावर्त और भावपुद्‌गल परावर्त। इन चारो भेदों में से प्रत्येक के वादर और सूक्ष्म यह दो भेद होते है—दुह बायरो सुहुमो। अर्थात् पुद्‌गलपरावर्त का सामान्य से काल अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी प्रमाण है और द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव ये चार मूल भेद है। ये मूल भेद भी प्रत्येक सूक्ष्म, वादर के भेद से दो-दो प्रकार के है। जिनके लक्षण नीचे स्पष्ट करते है। सर्वप्रथम वादर और सूक्ष्म द्रव्यपुद्‌गल परावर्त का स्वरूप वतलाते है।

द्रव्यपुद्‌गल परावर्त—पूर्व मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अनेक प्रकार की पुद्‌गल वर्गणाओ से लोक भरा हुआ है और उन वर्गणाओ मे से आठ प्रकार की वर्गणाये ग्रहणयोग्य है यानी जीव द्वारा ग्रहण की जाती है और जीव उन्हे ग्रहण कर उनसे अपने शरीर, मन, वचन आदि की रचना करता है। ये वर्गणाये है—

१ औदारिक ग्रहणयोग्य वर्गणा, २ वैक्रिय ग्रहणयोग्य वर्गणा, ३ आहारक ग्रहणयोग्य वर्गणा, ४ तैजस ग्रहणयोग्य वर्गणा, ५ भापा ग्रहणयोग्य वर्गणा, ६ श्वासोच्छ्‌वास ग्रहणयोग्य वर्गणा, ७ मनो ग्रहण-योग्य वर्गणा, ८ कार्मण ग्रहणयोग्य वर्गणा। इन वर्गणाओ मे से जितने समय में एक जीव समस्त परमाणुओ को आहारक ग्रहणयोग्य वर्गणा को छोडकर शेप औदारिक, वैक्रिय, तैजस, भापा, आनप्राण, मन और कार्मण शरीर रूप परिणमाकर उन्हे भोगकर छोड देता

है। इसे बादर द्रव्यपुद्गल परावर्त कहते हैं[1] और जितने समय में समस्त परमाणुओं को औदारिक आदि सात वर्गणाओ मे से किसी एक वर्गणा रूप परिणमा कर उन्हें ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने समय को सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त कहते है।

इन दोनों का सारांश यह है कि बादर द्रव्यपुद्गल परावर्त में तो समस्त परमाणुओं को आहारक को छोड़कर सात रूप से भोगकर छोड़ जाता है और सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त मे उन्हें केवल किसी एक रूप से ग्रहण करके छोड़ा जाता है। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यदि समस्त परमाणुओं को एक औदारिक शरीर रूप परिणमाते समय मध्य में कुछ परमाणुओं को वैक्रिय शरीर आदि रूप ग्रहण करके छोड़ दिया या समस्त परमाणुओं को वैक्रिय आदि शरीर रूप ग्रहण करके छोड़ दिया अथवा समस्त परमाणुओ को वैक्रिय शरीर रूप परिणमाते समय बीच-बीच में कुछ परमाणुओ को औदारिक आदि रूप से ग्रहण करके छोड़ दिया तो वे गणना में नही लिये जाते हैं। किन्तु जिस शरीर रूप परिवर्तन चालू है, उसी शरीर रूप जो पुद्गल परमाणु ग्रहण करके छोड़े जाते है, उन्हे ही सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त में ग्रहण किया जाता है।[2]

---

१ आहारक शरीर को छोड़ने का कारण यह है कि आहारक शरीर ए[illegible]
जीव को अधिक-से-अधिक चार बार ही [illegible] है। अत. वह [illegible]
परावर्त में उपयोगी नही है—
आहारकशरीरं चोत्कृष्टतोऽप्येकजीवस्य [illegible] सम्भवति,
ततस्तत् पुद्गलपरावर्तं प्रत्यनुपयोगान्न ग्रह[illegible]
० ३०

२ एतस्मिन् सूक्ष्मे द्रव्यपुद्गलपरावर्ते [illegible]
शरीरतया ये परिभुज्य परिभुज्य परित्यज[illegible]
काले यदि सर्वेऽपि ते च विवक्षितैकशरीररूपत[illegible]

द्रव्यपुद्गल परावर्त के वारे मे किन्ही-किन्ही आचार्यो का मत है कि—

अहव इमो दव्वाई ओरालविउव्वतेयकम्मेहि ।
नीसेसदव्वगहणमि वायरो होइ परियट्टो ॥[1]

एके तु आचार्या एवं द्रव्यपुद्गलपरावर्तस्वरूप प्रतिपादयन्ति—तथाहि, यदैको जीवोऽनेकैर्भवग्रहणैरौदारिकशरीरवैक्रियशरीरतेजसशरीरकार्मण-शरीरचतुष्टयरूपतया यथास्व सकललोकवर्तिन सर्वान् पुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति तदा वादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति । यदा पुनरौदारिकादि-चतुष्टयमध्यादेकेन केनचिच्छरीरेण सर्वपुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति शेष-शरीरपरिणमितास्तु पुदगला न गृह्यन्ते एव तदा सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति ।[1]

—समस्त पुद्गल परमाणुओ को औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण इन चार शरीर रूप ग्रहण करके छोड देने मे जितना काल लगता है, उसे वादर द्रव्यपुद्गल परावर्त कहते है और समस्त पुद्गल परमाणुओ को उक्त चारो शरीरो में से किसी एक शरीर रूप परिणमा कर छोड़ देने मे जितना काल लगता है, उतने काल को सूक्ष्म द्रव्य-पुद्गल परावर्त कहते है ।

इस प्रकार से वादर और सूक्ष्म दोनो प्रकार के द्रव्यपुद्गल परा-वर्त के स्वरूप को वतलाने के वाद अव क्षेत्र, काल और भावपुद्गल परावर्तो का स्वरूप वतलाते है । द्रव्यपुद्गल परावर्त के समान ही क्षेत्र, काल और भाव पुद्गल परावर्तो में से प्रत्येक के सूक्ष्म और वादर यह दो-दो प्रकार है ।

सामान्य तौर पर जीव द्वारा लोकाकाश के अनन्त

---

१ प्रवचन० गा० ४१

१ पचम कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १०३

है, उसे वादर द्रव्यपुद्गल परावर्त कहते है[1] और जितने समय में समस्त परमाणुओ को औदारिक आदि सात वर्गणाओ में से किसी एक वर्गणा रूप परिणमा कर उन्हे ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने समय को सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त कहते है।

उक्त कथन का साराश यह है कि वादर द्रव्यपुद्गल परावर्त मे तो समस्त परमाणुओ को आहारक को छोडकर सात रूप से भोगकर छोडा जाता है और सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त मे उन्हे केवल किसी एक रूप से ग्रहण करके छोड़ा जाता है। यहा यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यदि समस्त परमाणुओं को एक औदारिक शरीर रूप परिणमाते समय मध्य में कुछ परमाणुओं को वैक्रिय शरीर आदि रूप ग्रहण करके छोड दिया या समस्त परमाणुओ को वैक्रिय आदि शरीर रूप ग्रहण करके छोड़ दिया अथवा समस्त परमाणुओं को वैक्रिय शरीर रूप परिणमाते समय बीच-बीच में कुछ परमाणुओं को औदारिक आदि रूप से ग्रहण करके छोड़ दिया तो वे गणना में नही लिये जाते है। किन्तु जिस शरीर रूप परिवर्तन चालू है, उसी शरीर रूप जो पुद्गल परमाणु ग्रहण करके छोड़े जाते है, उन्हे ही सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त में ग्रहण किया जाता है।[2]

---

१ आहारक शरीर को छोडने का कारण यह है कि आहारक शरीर एक जीव को अधिक-से-अधिक चार बार ही हो सकता है। अत वह पुद्गल परावर्त मे उपयोगी नही है—

आहारकशरीर चोत्कृष्टतोऽप्येकजीवस्य वारचतुष्टयमेव सम्भवति, ततस्तस्य पुद्गलपरावर्त प्रत्यनुपयोगान्न ग्रहण कृतमिति।

—प्रवचन० टीका, पृ० ३०८ उ०

२ एतस्मिन् सूक्ष्मे द्रव्यपुद्गलपरावर्ते विवक्षितैकशरीरव्यतिरेकेणान्यशरीरतया ये परिभुज्य परिभुज्य परित्यजन्ते ते न गण्यन्ते, किन्तु प्रभूतेऽपि काले गते सति ये च विवक्षितैकशरीररूपतया परिणम्यन्ते त एव गण्यन्ते।

—प्रवचन० टीका पृ० ३०८ उ०

से जिन प्रदेशों में मरण किया जाता है अथवा पूर्व मरणस्थान मे पुनः जन्म लेकर मरण किया जाता है तो उनकी गणना नही की जाती है। इससे यह स्पस्ट है कि बादर की अपेक्षा सूक्ष्म क्षेत्रपुद्‌गल परावर्त में समय अधिक लगता है। वादर का समय कम और सूक्ष्म का समय अधिक है।

सूक्ष्म क्षेत्रपुद्‌गल परावर्त के संबन्ध में एक वात और जानना चाहिए कि एक जीव की जघन्य अवगाहना लोक के असंख्यातवे भाग वतलाई है, जिससे एक जीव यद्यपि लोकाकाश के एक प्रदेश मे नही रह सकता तथापि किसी एक देश मे मरण करने पर उस देश का कोई एक प्रदेश आधार मान लिया जाता है। जिससे यदि उस विवक्षित प्रदेश से दूरवर्ती किन्ही प्रदेशों मे मरण होता है तो वे गणना मे नही लिये जाते है किन्तु अनन्तकाल बीत जाने पर जब कभी विवक्षित प्रदेश के अनन्तर का जो प्रदेश है, उसमें मरण करता है तो वह गणना मे लिया जाता है।

प्रदेशो को ग्रहण करने के वारे मे किन्ही-किन्ही आचार्यो का मत है कि लोकाकाश के जिन प्रदेशो में मरण करता है वे सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते है, उनका मध्यवर्ती कोई विवक्षित प्रदेश ग्रहण नही किया जाता है—

अन्ये तु व्याचक्षते—येष्वाकाशप्रदेशेष्वगाढो जीवो मृतस्ते सर्वेऽपि आकाशप्रदेशा. गण्यन्ते, न पुनस्तन्मध्यवर्ती विवक्षितः कश्चिदेक एवाकाशप्रदेश इति। —प्रवचन० टीका पृ० ३०६ उ०

कालपुद्गल परावर्त— जितने समय मे एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सव समयो मे क्रम से या अक्रम से मरण कर चुकता है, उतने काल को वादर कालपुद्‌गल परावर्त कहते है और कोई जीव किसी विवक्षित अवसर्पिणी काल के पहले समय [illegible] उसके निकटवर्ती दूसरे समय मे मरा. पुनः तीसरे [illegible]

अपने मरण के द्वारा स्पर्श करना क्षेत्रपुद्गल परावर्त का अर्थ है और उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल के सभी समयो का अपने मरण द्वारा स्पर्श करना तथा अनुभाग बंध के कारणभूत समस्त कषायस्थानो का अपने मरण द्वारा स्पर्श कर लेना क्रम से काल और भाव पुद्गल परावर्त कहलाते है। जिनका विशद स्पष्टीकरण नीचे लिखे अनुसार है।

क्षेत्रपुद्गल परावर्त—कोई एक जीव भ्रमण करता हुआ आकाश के किसी एक प्रदेश में मरा और वही जीव पुन' आकाश के किसी दूसरे प्रदेश मे मरा, तीसरे, चौथे आदि प्रदेशो में मरा। इस प्रकार जव वह लोकाकाश के समस्त प्रदेशो मे मर चुकता है तो उतने काल को वादर क्षेत्रपुद्गल परावर्त कहते है। वादर क्षेत्रपुद्गल परावर्त में क्रम-अक्रम आदि किसी भी प्रकार से समस्त आकाश प्रदेशों को स्पर्श कर लेना ही पर्याप्त माना जाता है।

सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त में भी आकाश प्रदेशो को स्पर्श किया जाता है, लेकिन उसकी विशेषता इस प्रकार है कि—कोई जीव भ्रमण करता-करता आकाश के किसी एक प्रदेश मे मरण करके पुनः उस प्रदेश के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश में मरण करता है, पुन' उसके निकट-वर्ती तीसरे प्रदेश मे मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर-अनन्तर क्रम से प्रदेश मे मरण करते-करते जव समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में मरण कर लेता है, तव वह सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त कहलाता है।

उक्त कथन का साराश और वादर व सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त में अन्तर यह है कि वादर में तो क्रम का विचार नही किया जाता है, उसमे व्यवहित प्रदेश में मरण करने पर यदि वह प्रदेश पूर्व स्पृष्ट नही है तो उसका ग्रहण होता है, यानी वहा क्रम से या विना क्रम से समस्त प्रदेशो मे मरण कर लेना ही पर्याप्त समझा जाता है किन्तु सूक्ष्म में समस्त प्रदेशों में क्रम से ही मरण करना चाहिये और अक्रम

से जिन प्रदेशो में मरण किया जाता है अथवा पूर्व मरणस्थान में पुनः जन्म लेकर मरण किया जाता है तो उनकी गणना नही की जाती है। इससे यह स्पस्ट है कि वादर की अपेक्षा सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त में समय अधिक लगता है। वादर का समय कम और सूक्ष्म का समय अधिक है।

सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त के संबन्ध मे एक बात और जानना चाहिए कि एक जीव की जघन्य अवगाहना लोक के असंख्यातवे भाग वतलाई है, जिससे एक जीव यद्यपि लोकाकाश के एक प्रदेश मे नही रह सकता तथापि किसी एक देश मे मरण करने पर उस देश का कोई एक प्रदेश आधार मान लिया जाता है। जिससे यदि उस विवक्षित प्रदेश से दूरवर्ती किन्ही प्रदेशो मे मरण होता है तो वे गणना मे नही लिये जाते है किन्तु अनन्तकाल वीत जाने पर जब कभी विवक्षित प्रदेश के अनन्तर का जो प्रदेश है, उसमे मरण करता है तो वह गणना मे लिया जाता है।

प्रदेशो को ग्रहण करने के वारे मे किन्ही-किन्ही आचार्यों का मत है कि लोकाकाश के जिन प्रदेशो मे मरण करता है वे सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते है, उनका मध्यवर्ती कोई विवक्षित प्रदेश ग्रहण नही किया जाता है—

अन्ये तु व्याचक्षते—येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढो जीवो मृतस्ते सर्वेऽपि आकाशप्रदेशा. गण्यन्ते, न पुनस्तन्मध्यवर्ती विवक्षितः कश्चिदेक एवाकाशप्रदेश इति। —प्रवचन० टीका पृ० ३०६ उ०

कालपुद्गल परावर्त— जितने समय मे एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सव समयो मे क्रम से या अक्रम से मरण कर चुकता है, उतने काल को वादर कालपुद्गल परावर्त कहते है और कोई एक जीव किसी विवक्षित अवसर्पिणी काल के पहले समय में मरा, पुन उसके निकटवर्ती दूसरे समय मे मरा, पुनः तीसरे समय

प्रकार क्रमवार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सब समय में जब मरण कर चुकता है तो उसे सूक्ष्म कालपुद्गल परावर्त कहते है।

क्षेत्र की तरहही यहा भी समयों की गणना क्रमवार करना चाहिये, अक्रमवारकी गणना नही करना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि कोई जीव अवसर्पिणी के प्रथम समय में मरा, उसके बाद एक समय कम बीस कोड़ाकोडी सागरोपम के बीत जाने के बाद पुनः अवसर्पिणी काल के प्रारम्भ होने पर उसके दूसरे समय मे मरे तो वह द्वितीय समय गणना मे लिया जाता है। मध्य के शेष समयो मे उसकी मृत्यु होने पर भी वे गणना मे नही लिये जाते है। यदि वह जीव उक्त अवसर्पिणी के द्वितीय समय में मरण को प्राप्त न हो किन्तु अन्य समयो में मरण करे तो उनका भी ग्रहण नही किया जाता है किन्तु अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के बीत जाने पर जब भी अवसर्पिणी के दूसरे समय मे ही मरता है तब वह काल ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार तीसरे, चौथे, पाचवे आदि समयों के बारे मे भी समझना चाहिये कि जितने समयो में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समस्त समयो में क्रम से मरण कर चुकता है, उस काल को सूक्ष्म कालपुद्गल परावर्त कहते है।

भावपुद्गल परावर्त—अनुभागबंधस्थान—कषायस्थान तरतम भेद को लिये असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के बराबर है अर्थात् उनकी संख्या असंख्यात है। उन अनुभागबंधस्थानो मे से एक-एक अनुभागबंधस्थान में क्रम से या अक्रम से मरण करते-करते जीव जितने समय में समस्त अनुभागबंधस्थानो मे मरण कर चुकता है, उतने समय को बादर भावपुद्गल परावर्त कहते है और सबसे जघन्य अनुभागबंधस्थान में वर्तमान कोई जीव मरा, उसके बाद उस स्थान के अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभागबंधस्थान में मरा, उसके बाद उसके अनन्तरवर्ती तीसरे आदि अनुभागबंधस्थानो में मरा आदि। इस प्रकार क्रम से जब समस्त अनुभागबंधस्थानो मे मरण कर लेता है वह सूक्ष्मभावपुद्गल परावर्त कहलाता है।

बादर और सूक्ष्म भावपुद्गल परावर्तों में भी अन्य परावर्तों की तरह यह अन्तर समझना चाहिये कि कोई जीव सबसे जघन्य अनुभागबंधस्थान मे मरण करके उसके बाद अनन्तकाल बीत जाने पर भी जब प्रथम अनुभागस्थान के अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभागबंधस्थान मे मरण करता है तो सूक्ष्म भावपुद्गल परावर्त में वह मरण गणना में लिया जाता है किन्तु अक्रम से होने वाले अनन्त-अनन्त मरण गणना मे नही लिये जाते है। इसी तरह कालान्तर में द्वितीय अनुभागबंध-स्थान के अनन्तरवर्ती तीसरे अनुभागबंधस्थान में जब मरण करता है तो वह मरण गणना में लिया जाता है। चौथे, पांचवे आदि स्थानो के लिये भी यही क्रम समझना चाहिये। अर्थात् बादर में तो क्रम-अक्रम किसी भी प्रकारसे होने वाले मरणों की और सूक्ष्म मे सिर्फ क्रम से होने वाले मरणों की गणना की जाती है।

इस प्रकार से बादर और सूक्ष्म पुद्गल परावर्तो[1] का स्वरूप बत-

---

(क) पचसग्रह २।३७-४१ तक मे भी इसी प्रकार द्रव्य आदि चारो पुद्गल परा-वर्तो का स्वरूप, भेद आदि का वर्णन किया है। वे गाथाये इस प्रकार है—

पोग्गल परियट्टो इह दव्वाइ चउव्विहो मुणेयव्वो।
एक्केक्को पुण दुविहो बायरसुहुमत्तभेएण ॥
ससारमि अडतो जाव य कालेण फुसिय सव्वाणू।
इगु जीवु मुयइ बायर अन्नयरतणुट्ठिओ सुहुमो ॥
लोगस्स पएसेसु अणतरपरपराविभत्तीहिं ।
खेत्तमि बायरो सो सुहुमो उ अणतरमयस्स ॥
उस्सप्पिणिसमएसु अणतरपरपराविभत्तीहिं ।
कालम्मि बायरो सो सुहुमो उ अणतरमयस्स ॥
अणुभागट्ठाणेसु अणतरपरपराविभत्तीहिं ।
भावमि बायरो सो सुहुमो सव्वेसुऽणुक्कमसो

(ख) दिगम्बर साहित्य मे परावर्तो का वर्णन भिन्न रूप से कि[illegible] वर्णन परिशिष्ट मे देखिये।

लाने के वाद अब सामान्य से उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वा-
बतलाते है ।

अप्पयरपयडिबंधी उक्कडजोगी य सन्निपज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोस जहन्नयं तस्स वच्चासे ।।८६।।

शब्दार्थ—**अप्पयरपयडिबंधी**—अल्पतर प्रकृतियो का वध करने वाला, **उक्कडजोगी**—उत्कृष्ट योग का धारक, **य**—और, **सन्निपज्जत्तो**—सज्ञी पर्याप्त, **कुणइ**—करता है, **पएसुक्कोस**—प्रदेशो का उत्कृष्ट वध, **जहन्नयं**—जघन्य प्रदेशवध, **तस्स**—उसका, **वच्चासे**—विपरीतता से ।

गाथार्थ—अल्पतर प्रकृतियों का बंध करने वाला उत्कृष्ट योग का धारक और पर्याप्त संज्ञी जीव ... ध करता है तथा इसके विपरीत अर्थात् वहु ... बंध करने वाला जघन्य योग का धारक ... ।

लाने के बाद अब सामान्य से उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामी बतलाते है ।

अप्पयरपयडिबंधी उक्कडजोगी य सन्निपज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोस जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥८९॥

शब्दार्थ—**अप्पयरपयडिबंधी**—अल्पतर प्रकृतियो का बध करने वाला, **उक्कडजोगी**—उत्कृष्ट योग का धारक, **य**—और, **सन्निपज्जत्तो**—सज्ञी पर्याप्त, **कुणइ**—करता है, **पएसुक्कोस**—प्रदेशो का उत्कृष्ट बध, **जहन्नयं**—जघन्य प्रदेशबध, **तस्स**—उसका, **वच्चासे**—विपरीतता से ।

गाथार्थ—अल्पतर प्रकृतियों का बंध करने वाला उत्कृष्ट योग का धारक और पर्याप्त संज्ञी जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है तथा इसके विपरीत अर्थात् बहुत प्रकृतियों का बंध करने वाला जघन्य योग का धारक अपर्याप्त असंज्ञी जीव जघन्य प्रदेशबंध करता है ।

विशेषार्थ—इस गाथा मे उत्कृष्ट प्रदेशबंध और जघन्य प्रदेशबंध करने वाले का कथन किया गया है । जो मूल और उत्तर प्रकृतिया अल्प बाधे वह उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है । क्योकि कर्मप्रकृतियो के अल्प होने से प्रत्येक प्रकृति को अधिक प्रदेश मिलते है । इसीलिये अल्पतर प्रकृति का बंधक और उत्कृष्ट योग का धारक ऐसा संज्ञी पर्याप्त जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है और इससे विपरीत स्थिति में यानी अधिक प्रकृतियो को बाधने वालो के कर्मदलिको को अधिक भागो मे (प्रकृतियो मे) विभाजित हो जाने से प्रत्येक को अल्प प्रदेश मिलते है । इसीलिये अधिक प्रकृतियो का बंधक और मंद योग वाला असंज्ञी अपर्याप्त जीव जघन्य प्रदेशबंध करता है । इसका स्पष्टीकरण [illegible] लिखे अनुसार है ।

उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामियों का कथन करने के प्रसंग में निम्नलिखित वातों पर प्रकाश डाला गया है।

१—जैसे अधिक द्रव्य की प्राप्ति के लिये भागीदारों का कम होना आवश्यक है, वैसे ही उत्कृष्ट प्रदेशबंध का कर्ता थोड़ी प्रकृतियो का वॉधने वाला होना चाहिये। क्योंकि पहले कर्मों के वटवारे में यह वतलाया जा चुका है कि एक समय में जितने पुद्गलो का वंध होता है, वे सव उन-उन प्रकृतियो मे विभाजित हो जाते है जिनका उस समय वंध होता है। इसीलिये यदि बंधने वाली प्रकृतियो की संख्या अधिक होगी तो वटवारे के समय उनको थोडे-थोड़े प्रदेश मिलेगे और यदि प्रकृतियों की संख्या कम होती है तो बटवारे मे अधिक-अधिक दलिक मिलते है।

२– अधिक प्राप्ति के लिये जैसे अधिक आय होना आवश्यक है, वैसे ही उत्कृष्ट प्रदेशवंध करने वाला उत्कृष्ट योग वाला होना चाहिये। क्योकि प्रदेशवंध का कारण योग है और यदि योग तीव्र होता है तो अधिक संख्या में कर्मदलिकों का आत्मा के साथ सम्वन्ध होगा तथा योग मंद है तो कर्मदलिको की संख्या मे भी कमी रहती है। इसीलिये उत्कृष्ट प्रदेशबंध के लिये उत्कृष्ट योग का होना वतलाया है—उक्कड जोगी।

३-४—उत्कृष्ट प्रदेशवंध के स्वामी के लिये तीसरी वात यह आवश्यक है कि— सन्निपज्जत्तो— वह संज्ञी पर्याप्तक होना चाहिये। क्योकि अपर्याप्तक जीव अल्प आयु और शक्ति वाला होता है, जिससे वह उत्कृष्ट प्रदेशवंध नही कर सकता। पर्याप्तक होने के साथ-साथ संज्ञी होना चाहिये। क्योकि पर्याप्तक होकर यदि वह संज्ञी नही हुआ तो भी उत्कृष्ट प्रदेशवंध नही कर सकता है। असंज्ञी जीव की शक्ति भी अपरिपूर्ण रहती है।

लाने के बाद अब सामान्य से उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामी बतलाते है ।

अप्पयरपयडिबंधी उक्कडजोगी य सन्निपज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥८६॥

शब्दार्थ—**अप्पयरपयडिबंधी**—अल्पतर प्रकृतियो का बंध करने वाला, **उक्कडजोगी**—उत्कृष्ट योग का धारक, **य**—और, **सन्निपज्जत्तो**—सज्ञी पर्याप्त, **कुणइ**—करता है, **पएसुक्कोस**—प्रदेशो का उत्कृष्ट बंध, **जहन्नयं**—जघन्य प्रदेशबध, **तस्स**—उसका, **वच्चासे**—विपरीतता से ।

गाथार्थ—अल्पतर प्रकृतियों का बंध करने वाला उत्कृष्ट योग का धारक और पर्याप्त संज्ञी जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है तथा इसके विपरीत अर्थात् बहुत प्रकृतियो का बंध करने वाला जघन्य योग का धारक अपर्याप्त असंज्ञी जीव जघन्य प्रदेशबंध करता है ।

विशेषार्थ—इस गाथा में उत्कृष्ट प्रदेशबंध और जघन्य प्रदेशबंध करने वाले का कथन किया गया है। जो मूल और उत्तर प्रकृतिया अल्प बाधे वह उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है । क्योकि कर्मप्रकृतियो के अल्प होने से प्रत्येक प्रकृति को अधिक प्रदेश मिलते है । इसीलिये अल्पतर प्रकृति का बंधक और उत्कृष्ट योग का धारक ऐसा संज्ञी पर्याप्त जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है और इससे विपरीत स्थिति मे यानी अधिक प्रकृतियों को बाधने वालो के कर्मदलिको को अधिक भागों में (प्रकृतियों मे) विभाजित हो जाने से प्रत्येक को अल्प प्रदेश मिलते है । इसीलिये अधिक प्रकृतियों का बंधक और मंद योग वाला असंज्ञी अपर्याप्त जीव जघन्य प्रदेशबंध करता है । इसका स्पष्टीकरण नीचे लिखे अनुसार है ।

उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामियो का कथन करने के प्रसंग मे निम्नलिखित वातो पर प्रकाश डाला गया है ।

१—जैसे अधिक द्रव्य की प्राप्ति के लिये भागीदारो का कम होना आवश्यक है, वैसे ही उत्कृष्ट प्रदेशवंध का कर्ता थोड़ी प्रकृतियो का वॉधने वाला होना चाहिये । क्योंकि पहले कर्मों के वटवारे में यह वत-लाया जा चुका है कि एक समय मे जितने पुद्गलो का वंध होता है, वे सव उन-उन प्रकृतियो मे विभाजित हो जाते है जिनका उस समय वंध होता है । इसीलिये यदि बंधने वाली प्रकृतियो की संख्या अधिक होगी तो वटवारे के समय उनको थोडे-थोड़े प्रदेश मिलेगे और यदि प्रकृतियो की संख्या कम होती है तो वटवारे मे अधिक-अधिक दलिक मिलते है ।

२- अधिक प्राप्ति के लिये जैसे अधिक आय होना आवश्यक है, वैसे ही उत्कृष्ट प्रदेशवंध करने वाला उत्कृष्ट योग वाला होना चाहिये । क्योकि प्रदेशवंध का कारण योग है और यदि योग तीव्र होता है तो अधिक संख्या में कर्मदलिकों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होगा तथा योग मंद है तो कर्मदलिको की संख्या मे भी कमी रहती है । इसोलिये उत्कृष्ट प्रदेशवंध के लिये उत्कृष्ट योग का होना वत-लाया है—उक्कड जोगी ।

३-४—उत्कृष्ट प्रदेशवंध के स्वामी के लिये तीसरी वात यह आव-श्यक है कि— सन्निपज्जत्तो— वह संज्ञी पर्याप्तक होना चाहिये । क्योकि अपर्याप्तक जीव अल्प आयु और शक्ति वाला होता है, जिससे वह उत्कृष्ट प्रदेशवंध नही कर सकता । पर्याप्तक होने के साथ-साथ संज्ञी होना चाहिये । क्योकि पर्याप्तक होकर यदि वह संज्ञी नही हुआ तो भी उत्कृष्ट प्रदेशवंध नही कर सकता है । असंज्ञी जीव की शक्ति अपरिपूर्ण रहती है ।

इसीलिये उत्कृष्ट प्रदेशवंध के स्वामित्व के कथन के प्रसंग मे— उत्कृष्ट योग होने पर उत्कृष्ट प्रदेशवंध होता है तथा संज्ञी पर्याप्त को ही उत्कृष्ट योग होता है, यह वतलाने के लिये गाथा में 'उक्कड-जोगी य सन्निपज्जत्तो' यह तीन सार्थक विशेषण दिये गये है। यद्यपि गाथा ५३-५४ में योगों का अल्पबहुत्व वतलाते हुए सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक को सवसे जघन्य और संज्ञी पर्याप्त को सवसे उत्कृष्ट योग वतलाया है। अतः 'उक्कडजोगी' कह देने से संज्ञी पर्याप्तक का बोध हो ही जाता है तथापि अधिक स्पष्टता के लिये 'सन्निपज्जत्तो' यह दो पद रखे गये है। उत्कृष्ट योग होने पर वहुत से जीव अधिक प्रकृतियों का वंध करते है, किन्तु उत्कृष्ट योग के साथ थोड़ी प्रकृतियो का वंध होना आवश्यक है।

इससे विपरीत दशा में अर्थात् यदि वहुत प्रकृतियों का वंध करने वाला हो, योग भी मंद हो तथा अपर्याप्त असंज्ञी हो तो जघन्य प्रदेश-वंध करता है। इस प्रकार सामान्य से उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशवंध के स्वामित्व[1] के वारे में जानना चाहिये।

अव मूल और उत्तर प्रकृतियो की अपेक्षा से उत्कृष्ट प्रदेशवंध के स्वामी वतलाते है।

मिच्छ अजयचउ आऊ वितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाई
छण्हं सतरस सुहुमो अजया देसा वितिकसाए ॥९०॥

---

१ पचसग्रह और गो० कर्मकाड मे भी उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशवध के स्वामी की यही योग्यताये वतलाई है। यथा—

अप्पतरपगडवधे उक्कडजोगी उ सन्निपज्जत्तो।
कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नय तस्स वच्चासे ॥ —पंचसंग्रह २६८

उक्कडजोगो सण्णी पज्जत्तो पयडिवधमप्पदरो।
कुणदि पयेसुक्कस्स जहण्णए जाण विवरीय ॥ गो० कर्मकांड २१०

शब्दार्थ—**मिच्छ**—मिथ्यादृष्टि, **अजयचउ**—अविरत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थान वाले, **आऊ**—आयु कर्म का, **बितिगुणबिणु**—दूसरे और तीसरे गुणस्थान के बिना, **मोहि**—मोहनीय कर्म का, **सत्त**—सात गुणस्थान वाले, **मिच्छाई**-मिथ्यात्वादि, **छण्ह**—छह मूल प्रकृतियो का, **सतरस** सत्रह प्रकृतियो का **सूहुमो**–सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान वाला, **अजया**—अविरत सम्यग्दृष्टि **देसा**—देशविरति, **बितिकसाय**—दूसरी और तीसरी कषाय का।

गाथार्थ—मिथ्यादृष्टि और अविरत आदि चार गुणस्थान वाले आयुकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध करते है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान के सिवाय मिथ्यात्व आदि सात गुणस्थान वाले मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध तथा शेष छह कर्मों और उनकी सत्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध सूक्ष्म संपराय गुणस्थान नामक दसवे गुणस्थान में रहने वाले करते है। द्वितीय कषाय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध अविरत सम्यग्दृष्टि जीव तथा तीसरी कषाय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध देशविरति करते है।

विशेषार्थ—इस गाथा मे मूल तथा कुछ उत्तर प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामियो को बतलाया है।

सर्व प्रथम मूल कर्मो मे से आयुकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध बतलाते हुए कहा है—'मिच्छ अजयचउ आऊ'—पहले मिथ्यात्व गुणस्थान वाले और अविरत चतुष्क अर्थात् चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि, पाचवें देशविरति, छठे प्रमत्तविरत और सातवे अप्रमत्तविरत, यह पाच गुणस्थान वाले जीव करते है। शेष गुणस्थानो मे आयुकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध न बतलाने का कारण यह है कि तीसरे और आठवे आदि गुणस्थानो में तो आयुकर्म का बंध होता ही नही है। यद्यपि दूसरे गुणस्थान मे आयुकर्म का बंध होता है, किन्तु यह

प्रदेशवंध का कारण उत्कृष्ट योग नही होता है। इसीलिये पहले और चौथे से लेकर सातवे गुणस्थान के सिवाय शेष गुणस्थानों मे आयुकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशवंध नहीं वतलाया है।

दूसरे सासादन गुणस्थान में उत्कृष्ट योग न होने का कारण स्पष्ट करते हुए गाथा की स्वोपज्ञ टीका में वताया है कि आगे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे अनंतानुबंधी कषाय के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट प्रदेशवंध के सादि और अध्रुव दो ही प्रकार वतलायेगे तथा सासादन में अनन्तानुवंधी का बंध तो होता ही है अतः वहाँ यदि उत्कृष्ट योग होता तो जैसे अविरत आदि गुणस्थानो में अप्रत्याख्यानावरण आदि प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवंध होने के कारण वहाँ उनके अनुत्कृष्ट प्रदेशवंध के भी सादि आदि चारों विकल्प वतलायेगे वैसे ही सासादन में अनन्तानु-बंधी का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होने के कारण उसके अनुत्कृष्ट प्रदेशवंध के सादि आदि चारों विकल्प भी बतलाने चाहिये थे, किन्तु वे नही बतलाये है। अतः उससे ज्ञात होता है कि या तो सासादन का काल थोड़ा होने के कारण वहाँ इस प्रकार का प्रयत्न नही हो सकता या अन्य किसी कारण से सासादन में उत्कृष्ट योग नही होता है तथा आगे मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियों का सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में उत्कृष्ट प्रदेशवंध बतला कर शेष प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवंध आदि मिथ्या-दृष्टि गुणस्थान में बतलायेगे। जिससे यह ज्ञात होता है कि सासादन में उत्कृष्ट योग नही होता है।

इस प्रकार सासादन गुणस्थान में उत्कृष्ट योग का अभाव वतला-कर लिखा है कि जो सासादन को भी आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेश-वंध का स्वामी कहते है, उनका मत उपेक्षणीय है।[1]

---

१ 'अतो ये सास्वादनमप्यायुष उत्कृष्ट प्रदेशस्वामिनमिच्छन्ति तन्मतमु-पेक्षणीयमिति स्थितम्।' इस कथन से यह ज्ञात होता है कि कोई-कोई आचार्य सासादन मे आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशवध को मानते हैं।

मोहनीय कर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध होने के बारे मे गाथा में संकेत दिया है कि—वितिगुण बिणु मोहि सत्त मिच्छाई—दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोडकर मिथ्यात्व आदि सात गुणस्थानों में मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है। अर्थात् मिथ्यात्व, अविरत, देश-विरति, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, इन सात गुणस्थानो मे मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध बतलाया है। सासादन और मिश्र गुणस्थान मे उत्कृष्ट योग नही होता है, जिससे वहां उत्कृष्ट प्रदेशबंध भी नही होता है।

सासादन मे उत्कृष्ट योग न होने के संबंध मे ऊपर संकेत किया जा चुका है और मिश्र गुणस्थान मे भी उत्कृष्ट योग न होने का कारण यह बतलाया गया है कि दूसरी कषाय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध अविरत गुणस्थान मे बतलाया गया है। यदि मिश्र मे भी उत्कृष्ट योग होता तो उसमे भी दूसरी कषाय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध बतलाया जाता। यदि यह कहा जाये कि अविरत गुणस्थान में मिश्र गुणस्थान से कम प्रकृतिया बंधती है अतः अविरत को ही उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी बतलाया है, लेकिन यह युक्ति ठीक नही है, क्योकि साधारण अवस्था मे अविरत मे भी सात ही कर्मों का बंध होता है और मिश्र में तो सात कर्मों का बंध होता ही है तथा अविरत मे भी मोहनीय की सत्रह प्रकृतियों का बंध होता है और मिश्र मे भी उसकी सत्रह प्रकृतियों का बंध होता है। अत मिश्र मे उत्कृष्ट प्रदेशबंध को न बतलाने मे उत्कृष्ट योग का अभाव कारण है।

आयु और मोहनीय के सिवाय शेष छह कर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अंतराय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध सूक्ष्मसंपराय नामक दसवे गुणस्थान मे होता है। सूक्ष्मसंपराय मे उत्कृष्ट योग तो होता ही है तथा थोडे कर्मों का बंध होने के कारण उसका ग्रहण किया है।

छह मूल कर्म प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का कथन करते हुए इसी के साथ उनकी सत्रह उत्तर प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध भी सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान में बतलाया है—छण्हं सतरस सुहुमो। उक्त सत्रह प्रकृतियां इस प्रकार है—मतिज्ञानावरण आदि पांच ज्ञानावरण, चक्षु-दर्शनावरण आदि चार दर्शनावरण, सातावेदनीय, यशःकीर्ति, उच्च-गोत्र और दानान्तराय आदि पांच अंतराय कर्म के भेद।

मोहनीय और आयु के सिवाय शेष छह मूल कर्म तथा उनकी मतिज्ञानावरण आदि सत्रह उत्तर प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध दसवे गुणस्थान में मानने का कारण यह है कि मोहनीय और आयुकर्म का बंध न होने के कारण उनका भाग ज्ञानावरण आदि शेष छह कर्मों को मिल जाता है।

द्वितीय कषाय अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में और तीसरी कषाय प्रत्याख्याना-वरण का उत्कृष्ट प्रदेशबंध पांचवे देशविरति गुणस्थान में होता है—अजया देसा बितिकसाए। इसका कारण यह है कि अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी का बंध नहीं होने से उनका भाग अप्रत्याख्यानावरण कषाय को मिल जाता है तथा देशविरति गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय का भी बंध नही होने से उसका भाग प्रत्याख्यानावरण कषाय को मिलता है। इसीलिये चौथे गुण-स्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध तथा पाचवें देशविरति गुणस्थान मे प्रत्याख्यानावरण कषाय का उत्कृष्ट प्रदेश-बंध माना है।

इस प्रकार से मूल कर्म प्रकृतियों और कुछ उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामियों का निर्देश करने के बाद आगे की गाथाओं में अन्य प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामियो का कथन ...ते है।

पण अनियट्टी सुखगइ नराउसुरसुभगतिगविउव्विदुग ।
समचउरसमसाय वइरं मिच्छो व सम्मो व्वा ॥६१॥
निद्दापयलादुजुयलभयकुच्छातित्थ सम्मगो सुजई ।
आहारदुगं सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥६२॥

शब्दार्थ — **पण** — पाच (पुरुपवेद और सज्वलन चतुष्क) **अनियट्टी** — अनिवृत्तिवादर गुणस्थान वाला, **सुखगइ** — शुभ विहायोगति, **नराउ** — मनुष्यायु, **सुरसुभगतिग** — देवत्रिक और सुभगत्रिक, **विउव्विदुगं** - वैक्रियद्विक, **समचउरंसं** — समचतुरस्र सस्थान, **असायं** — असातावेदनीय, **वइरं** — वज्रऋपभनाराच सहनन, **मिच्छो** — मिथ्यादृष्टि **व** — अथवा, **सम्मो** — सम्यग्दृष्टि, **वा** — अथवा ।

निद्दापयला — निद्रा और प्रचला, **दुजुयल** — दो युगल, **भयकुच्छातित्थ** — भय, जुगुप्सा और तीर्थंकर नामकर्म, **सम्मगो** — सम्यग्दृष्टि, **सुजई** — अप्रमत्त यति और अपूर्वकरण गुणस्थान वाला, **आहारदुगं** — आहारकद्विक का, **सेसा** — बाकी की प्रकृतियो का, **उक्कोसपएसगा** — उत्कृष्ट प्रदेशवध, **मिच्छो** — मिथ्यादृष्टि (करता है)।

गाथार्थ — अनिवृत्तिवादर गुणस्थान मे पांच (पुरुपवेद, संज्वलन चतुष्क) प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशवंध होता है। शुभ विहायोगति, मनुष्यायु, देवत्रिक, सुभगत्रिक, वैक्रियद्विक, समचतुरस्रसंस्थान, असातावेदनीय, वज्रऋपभनाराच संहनन, इन प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवंध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते है ।

निद्रा, प्रचला, दो युगल (हास्य-रति और शोक-अरति), भय, जुगुप्सा, तीर्थंकर, इन प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबंध सम्यग्दृष्टि जीव करते है। आहारकद्विक का

प्रदेशवंध अप्रमत्त और अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती मुनि और शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशवंध मिथ्यादृष्टि जीव करते है ।

विशेषार्थ—वंधयोग्य एकसौ वीस प्रकृतियों में से पच्चीस प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशवंध के स्वामियों का कथन पूर्व गाथा में किया जा चुका है । उनके सिवाय शेष बची हुई ६५ प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेश-वंध के स्वामियो को इन दो गाथाओ में वतलाया है ।

इन ६५ प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामित्व को पाच खंडों में विभाजित किया है । पहले खंड में पाच, दूसरे मे तेरह, तीसरे में नौ, चौथे में दो और पाचवे में उक्त प्रकृतियों के अलावा शेप रही ६६ प्रकृतियो को ग्रहण किया है ।

पहले खंड में पुरुषवेद और संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ, इन पॉच प्रकृतियों का समावेश करते हुए कहा है—पण अनियट्टी—यानि अनिवृत्तिबादर नामक नौवे गुणस्थानवर्ती जीव पुरुषवेद और संज्व-लन चतुष्क, इन पाच प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवंध करते है । क्योकि पुरुषवेद नोकषाय मोहनीय का भेद है और नौवे गुणस्थान में छह नोकषायो का वंध न होने के कारण उनका भाग पुरुपवेद को मिल जाता है तथा पुरुपवेद के वंध का विच्छेद होने के वाद संज्व-लन कषाय चतुष्क का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है । क्योंकि मिथ्यात्व तथा अनन्तानुवंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण इन वारह कषायो व नोकपायो का सव द्रव्य संज्वलन कपाय चतुष्क को मिलता है ।

दूसरे खंड में गर्भित तेरह प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—शुभ विहायोगति, मनुष्यायु, देवत्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी और देवायु), सुभगत्रिक (सुभग, सुस्वर और आदेय), वैक्रियद्विक (वैक्रियशरीर, वैक्रिय अंगोपांग), समचतुरस्र संस्थान, असातावेदनीय, वज्रऋषभनाराच

संहनन। इन तेरह प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबंध—'मिच्छो व सम्मो वा'—मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यग्दृष्टि जीव करते है। क्योंकि उनके यथायोग्य उत्कृष्ट प्रदेशबंध के कारण पाये जाते है।

तीसरा खंड निद्रा, प्रचला, हास्य, रति, शोक, अरति, भय, जुगुप्सा और तीर्थंकर इन नौ प्रकृतियो का है। जिनका बंध सम्यग्दृष्टि जीव करते है। इसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—निद्रा और प्रचला का उत्कृष्ट प्रदेशबंध चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर आठवे अपूर्वकरण गुणस्थान तक के उत्कृष्ट योग वाले सम्यग्दृष्टि जीव करते है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि के स्त्यानर्द्धित्रिक का बंध न होने के कारण उनका भाग भी निद्रा और प्रचला को मिल जाता है। इसीलिये निद्रा और प्रचला के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामी में सम्यग्दृष्टि का ग्रहण किया है। मिश्र गुणस्थान में भी स्त्यानर्द्धित्रिक का बंध नही होता है, किन्तु वहां उत्कृष्ट योग नही होने से उसका ग्रहण नही किया है।

हास्य, रति, शोक, अरति, भय और जुगुप्सा का चौथे से लेकर आठवे गुणस्थान तक जिन-जिन गुणस्थानो में बंध होता है, उन गुणस्थानो के उत्कृष्ट योग वाले सम्यग्दृष्टि जीव उनका प्रदेशबन्ध करते है और तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध तो सम्यग्दृष्टि जीव ही करते है। इसीलिये सम्यग्दृष्टि जीव को निद्रा आदि नौ प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबंध करने वाला बतलाया है।

चौथा खंड आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग, इन दो प्रकृतियों का है। इनका उत्कृष्ट प्रदेशबंधक सुयति यानी सातवे अप्रमत्त संयत और आठवे अपूर्वकरण इन दो गुणस्थानवर्ती मुनि को [illegible] है। ये दोनों गुणस्थान सम्यग्दृष्टि के ही होते है और प्रमाद [illegible] से 'सुजई' शब्द से इन दोनो गुणस्थानो का ग्रहण किया [illegible]

इस प्रकार ५४ प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध [illegible]

कथन तो प्रकृतियों के नाम और उनके योग्य पात्र को वतलाते हुए कर दिया है। इनके अतिरिक्त शेष रही ६६ प्रकृतियों के लिये गाथा में वताया है कि—सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो—शेष रही प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवंध मिथ्यादृष्टि जीव करता है। जिसका विवरण इस प्रकार है—

मनुष्यद्विक, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिकद्विक, तैजस, कार्मण, वर्ण-चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिरद्विक, शुभद्विक, अयशःकीर्ति और निर्माण इन पच्चीस प्रकृतियों के सिवाय शेष ४१ प्रकृतियां सम्यग्दृष्टि को बंधती ही नही है। उनमें से कुछ प्रकृतियां सासादन गुणस्थान में वंधती है किन्तु वहां उत्कृष्ट योग नही होता है, अतः ४१ प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवंध मिथ्यादृष्टि ही करता है।

उक्त पच्चीस प्रकृतियों में से औदारिक, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, बादर, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति, निर्माण इन पन्द्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध नामकर्म के तेईस प्रकृतिक बंधस्थान के बंधक जीवों के होता है और शेष दस प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध नामकर्म के पच्चीस प्रकृतिक बंधस्थान के वंधक जीवों को ही होता है, अन्य को नही और तेईस व पच्चीस का वंध मिथ्यादृष्टि को ही होता है। इसीलिये शेष पच्चीस प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेश-बन्ध उत्कृष्ट योग वाले मिथ्यादृष्टि जीव ही करते है।

इस प्रकार से समस्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशवंध के स्वामियों का निर्देश करने के वाद अव आगे की गाथा में जघन्य प्रदेशवन्ध के स्वामियों को वतलाते है।

सुमुणी दुन्नि असन्नी निरयतिगसुराउसुरविउव्विदुगं।
सम्मो जिणं जहन्नं सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥६३॥

कथन तो प्रकृतियों के नाम और उनके योग्य पात्र को वतलाते हुए कर दिया है। इनके अतिरिक्त शेष रही ६६ प्रकृतियो के लिये गाथा में वताया है कि—सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो—शेष रही प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशवंध मिथ्यादृष्टि जीव करता है। जिसका विवरण इस प्रकार है—

मनुष्यद्विक, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिकद्विक, तैजस, कार्मण, वर्ण-चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिरद्विक, शुभद्विक, अयशःकीर्ति और निर्माण इन पच्चीस प्रकृतियों के सिवाय शेष ४१ प्रकृतियां सम्यग्दृष्टि को बंधती ही नही है। उनमें से कुछ प्रकृतियां सासादन गुणस्थान में बंधती है किन्तु वहां उत्कृष्ट योग नही होता है, अतः ४१ प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवंध मिथ्यादृष्टि ही करता है।

उक्त पच्चीस प्रकृतियों में से औदारिक, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, बादर, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति, निर्माण, इन पन्द्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध नामकर्म के तेईस प्रकृतिक बंधस्थान के बंधक जीवो के होता है और शेष दस प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध नामकर्म के पच्चीस प्रकृतिक बंधस्थान के बंधक जीवों को ही होता है, अन्य को नही और तेईस व पच्चीस का वंध मिथ्यादृष्टि को ही होता है। इसीलिये शेष पच्चीस प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेश-बन्ध उत्कृष्ट योग वाले मिथ्यादृष्टि जीव ही करते है।

इस प्रकार से समस्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशवंध के स्वामियो का निर्देश करने के वाद अव आगे की गाथा में जघन्य प्रदेशवन्ध के स्वामियों को वतलाते है।

सुमुणी दुन्नि असन्नो निरयतिगसुराउसुरविउव्विदुगं।
सम्मो जिणं जहन्नं सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥९३॥

शब्दार्थ—सुमुणी—अप्रमत्त यति, दुन्नि—दो प्रकृतियो (आहारकद्विक) का, असन्नी—असज्ञी, निरयतिग—नरकत्रिक, सुराउ—देवायु, सुरविउव्विदुगं—देवद्विक और वैक्रियद्विक, सम्मो—सम्यग्दृष्टि, जिणं—तीर्थंकर नामकर्म का, जहन्नं—जघन्य, सुहुमनिगोय—सूक्ष्म निगोदिया जीव, आइखणि—उत्पत्ति के पहले समय मे, सेसा—शेष रही हुई प्रकृतियो का।

गाथार्थ - अप्रमत्त मुनि आहारकद्विक का जघन्य प्रदेशबंध करते है। असंज्ञी जीव नरकत्रिक और देवायु का तथा सम्यग्दृष्टि जीव देवद्विक, वैक्रियद्विक और तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य प्रदेशवन्ध करते है। इनके सिवाय शेष रही हुई प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशबंध सूक्ष्म निगोदिया जीव उत्पत्ति के प्रथम समय में करते है।

विशेषार्थ — इस गाथा में जघन्य प्रदेशबंध के स्वामियों को बतलाया है। ग्यारह प्रकृतियो का तो नामोल्लेख करके उनके स्वामियो का कथन किया है और शेष रही १०९ प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशबंध का स्वामी सूक्ष्म निगोदिया जीव को बतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

'सुमुणी दुन्नि' यानी आहारकद्विक का जघन्य प्रदेशवन्ध सातवे गुणस्थानवर्ती मुनि करते है। यह सामान्य की अपेक्षा समझना चाहिये किन्तु विशेष से जिस समय परावर्तमान योग वाले अप्रमत्त यति (मुनि) आठ कर्मों का बंध करते हुए नामकर्म के इकतीस प्रकृति बंधस्थान का बंध करते है और योग भी जघन्य है, उस समय ९ आहारकद्विक का जघन्य प्रदेशबंध करते है। यद्यपि तीस बंधस्थान में भी आहारकद्विक का समावेश है, लेकिन इकतीस में प्रकृति अधिक होने के कारण बटवारे के समय उनको कम

मिलता है। इसीलिये इकतीस प्रकृतिक बंधस्थान का निर्देश किया गया है।

इसी तरह परावर्तमान योग वाला असंज्ञी जीव नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु) और देवायु का जघन्य प्रदेशवन्ध करता है—असन्नी निरयतिगसुराउ। इन चार प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशवंधक असंज्ञी पर्याप्त जीव को मानने का कारण यह है कि पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव तो नरकगति और देवगति मे उत्पन्न ही नही होते है, जिससे उनके उक्त प्रकृतियो का वन्ध ही नही होता है और असंज्ञी अपर्याप्त के भी इतने विशुद्ध परिणाम नही होते हे जिससे देवगति योग्य प्रकृतियो का वंध कर सके और न इतने संक्लेश रूप परिणाम कि नरकगति योग्य प्रकृतियो का वंध हो सके।

उक्त चार प्रकृतियों के बंधक असंज्ञी पर्याप्तक के परावर्तमान योग वाला मानने का कारण यह है कि यदि एक ही योग में चिरकाल तक रहने वाला लिया जायेगा तो वह तीव्र योग वाला हो जायेगा। इसीलिये परावर्तमान योग को ग्रहण किया है। क्योकि योग मे परिवर्तन होते रहते तीव्र योग नही हो सकता है। अतः परावर्तमान योग वाला आठ कर्मो का वन्धक पर्याप्त असंज्ञी जीव अपने योग्य जघन्य योग के रहते हुए नरकत्रिक और देवायु इन चार प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशबंध करता है।

देवद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी), वैक्रियद्विक (वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग) और तीर्थंकर इन पाच प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशवन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करता है। इसका कारण नीचे स्पष्ट किया जाता है—

कोई मनुष्य तीर्थंकर प्रकृति का वंध करके देवो मे उत्पन्न हुआ। वहां वह उत्पत्ति के प्रथम समय मे ही मनुष्यगति के योग्य तीर्थंकर

प्रकृति सहित नामकर्म के तीस प्रकृतिक स्थान का बंध करता हुआ तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य प्रदेशबंध करता है। नरकगति मे भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है किन्तु देवगति मे जघन्य योग वाले अनुत्तरवासी देवो का ग्रहण किया जाता है, क्योकि नरकगति मे इतना जघन्य योग नही होता है। अत नरकगति के सम्यग्दृष्टि जीव के तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य प्रदेशबन्ध नही बतलाया है। तिर्यचगति मे तीर्थंकर प्रकृति का बंध ही नही होता है और मनुष्यगति मे जन्म के प्रथम समय मे तो तीर्थंकर प्रकृति सहित नामकर्म के उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान का बंध होता है, अत प्रकृति कम होने से वहां अधिक भाग मिलता है तथा तीर्थंकर सहित इकतीस प्रकृतिक बंधस्थान का बंध संयमी के ही होता है और वहा योग भी अधिक होता है। अतः तीस प्रकृतिक स्थान के बन्धक देवों के ही तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य प्रदेशबंध बतलाया है।

देवद्विक और वैक्रियद्विक का जघन्य प्रदेशबंध देवगति या नरकगति से आकर उत्पन्न होने वाले मनुष्य के उस समय होता है जब वह देवगति के योग्य नामकर्म के उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान का बंध करता है। क्योकि देव और नारक तो इन प्रकृतियो का बन्ध ही नही करते है और भोगभूमिया तिर्यंच जन्म लेने के प्रथम समय में इनका बंध करते भी है किन्तु वे देवगति योग्य अट्ठाईस प्रकृतिक बन्धस्थान का ही बंध करते है। जिससे उनको बटवारे के समय अधिक द्रव्य मिलता है। यही बात अट्ठाईस प्रकृतिक बंधस्थान के बंधक मनुष्य के लिये भी समझना चाहिये। अतः उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान के बंधक मनुष्य के ही देवद्विक और वैक्रियद्विक इन चार प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशबन्ध बतलाया है।

इन ११ प्रकृतियों के सिवाय शेष रही १०९ प्रकृतियो

प्रदेशबंध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव अपने भव के पहले समय में करता है। क्योंकि उसके प्रायः सभी प्रकृतियों का बंध होता है और सबसे जघन्य योग भी उसी के होता है।

इस प्रकार से उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामियो को जानना चाहिये।[1] अब आगे की गाथा में प्रदेशबंध के सादि आदि भंगों को बतलाते है।

दसणछगभयकुच्छाबितितुरियकसाय विग्घनाणाण।
मूलछगेऽणुक्कोसो चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥६४॥

शब्दार्थ—**दसंणछग**—दर्शनावरणषट्क, **भयकुच्छा**—भय और जुगुप्सा, **बितितुरियकसाय**—दूसरी, तीसरी और चौथी कपाय, **विग्घनाणाणं**—पाच अतराय, पाच ज्ञानावरण, **मूलछगे**—मूल छह प्रकृतियो का, **अणुक्कोसो**—अनुत्कृष्ट प्रदेशबध, **चउह**—चार प्रकार का, **दुहा**—दो प्रकार का, **सेसि**—शेप तीन प्रकार के बधो मे, **सव्वत्थ**—सर्वत्र होते है।

गाथार्थ—दर्शनावरण कर्म की छह प्रकृतियो का, दूसरी तीसरी और चौथी कषाय का, पाच अन्तराय और पांच ज्ञानावरण का, छह मूल कर्मों का अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध चारो प्रकार का होता है। उक्त प्रकृतियों के तथा उनके सिवाय शेष प्रकृतियों के तीन बंध दो प्रकार के होते है।

विशेषार्थ—गाथा मे प्रदेशबंध के सादि आदि भंगों का विवेचन किया गया है।

---

१ गो० कर्मकाड गा० २११ से २१७ मे उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबध के स्वामियो को बतलाया है। जो प्राय. कर्मग्रन्थ के समान है और शेप १०६ प्रकृतियो के जघन्य बधक के बारे मे कुछ विशेपता भी बतलाई है।

उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य बंध तथा उनके सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव भंगो का स्वरूप पहले वतला चुके है तथा प्रत्येक बंध के अंत मे मूल और उत्तर प्रकृतियों में उनका विचार किया गया है। अव प्रदेशबन्ध में भी उनका विचार करते है।

सवसे अधिक कर्मस्कंधों के ग्रहण करने को उत्कृष्ट प्रदेशबंध और उत्कृष्ट प्रदेशबंध में एक दो वगैरह स्कन्धों की हानि से लेकर सवसे कम कर्मस्कंधो के ग्रहण करने को अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध कहते है। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेदों में प्रदेशबंध के सव भेदो का ग्रहण हो जाता है।

सवसे कम कर्मस्कंधो के ग्रहण करने को जघन्य प्रदेशबंध कहते है और उसमे एक दो आदि स्कंधों की वृद्धि से लेकर अधिक-से-अधिक कर्म-स्कंधो के ग्रहण करने को अजघन्य प्रदेशवन्ध कहते है। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य भेदो मे भी उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेदो की तरह प्रदेशबंध के सव भेद गर्भित हो जाते है।

गाथा मे जो दर्शनषट्क आदि प्रकृतियों मे अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध के सादि आदि चारो भेद वतलाये है, उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

दर्शनषट्क में चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शना-वरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा और प्रचला इन छह प्रकृतियों का ग्रहण किया गया है। उनमे से निद्रा और प्रचला इन दो को छोड़ कर शेष चार दर्शनावरणों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान में होता है। क्योकि यहां मोहनीय और आयु कर्म का बंध नहीं होता है तथा निद्रापंचक का भी बंध नही होता है। [illegible] उन्हें बहुत द्रव्य मिलता है। इस उत्कृष्ट प्रदेशबंध को [illegible] जीव ग्यारहवें उपशांतमोह गुणस्थान में गया और [illegible] दसवें गुणस्थान मे आकर जब वह जीव उक्त प्रकृति [illegible]

वंध करता है तो वह वंध सादि होता है। अथवा दसवे गुणस्थान में ही उत्कृष्ट प्रदेशवंध करने के वाद वह जीव पुनः अनुत्कृष्ट प्रदेशवंध करता है तव वह वंध सादि होता है। क्योकि उत्कृष्ट योग एक दो समय से अधिक देर तक नही होता है। उत्कृष्ट प्रदेशवंध होने के पहले जो अनुत्कृष्ट प्रदेशवंध होता है, वह अनादि है। अभव्य जीव का वही वंध ध्रुव है और भव्य जीव का वंध अध्रुव है।

सम्यग्दृष्टि जीव के स्त्यानर्द्धित्रिक का वंध नही होता है और निद्रा व प्रचला का उत्कृष्ट प्रदेशवंध चौथे से लेकर आठवे गुणस्थान तक होता है, अतः स्त्यानर्द्धित्रिक का भाग भी उनको मिलता है। उक्त गुणस्थानो मे से किसी एक गुणस्थान में निद्रा और प्रचला का उत्कृष्ट प्रदेशबंध करके जब जीव पुनः अनुत्कृष्ट वंध करता है तो वह सादि कहा जाता है। उत्कृष्ट बंध से पहले का अनुत्कृष्ट प्रदेशवन्ध अनादि है। अभव्य का बन्ध ध्रुव है और भव्य का बन्ध अध्रुव है।

भय और जुगुप्सा का उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध भी चौथे से लेकर आठवे गुणस्थान तक होता है। उनके अनुत्कृष्ट प्रदेशवन्ध के भी पहले की तरह ही चार भंग जानना चाहिये। यानी ये अविरतादिक जव उत्कृष्ट योग से गिरकर अथवा वंधच्छेद से अनुत्कृष्ट प्रदेशवन्ध करते है तव वह सादि और उससे पूर्व का अनादि तथा अभव्य के ध्रुव व भव्य के अध्रुव होता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण कपाय, प्रत्याख्यानावरण कषाय और संज्वलन कपाय, पाच ज्ञानावरण, पाच अंतराय के अनुत्कृष्ट प्रदेशवन्ध के भी चार-चार भंग जानना चाहिये। अर्थात् उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध के पहले जो अनुत्कृष्ट प्रदेशवन्ध होता है, वह अनादि है और उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध के वाद जो अनुत्कृष्ट वन्ध होता है वह सादि है। भव्य जीव को वही वन्ध अध्रुव होता है और अभव्य का वंध ध्रुव होता है।

इस प्रकार से उक्त तीस प्रकृतियो के अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध के सादि आदि चार भंग होते है। किन्तु बाकी के उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्ध के सादि और अध्रुव यह दो ही विकल्प होते है। वे इस प्रकार है—

अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध के भंगो को बतलाते समय यह स्पष्ट किया गया है कि अमुक गुणस्थान में उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है। यह उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अपने-अपने गुणस्थानो मे पहली बार होता है, अतः वह सादि है और एक, दो समय होने के बाद या तो उस बन्ध का बिल्कुल अभाव हो जाता है या पुन· अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होने लगता है, जिससे वह अध्रुव है तथा उक्त तीस प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के भव के प्रथम समय में होता है और उसके बाद योगशक्ति में वृद्धि होने के कारण उनका अजघन्य प्रदेशबन्ध होता है। संख्यात या असंख्यात काल के बाद जब उस जीव को पुन· उस भव की प्राप्ति होती है तो पुनः जघन्य प्रदेशबन्ध होता है और उसके बाद पुनः अजघन्य प्रदेशबन्ध होता है। इस प्रकार जघन्य के बाद अजघन्य और अजघन्य के बाद जघन्य प्रदेशबन्ध होने के कारण दोनो ही बन्ध सादि और अध्रुव होते है।

तीस प्रकृतियों के भंगो का विचार कर लेने के बाद अब शेष रही ९० प्रकृतियो के भंगो का विचार करते है। इनके चारो बन्ध सादि और अध्रुव होते है। ९० प्रकृतियो मे से ७३ प्रकृतिया अध्रुवबन्धिनी है, अत उनके तो चारो ही बन्ध सादि और अध्रुव होगे ही और शेष रही सत्रह ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियो मे से [illegible] अनन्तानुबन्धी का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध [illegible] प्रदेशबन्ध का कारण उत्कृष्ट योग [illegible] है। जिससे उत्कृष्ट बन्ध एक दो समय [illegible]

वाद अनुत्कृष्ट प्रदेशवन्ध होता है। उत्कृष्ट योग होने पर पुनः उत्कृष्ट चन्ध होता है।

इस प्रकार उत्कृष्ट के वाद अनुत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट के वाद उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध होने का क्रम चलता रहता है। इसी कारण यह दोनों वन्ध सादि और अध्रुव होते है तथा इन प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव भव के प्रथम समय में करता है। दूसरे, तीसरे आदि समयो में वही जीव-उनका अजघन्य प्रदेशवन्ध करता है और कालान्तर में वही जीव पुनः उनका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। इस प्रकार ये दोनों वन्ध भी सादि और अध्रुव होते है।

वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, उपघात और निर्माण प्रकृति के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेशवन्ध भी इसी प्रकार सादि और अध्रुव समझना चाहिये। इन नौ प्रकृतियों का उत्कृष्ट वंध मिथ्यात्वी उत्कृष्ट योग वाला नामकर्म के तेईस प्रकृतिक बन्धस्थान का बन्ध करने वाला करता है।

इस प्रकार उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट आदि चार वंधो में सादि वगैरह भंगो का स्वरूप जानना चाहिये। अब मूल प्रकृतियों के भंगो का विचार करते है।

मूल प्रकृतियों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अंतराय के अनुत्कृष्ट प्रदेशवंध के सादि वगैरह चारो विकल्प होते है। जो इस प्रकार है कि इन छह का उत्कृष्ट प्रदेशवंध क्षपक अथवा उपशमक सूक्ष्मसंपराय नामक दसवे गुणस्थान में करता है। अनन्तर जव पुनः उनका अनुत्कृष्ट प्रदेशवंध करता है तो वह वंध सादि है। उत्कृष्ट प्रदेशवंध से पहले वह वंध अनादि है, भव्य का वंध अध्रुव है तथा अभव्य का वंध ध्रुव है। शेप जघन्य, अजघन्य और उत्कृष्ट प्रदेश-

बंध के सादि और अध्रुव विकल्प होते है। क्योकि पूर्व मे अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध को बतलाते हुए सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में उत्कृष्ट प्रदेश-बंध होने का संकेत कर आये है। वह उत्कृष्ट प्रदेशबंध पहले पहल होता है, अतः सादि है और पुनः अनुत्कृष्ट बंध के होने पर पुनः नही होता है, अतः अध्रुव है। उक्त छह कर्मो का जघन्य प्रदेशबंध सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक जीव भव के प्रथम समय मे करता है और उसके बाद योग की वृद्धि हो जाने पर अजघन्य प्रदेशबंध करता है, कालान्तर मे पुनः जघन्य बंध करता है। इस प्रकार ये दोनो भी सादि और अध्रुव होते हैं।

ज्ञानावरण आदि छह मूल प्रकृतियों से शेष रहे मोहनीय और आयु कर्म के चारों बंधो के सादि और अध्रुव, दो ही विकल्प होते है। आयु कर्म तो अध्रुवबंधी है अतः उसके चारो प्रदेशबंध सादि और अध्रुव ही होते है। मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध नौवे गुणस्थान तक के उत्कृष्ट योग वाले जीव करते है और उत्कृष्ट के बाद अनुत्कृष्ट तथा अनुत्कृष्ट के बाद उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है। इसीलिये ये दोनो बंध सादि और अध्रुव है। इसी प्रकार मोहनीय का जघन्य बंध सूक्ष्म निगोदिया जीव करता है। उसके भी जघन्य के बाद अजघन्य तथा अजघन्य के बाद जघन्य बंध करने के कारण दोनो बंध सादि और अध्रुव होते है।

इस प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियो के उत्कृष्ट आदि प्रदेशबंधों के सादि वगैरह का क्रम जानना चाहिए।[1]

---

१ पंचसंग्रह और गो० कर्मकांड मे प्रदेशबंध के सादि वगैरह भंगो का इस ग्रन्थ के अनुरूप वर्णन किया गया है। तुलना के लिये उनके अंशों को यहाँ उद्धृत करते हैं—

(शेष [illegible]

प्रदेशबंध का विवेचन पूर्ण करने के पहले यह भी स्पष्ट करते है कि पूर्वोक्त प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध में से अनेक प्रकार के प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध के कारण योगस्थान है। अनेक प्रकार के स्थितिबंध के कारण स्थितिबंध-अध्यवसायस्थान है तथा अनेक प्रकार के अनुभागबंध के कारण अनुभागबंध-अध्यवसाय-स्थान है। अतः अब योगस्थान और उनके कार्यों का परस्पर में अल्पबहुत्व बतलाते है।

सेढिअसंखिज्जंसे जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया।
ठिइबंधज्झवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥९५॥
तत्तो कम्मपएसा अणंतगुणिया तओ रसच्छेया।

शब्दार्थ—**सेढिअसंखिज्जंसे**—श्रेणि के असख्यातवे भाग, **जोगट्ठाणाणि**—योगस्थान, **पयडिठिइभेया**—प्रकृतिभेद, स्थितिभेद, **ठिइबंधज्झवसाया**—स्थितिबध के अध्यवसायस्थान, **अणुभागठाणा**—अनुभाग बध के अध्यवसायस्थान, **असंखगुणा**—असख्यात गुणे, **तत्तो**—उनसे भी, **कम्मपएसा**—कर्मप्रदेश, कर्म के स्कध, **अणंतगु-**

मोहाउयवज्जाण णुक्कोसो साइयाइओ होइ।
साई अधुवा सेसा आउगमोहाण सव्वेवि ॥
नाणंतरायनिद्दा अणवज्जकसाय भयदुगुछाण।
दसणचउपयलाणं चउव्विगप्पो अणुक्कोसो ॥
सेसा साई अधुवा सव्वे सव्वाण सेसपयईण।

—पंचसंग्रह २९०, २९५, २९६

छण्हंपि अणुक्कस्सो पदेसबंधो दु चदुवियप्पो दु।
सेसतिये दुवियप्पो मोहाऊण च दुवियप्पो ॥
तीसण्हमणुक्कस्सो उत्तरपयडीसु चउविहो बंधो।
सेसतिये दुवियप्पो सेसचउक्केवि दुवियप्पो ॥

—गो० कर्मकांड २०७, २०८

णिया—अनन्तगुणे, तओ —उनसे भी, रसच्छेया—रसच्छेद—रस के अविभाग प्रतिच्छेद ।

गाथार्थ—योगस्थान श्रेणि के असंख्यातवे भाग है । उनसे प्रकृतियों के भेद, स्थितिभेद, स्थितिबंध के अध्यवसायस्थान और अनुभाग वंध के अध्यवसायस्थान अनुक्रम से असंख्यात-गुणे, असंख्यातगुणे है । उनसे भी कर्म के स्कंध अनंतगुणे है और कर्मस्कंधो से भी रसच्छेद अनंतगुणे है ।

विशेषार्थ—गाथा में बंध के भेदों और उनके कारणों का अल्पबहुत्व बतलाया है । इस निरूपण में निम्नलिखित सात चीजो का ग्रहण किया गया है—

(१) प्रकृतिभेद, (२) स्थितिभेद, (३) प्रदेशभेद, (४) रसच्छेद अर्थात् अनुभागभेद, (५) योगस्थान, (६) स्थितिबंध-अध्यवसाय-स्थान और (७) अनुभागबंध-अध्यवसायस्थान । इन सात भेदों में बंध के चार भेद और तीन उनके कारण भेद है । बंध के तो चार भेद माने है किन्तु कारण के तीन भेद मानने का कारण यह है कि प्रकृति और प्रदेश बंध का कारण एक ही है । इसीलिये कारण के भेद चार के बजाय तीन ही किये गये है । यहां इन सातो का अल्पबहुत्व बतलाया है कि कौन किससे कम और कौन अधिक है । यानी सातो में से किसकी संख्या अधिक है और किसकी संख्या कम है ।

इस अल्पबहुत्व का कथन प्रारंभ करते हुए सर्व प्रथम बताया है कि योगस्थानों की संख्या श्रेणि के असंख्यातवें भाग है—सेढि असंखि-ज्जंसे जोगट्ठाणाणि—अर्थात् श्रेणि के असंख्यातवें भाग में आकाश के जितने प्रदेश है उतने ही योगस्थान जानना चाहिये । यह पहले बतला आये है, कि वीर्य या शक्तिविशेष को योग कहते है और सबसे जघन्य योग सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव को भव के प्रथम

समय में होता है। अर्थात् अन्य जीवों की अपेक्षा उसकी वीर्यशक्ति सबसे कम है। किन्तु सबसे कम शक्ति के धारक उस जीव के कुछ प्रदेश बहुत कम वीर्य वाले है और कुछ उनसे भी अधिक वीर्य वाले है। यदि सबसे कम वीर्य वाले प्रदेशों मे से एक प्रदेश को केवलज्ञानी के ज्ञान द्वारा देखा जाय तो उसमें असंख्यात लोककाशों के प्रदेश के बराबर भाग पाये जाते है। यह बात तो हुई कम वीर्य वाले प्रदेशो की, लेकिन इसी प्रकार अत्यधिक वीर्य वाले प्रदेश का भी अवलोकन किया जाये जो उसमें उन जघन्य वीर्य वाले प्रदेश के भागो से भी असंख्यातगुणे भाग पाये जाते है।

वीर्यशक्ति के इन अविभागी अंशों या भागों को वीर्य-परमाणु, भाव-परमाणु या अविभाग प्रतिच्छेद कहते है। जीव के जिन प्रदेशों में ये अविभागी प्रतिच्छेद सबसे कम लेकिन समान संख्या में पाये जाते है, उनकी एक वर्गणा होती है। उनसे एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदों के धारक प्रदेशों की दूसरी वर्गणा होती है। इसी प्रकार एक-एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदों के धारक प्रदेशों की एक-एक अलग वर्गणा होती है। जहां तक एक-एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदों के धारक प्रदेश पाये जाते है, वहां तक की वर्गणाओं के समूह को प्रथम स्पर्धक कहते है। उसके आगे जो प्रदेश मिलते है, उनमें प्रथम स्पर्धक की अंतिम वर्गणा के प्रदेशों में जितने अविभागी प्रतिच्छेद होते है, उनसे असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशो के जितने अविभागी प्रतिच्छेद अधिक होते है, उतने अविभागी प्रतिच्छेद जिन-जिन प्रदेशो में पाये जाते हैं, उनके समूह को दूसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा जानना चाहिये। इस प्रथम वर्गणा के ऊपर एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदों वाले प्रदेशों का समूह रूप दूसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक अविभागी प्रतिच्छेद की वृद्धि करते-करते ये वर्गणायें

श्रेणि के असंख्यातवे भाग के बराबर होती है, इनके समूह को दूसरा स्पर्धक कहते है। इसके बाद एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदो के धारक प्रदेश नही मिलते किंतु असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशो के जितने अधिक अविभागी-अविभागी प्रतिच्छेदो के धारक प्रदेश ही मिलते हैं। उनसे पहले कहे हुए क्रम के अनुसार तीसरा स्पर्धक प्रारंभ होता है। इसी तरह चौथा, पांचवाँ आदि स्पर्धक जानना चाहिये। इन स्पर्धको का प्रमाण भी श्रेणि के असंख्यातवे भाग है और उनके समूह को एक योगस्थान कहते है।

यह योगस्थान सबसे जघन्य शक्ति वाले सूक्ष्म निगोदिया जीव के भव के पहले समय मे होता है। उससे कुछ अधिक शक्ति वाले जीव का इसी क्रम से दूसरा योगस्थान होता है। इसी प्रकार अधिक-अधिक शक्ति की वृद्धि के साथ तीसरा, चौथा, पाचवा आदि योग-स्थान होते है। इस तरह इसी क्रम से नाना जीवो के अथवा काल-भेद से एक ही जीव के ये योगस्थान श्रेणि के असंख्यातवें भाग आकाश के जितने प्रदेश होते है, उतने होते है।

जीवो के अनंत होने पर भी योगस्थानो को असंख्यात मानने का कारण यह है कि सब जीवो का योगस्थान अलग-अलग ही नही होता है किन्तु अनन्त स्थावर जीवो के समान योगस्थान होता है तथा असंख्यात त्रसो के भी समान योगस्थान होता है। जिससे संख्या मे कोई परिवर्तन नही आता किन्तु विसदृश योगस्थान श्रेणि के असंख्यातवे भाग ही होते है। इसीलिए असंख्यात योगस्थान माने है।

इन योगस्थानो से भी ज्ञानावरण आदि प्रकृतियो के भेद असं-ख्यातगुणे है। यद्यपि कर्मों की ज्ञानावरण आदि आठ मूल प्रकृतियां है और उत्तर प्रकृतियां १५८ बतलाई है किन्तु बंध की

से एक-एक प्रकृति के असंख्यात भेद हो जाते है। जैसे कि शास्त्रों में अवधिज्ञान के बहुत भेद बतलाये है, जिससे अवधिज्ञानावरण के बंध के भी उतने ही भेद होते है, क्योकि बंध की विचित्रता से ही क्षयोपशम में अन्तर पडता है और क्षयोपशम में अन्तर पड़ने से ही ज्ञान के अनेक भेद होते है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि जैसे सूक्ष्म पनक जीव के तीसरे समय में जितनी जघन्य अवगाहना होती है, उतना ही जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र होता है और असंख्यात लोक प्रमाण उत्कृष्ट क्षेत्र है। अतः जघन्य क्षेत्र से लेकर एक प्रदेश बढते-बढते उत्कृष्ट अवधिज्ञान के क्षेत्र तक क्षेत्र की हीनाधिकता के कारण अवधिज्ञान के असंख्यात भेद हो जाते है। इसीलिये अवधिज्ञान के आवारक अवधिज्ञानावरण कर्म के भी बंध और उदय की विचित्रता से असंख्यात भेद हो जाते है। इसी तरह नाना जीवों की अपेक्षा से कर्मों की अन्य उत्तर प्रकृतियों व मूल प्रकृतियों के भी बंध व उदय की विचित्रता से असंख्यात भेद समझना चाहिये।

जीवो के अनन्त होने के कारण उनके बंधों और उदयों की विचित्रता से प्रकृतियों के अनन्त भेद मानने की आशंका नही करना चाहिये। क्योंकि नाना जीवों के भी एक-सा बंध व उदय होने से वह एक ही माना जाता है किन्तु प्रकृतियों के विसदृश भेद असंख्यात ही होते है। अतः योगस्थानों से प्रकृतियां असंख्य एक-एक योगस्थान में वर्तमान नाना जीव या क जीव इन सब प्रकृतियों का बंध करता है।

प्रकृतिभेदों से असंख्यातगुणे स्थिति के प्रकृति असंख्यात प्रकारों की स्थिति को लेकर जीव एक ही प्रकृति को कभी अन्तमुहूर्त की स्थिति कभी एक समय अधिक अन्तमुहूर्त की स्थिति के

कभी दो समय अधिक, कभी तीन समय अधिक यावत अन्तमुहूर्त के समयों के जितने भेद है, उन-उन समयों को लेकर बांधता है। इस प्रकार जब एक प्रकृति और एक जीव की अपेक्षा से ही स्थिति के असंख्यात भेद हो जाते है तब सब प्रकृतियों और सब जीवों की अपेक्षा से प्रकृति के भेदों से स्थिति के भेदों का असंख्यातगुणा होना सम्भव है। इसी कारण प्रकृति के भेदों से स्थिति के भेद असंख्यात-गुणे होते है।

स्थिति के भेदों से स्थितिवंध-अध्यवसायस्थान[1] असंख्यातगुणे है। एक-एक स्थितिबंध के कारणभूत अध्यवसाय—परिणाम अनेक होते है, क्योंकि सबसे जघन्य स्थिति का बंध भी असंख्यात लोक-प्रमाण अध्यवसायो से होता है अर्थात् एक ही स्थितिवंध किसी जीव के किसी तरह के परिणाम से होता है और किसी जीव के किसी तरह के परिणाम से होता है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। अत: स्थिति के भेदो से स्थितिवन्ध-अध्यवसायस्थान असंख्यातगुणे माने गये है।

स्थितिबंध-अध्यवसायस्थान से अनुभागवंध-अध्यवसायस्थान असंख्यातगुणे है। अर्थात् स्थितिवंध के कारणभूत परिणामों से अनु-भागवंध के कारणभूत परिणाम असंख्यातगुणे है। इसका कारण यह है कि एक-एक स्थितिवंध-अध्यवसायस्थान तो अन्तमुहूर्त तक रहता है, किन्तु एक-एक अनुभागवंध-अध्यवसायस्थान कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक आठ समय तक ही रहता है। अतः एक-एक स्थितिवंध-अध्यवसायस्थान में असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर अनुभागवंध-अध्यवसायस्थान होते है।

---

1 कषाय के उदय से होने वाले जीव के जिन परिणामों [illegible]
बंध होता है, उन परिणामों को स्थितिबन्ध-अध्यवसाय [illegible]

इस प्रकार योगस्थान, प्रकृतिभेद, स्थितिभेद, स्थितिबंध के अध्यवसायस्थान, अनुभागबंध के अध्यवसायस्थान तो क्रमशः असंख्यात है और अनुभागबंध के अध्यवसायस्थान से भी – कम्मपएसा अणंतगुणिया, कर्मस्कंध अनंतगुणे है। क्योकि एक जीव एक समय में अभव्य राशि से अनंतगुणे और सिद्ध राशि के अनंतवे भाग कर्मस्कंधों को ग्रहण करता है। अतः अनुभागबंध-अध्यवसायस्थान से अनंतगुणे कर्मस्कन्ध माने है।

कर्मस्कंधो से भी अनंतगुणे रस के अविभागी प्रतिच्छेद है, क्योकि अनुभागबंध-अध्यवसायस्थानों के द्वारा कर्मपुद्गलो में रस – फलदान शक्ति पैदा होती है, यदि एक परमाणु में विद्यमान रस या अनुभागशक्ति को केवलज्ञान के द्वारा विभाजित किया जाये—खंड-खड किया जाये तो उसमें समस्त जीवराशि से अनंतगुणे अविभागी प्रतिच्छेद पाये जाते है अर्थात् समस्त कर्मस्कंधों के प्रत्येक परमाणु में समस्त जीवराशि से अनंतगुणे रसच्छेद होते है, किन्तु एक-एक कर्मस्कन्ध में कर्मपरमाणु सिद्धराशि के अनंतवे भाग ही होते है। इसीलिये कर्मस्कंधो से रसच्छेद अनन्तगुणे माने जाते है।

इस प्रकार से बन्ध और उनके कारणों का अल्पबहुत्व जानना चाहिये कि योगस्थान से लेकर अनुभागबन्ध-अध्यवसायस्थान तक तो प्रत्येक उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे है और उसके अनन्तर कर्मस्कन्ध और रसच्छेद क्रमशः अनंतगुणे है।[1]

---

१ पचसग्रह मे भी योगस्थान आदि का अल्पबहुत्व इसी प्रकार बतलाया है—

सेढिअसंखेज्जंसो जोगट्ठाणा तओ असखेज्जा।
पयडीभेआ तत्तो ठिइभेया होंति तत्तोवि ॥२८२
ठिइबधज्झवसाया तत्तो अणुभागबधठाणाणि।
तत्तो कम्मपएसाणतगुणा तो रसच्छेया ॥२८३

गो० कर्मकाड गा० २५८-२६० मे रसच्छेद को नही लेकर सिर्फ छह का ही परस्पर मे अल्पबहुत्व बतलाया है। यह वर्णन कर्मग्रन्थ से मिलता है।

प्रदेशवन्ध के समग्र वर्णन मे अभी तक उसका कारण नहीं बताया है। अतः अव प्रदेशवन्ध और उसके साथ ही पूर्वोक्त प्रकृति, स्थिति और अनुभाग वन्ध के कारणों का भी निर्देश करते है।

जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभाग कसायाउ ॥६६॥

शब्दार्थ—**जोगा**—योग से, **पयडिपएसं**—प्रकृतिबंध और प्रदेशवध, **ठिइअणुभागं**—स्थितिवध और अनुभागवध, **कसायाउ**—कषाय द्वारा।

गाथार्थ—प्रकृतिवन्ध और प्रदेशवन्ध योग से होते है और स्थितिवन्ध व अनुभागवन्ध कषाय से होते है।

विशेषार्थ—पूर्व मे वंध के प्रकृतिवंध, प्रदेशवंध, स्थितिवंध और अनुभागवंध, यह चार भेद वतला आये है। यहा उनके कारणो को वतलाते है कि प्रकृतिवंध और प्रदेशवंध का कारण योग है और स्थितिवंध व अनुभागवंध का कारण कषाय है।

योग और कपाय का स्वरूप भी पहले वतलाया जा चुका है कि योग एक शक्ति का नाम है जो निमित्त कारणो के मिलने पर कर्म वर्गणाओं को कर्म रूप परिणमाती है। योग के द्वारा कर्म पुद्गलो का अमुक परिमाण में कर्म रूप होना और उनमे ज्ञानादि गुणो को आवरित करने का स्वभाव पड़ना, यह योग का कार्य है।

आगत कर्म पुद्गलो का अमुक काल तक आत्मा के साथ सम्वन्ध रहना और उनमे तीव्र, मंद आदि फल देने की शक्ति का पड़ना कषाय द्वारा किया जाता है। इसीलिये प्रकृतिवंध और प्रदेशवंध का कारण योग और स्थितिवंध व अनुभागवंध का कारण कषाय को माना है। जब तक कषाय रहती है तव तक तो चारो वंध होते है और कषाय का उपशम या क्षय हो जाने पर सिर्फ प्रकृति व प्रदेश बंध, यह दो बंध होते है।

कषाय का उपशम व क्षय ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक में है, जिससे उन गुणस्थानों में प्रकृति व प्रदेश बंध होता है और चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान मे योग का भी अभाव हो जाने से सदा के लिये कर्मोच्छेद हो जाता है। ग्यारहवे गुणस्थान से आगे होने वाला प्रकृति और प्रदेश बंध पहले समय में होकर दूसरे समय में निर्जीर्ण हो जाता है। योगशक्ति होने से यह बंध माना जाता है, लेकिन कषाय परिणाम नही होने से अपना फल नही देते है।

पहले योगस्थानों का प्रमाण श्रेणि के असंख्यातवे भाग बताया है, अतः बंध के कारणों का कथन करने से वाद अव श्रेणि के स्वरूप को बतलाते है।

चउद्दसरज्जू लोगो बुद्धिकओ सत्तरज्जुमाणघणो।
तद्दीहेगपएसा सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥९७॥

शब्दार्थ **चउदसरज्जू** – चौदह राजू प्रमाण, **लोगो**—लोक, **बुद्धिकओ**—मति कल्पना के द्वारा किया गया, **सत्तरज्जुमाणघणो**—सात राजू प्रमाण का, **तद्**—उसकी (घनीकृत लोक की) **दीहेगपएसा** – लबी एक प्रदेश की, **सेढी** – श्रेणि, **पयरो**—प्रतर, **य**—और **तव्वग्गो**—उसका वर्ग।

गाथार्थ—लोक चौदह राजू प्रमाण है, उसका मति-कल्पना के द्वारा समीकरण कि[illegible] पर वह सात राजू के घनप्रमाण होता है। उस घ[illegible] प्रमाण लंबी प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणि क[illegible] वर्ग को प्रतर समझना चाहिये।

विशेषार्थ—इस गाथा में लोक, [illegible] स्वरूप बतलाया है। गाथा में लोक के स्वरू[illegible] यही है 'चउदसरज्जू लोगो', जिसका

है, किन्तु यह तो केवल उसकी ऊंचाई का ही प्रमाण बतलाया है। अब यहां लोक का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

सभी प्रकार के पदार्थ—जड़ या चेतन, दृश्यमान या अदृश्यमान, सूक्ष्म या स्थूल, स्थावर या जंगम आदि—जहां देखे जाते है अथवा जीव जहां अपने सुख-दुःख रूप पुण्य-पाप के फल का वेदन करते है, उसे लोक कहते हैं। इन पदार्थों में होने वाली प्रत्येक क्रिया अथवा इन पदार्थों द्वारा की जाने वाली प्रत्येक क्रिया का आधार यह लोक ही है। ये सभी पदार्थ अवस्था से अवस्थान्तर होते हुए भी अपने मूल गुण, धर्म, स्वभाव का परित्याग नही करते है। ऐसा कभी नही होता कि जड़ चेतन हो गया हो अथवा चेतन जड़, मूर्त अमूर्त हो गया हो अथवा अमूर्त मूर्त। सभी पदार्थ अपने अस्तित्व और अभिव्यक्ति के स्वयं कारण हैं और उनका अपना-अपना कार्य है। इसीलिये इन सब दृष्टियो को ध्यान में रखते हुए शास्त्रो मे लोक का स्वरूप बतलाया है कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, यह द्रव्य जहां पाये जाते है उसे लोक कहते है। अर्थात् धर्म आदि षड् द्रव्यो का समूह लोक है। लोक का ऐसा कोई हिस्सा नही, जहां ये छह द्रव्य न पाये जाते हों।

धर्म आदि उक्त छह द्रव्यो में से आकाश सर्वत्र व्यापक है, जबकि अन्य द्रव्य उसके व्याप्य है। अर्थात् आकाश धर्म आदि शेष पांच द्रव्यों के साथ भी रहता है और उनके सिवाय उनसे बाहर भी रहता है। वह अनन्त है अर्थात् उसका अन्त नही है। अत: आकाश के जितने भाग में धर्मादि छह द्रव्य रहते है, उसे लोक कहते हैं और इसके अतिरिक्त शेष अनन्त आकाश अलोक कहलाता है। यह लोक [illegible] नित्य है, अक्षय, अव्यय एवं अवस्थित है, न तो [illegible] है और न कभी नया उत्पन्न होता है।

लोक का स्वरूप समझने के पश्चात यह जिज्ञासा होती है कि इस लोक की स्थिति का आधार क्या है ? वर्तमान के वैज्ञानिको ने भी लोक के आधार को जानने के लिये प्रयास किया है, लेकिन ससीम ज्ञान के द्वारा इस असीम लोक की स्थिति का सम्यग् बोध होना सम्भव नही है। यन्त्रों के द्वारा होने वाले ज्ञान की अपेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि अत्यन्त विश्वसनीय एवं प्रमाणिक होती है। अत यहां सर्वज्ञ भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित लोकस्थिति के आधार को बतलाते है। उन्होंने लोक की स्थिति आठ प्रकार से प्रतिपादित की है—

(१) वात—तनुवात आकाश प्रतिष्ठित है, (२) उदधि—घनोदधि वात प्रतिष्ठित है, (३) पृथ्वी—उदधि प्रतिष्ठित है, (४) त्रस और स्थावर प्राणी पृथ्वी प्रतिष्ठित है, (५) अजीव जीव प्रतिष्ठित है, (६) जीव कर्म प्रतिष्ठित है, (७) अजीव जीव से संगृहीत है, (८) जीव कर्म से संगृहीत है।[१]

उक्त कथन का साराश यह है कि त्रस, स्थावर आदि प्राणियो का आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का आधार उदधि है, उदधि का आधार वायु है और वायु का आधार आकाश है। यानी जीव, अजीव आदि सभी पदार्थ पृथ्वी पर रहते है और पृथ्वी वायु के आधार पर तथा वायु आकाश के आधार पर टिकी हुई है।

पृथ्वी को वाताधारित कहने का स्पष्टीकरण यह है कि पृथ्वी का पाया घनोदधि पर आधारित है। घनोदधि जलजातीय है और जमे हुए घी के समान इसका रूप है। इसकी मोटाई नीचे मध्य मे वीस हजार योजन की है। घनोदधि के नीचे घनवायु का आवरण है, यानी

---

१ भगवती १।६

घनोदधि घनवात से आवृत है और इसका रूप कुछ पतले पिघले हुए घी के समान है। लम्बाई-चौड़ाई और परिधि असंख्यात योजन की है। यह घनवात भी तनुवात से आवृत है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई परिधि तथा मध्य की मोटाई असंख्यात योजन की है। इसका रूप तपे हुए घी के समान समझना चाहिए।

तनुवात के नीचे असंख्यात योजन प्रमाण आकाश है। इन घनोदधि, घनवात और तनुवात को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है कि एक दूसरे के अन्दर रखे हुए लकडी के पात्र हों, उसी प्रकार ये तीनो वातवलय भी एक दूसरे में अवस्थित है। यानी घनोदधि छोटे पात्र-जैसा, घनवात मध्यम पात्र-जैसा और तनुवात वडे पात्र-जैसा है और उसके वाद आकाश है। इन तीन पात्रो में से जैसे सबसे छोटे पात्र में कोई पदार्थ रखा जाये, वैसे ही घनोदधिवलय के भीतर यह पृथ्वी अवस्थित है।

शास्त्र मे लोक का आकार 'सुप्रतिष्ठ संस्थान' वाला कहा है। सुप्रतिष्ठ संस्थान के आकार का रूप इस प्रकार होता है कि—

जमीन पर एक सकोरा उलटा, उस पर दूसरा सकोरा सीधा और उस पर तीसरा सकोरा उलटा रखने से जो आकार बनता है, वह सुप्रतिष्ठ संस्थान कहलाता है और यही आकार लोक का है।

अनेक आचार्यो ने लोक का आकार विभिन्न रूपको द्वारा भी समझाया है। जैसे कि लोक का आकार कटिप्रदेश पर हाथ रखकर तथा पैरों को पसार कर नृत्य करने वाले पुरुष के समान है। इसीलिये लोक को पुरुषाकार की उपमा दी है। कहीं-कहीं वेत्रासन पर रखे हुए मृदंग के समान लोक का आकार बतलाया है. इसी प्रकार सी और दूसरी वस्तुयें जो जमीन मे चौड़ी, मध्य मे सकरी तथा ऊपर मे चौड़ी और फिर सकरी हों और एक दूसरे पर रखी जावें। [illegible] जैसा आकार बने, वह लोक का आकार बनेगा।

लोक के अधः, मध्य और ऊर्ध्व यह तीन विभाग है और इन विभागों के होने का मध्यविंदु मेरु पर्वत ये मूल में है। इस मध्य लोक के वीचोबीच मेरु पर्वत है, जिसका पाया जमीन में एक हजार योजन और ऊपर जमीन पर ९९००० योजन है। जमीन के समतल भाग पर इसकी लम्वाई-चौडाई चारों दिशाओ मे दस हजार योजन की है। मेरु पर्वत के पाये के एक हजार में से नौ सौ योजन के नीचे जाने पर अधोलोक प्रारम्भ होता है और अधोलोक के ऊपर १८०० योजन तक मध्यलोक है। अर्थात् नौ सौ योजन नीचे और नौ सौ योजन ऊपर, कुल मिलाकर १८०० योजन मध्यलोक की सीमा है और मध्यलोक के बाद ऊपर का सभी क्षेत्र ऊर्ध्वलोक कहलाता है। इन तीनों लोकों में अधोलोक और ऊर्ध्वलोक की ऊंचाई, चौड़ाई से ज्यादा और मध्यलोक में ऊंचाई की अपेक्षा लम्वाई-चौड़ाई अधिक है, क्योंकि मध्यलोक की ऊंचाई तो सिर्फ १८०० योजन प्रमाण है और लम्बाई-चौड़ाई एक राजू प्रमाण।

अधोलोक और ऊर्ध्वलोक की लंबाई-चौड़ाई भी एक-सी नही है। अधोलोक की लंबाई-चौड़ाई सातवे नरक में सात राजू से कुछ कम है और पहला नरक एक राजू लंबा-चौड़ा है जो मध्यलोक की लंवाई-चौडाई के वरावर है। ऊर्ध्वलोक की लंवाई-चौडाई पाचवें देवलोक में पाच राजू और उसके वाद एक-एक प्रदेश की कमी करने पर लोक के चरम ऊपरी भाग पर एक राजू लंवाई-चौड़ाई रहती है। यानी ऊर्ध्वलोक का अन्तिम भाग मध्यलोक के वरावर लंवा-चौडा है। लोक के आकार की जानकारी संलग्न चित्र में दी गई है।
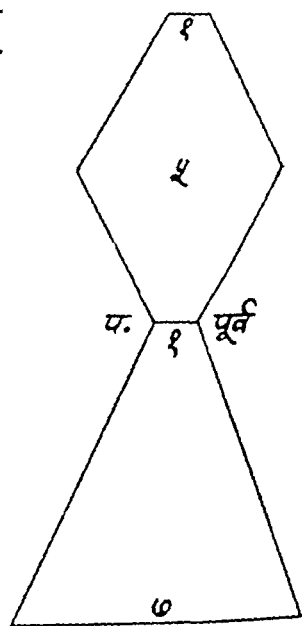
लोक की उक्त लंबाई-चौड़ाई आदि का साराश यह है कि नीचे जहाँ सातवा नरक है वहां सात राजू चौड़ा है और वहां से घटता-घटता सात राजू ऊपर आने पर जहा पहला नरक है, वहा एक राजू चौडाई है। उसके वाद क्रमश वढते-वढते पाचवे देवलोक के पास चौड़ाई पॉच राजू और उसके वाद क्रमश. घटते-घटते अंतिम भाग में एक राजू चौड़ाई है। संपूर्ण लोक की लंवाई चौदह राजू और अधिकतम चौडाई सात राजू तथा जघन्य चौडाई एक राजू है।

यह लोक त्रस और स्थावर जीवो से खचाखच भरा हुआ है। त्रस जीव तो त्रसनाड़ी मे ही रहते है लेकिन स्थावर जीव त्रस और स्थावर दोनो ही नाडियों में रहते है। लोक के ऊपर से नीचे तक चौदह राजू लंवे और एक राजू चौड़े ठीक वीच के आकाश प्रदेशों को त्रसनाड़ी कहते है और शेष लोक स्थावरनाड़ी कहलाता है।

इस चौदह राजू ऊँचे तथा अधिकतम सात राजू और न्यूनतम एक राजू लंवे-चौडे लोक की घनाकार कल्पना की जाय तो सात राजू ऊँचाई, सात राजू लंवाई और सात राजू चौड़ाई होगी। क्योंकि समस्त लोक के एक-एक राजू प्रमाण टुकडे किये जाये तो ३४३ टुकडे होते है। उनमे से अधोलोक के १९६ और ऊर्ध्वलोक के १४७ घनराजू है और इनका घनमूल ७ होता है। अतः घनीकृत लोक का प्रमाण सात राजू है और घनराजू ३४३ होते है।

इसके समीकरण करने की रीति इस प्रकार है—अधोलोक के नीचे का विस्तार सात राजू है और दोनों ओर से घटते-घटते सात राजू की ऊँचाई पर मध्य लोक के पास वह एक राजू शेष रहता है। इस अधोलोक के बीच मे से दो समान भाग करके यदि दोनों भागों को [illegible] बरावर-बरावर रखा जावे तो उसका विस्तार नीचे की ओर

तथा ऊपर की ओर चार-चार राजू होता है किंतु ऊँचाई सर्वत्र सात राजू ही रहती है। जैसे—
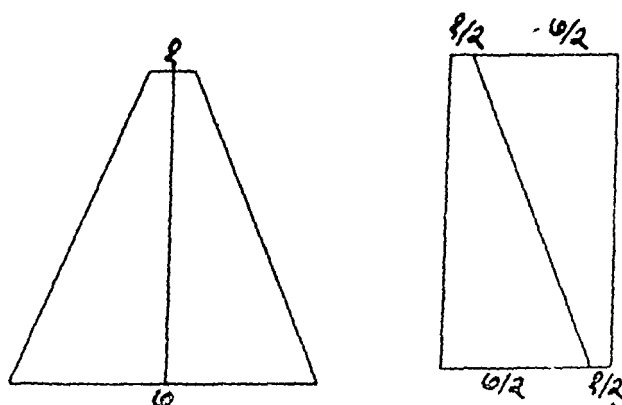
इस अधोलोक के बीच से दो खण्ड करके दोनों भागों को उलट कर रखने पर यह आकार होता है

अधोलोक का समीकरण करने के बाद अब ऊर्ध्वलोक का समीकरण करते है। ऊर्ध्वलोक मध्यभाग मे पूर्व पश्चिम ५ राजू चौडा है। उसमें से मध्य के तीन राजू क्षेत्र को ज्यों का त्यों छोड़कर दोनों ओर से एक-एक राजू के चौड़े और साढे तीन साढे तीन राजू के ऊंचे दो त्रिकोण खंड ले। उन दोनो खंडो को मध्य से विभक्त करने पर चार त्रिकोण खंड हो जाते है। जिनमें से प्रत्येक खंड की भुजा एक राजू और कोटि पौने दो राजू होती है। इन चारो खंडों को उलटा सीधा करके उनमें से दो खंड ऊर्ध्वलोक के अधोभाग मे दोनों ओर और दो खंड उसके ऊर्ध्वभाग के दोनों ओर मिला देना चाहिये। ऐसा करने पर ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई में तो अन्तर नही पड़ता किन्तु उसका विस्तार सर्वत्र तीन राजू हो जाता है। उक्त कथन का रूप इस प्रकार होगा—
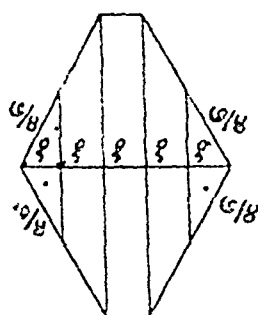
इस उर्ध्वलोक के मध्य के दोनों कोनों को अलग करके ऊपर और नीचे की ओर
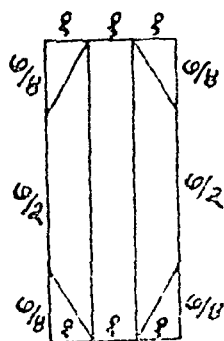
इस तरह मिलाओ

ऊर्ध्वलोक के उक्त नये आकार को अधोलोक के नये आकार के साथ मिला देने पर सात राजू चौडा, सात राजू ऊंचा और सात राजू मोटा चौकोर क्षेत्र हो जाता है। अतः ऊँचाई, चौड़ाई और मोटाई तीनों सात-सात राजू होने के कारण लोक सात राजू का घनरूप सिद्ध होता है। जो इस प्रकार है—

यद्यपि लोक वृत्त है और यह घन समचतुरस्र होता है। अतः इसका घन करने के लिये उसे १९ से गुणा करके २२ से भाग देना चाहिये। तब यह कुछ कम सात राजू लम्बा, चौड़ा, मोटा सिद्ध होता है। लेकिन व्यवहार में सात राजू का समचतुरस्रघन लोक समझना चाहिये।

इस प्रकार से लोक का स्वरूप बतलाने के बाद अब [illegible]

प्रतर का स्वरूप स्पष्ट करते है । सात राजू[1] लम्बी आकाश के एक-एक प्रदेश की पंक्ति को श्रेणि[2] कहते है। जहा कही भी श्रेणि के असंख्यातवे भाग का कथन किया जाये, वहां इसी श्रेणि को लेना चाहिये।

श्रेणि के वर्ग को प्रतर कहते है अर्थात् श्रेणि मे जितने प्रदेश है, उनको उतने ही प्रदेशो से गुणा करने पर प्रतर का प्रमाण आता है। समान दो संख्याओं का आपस मे गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न होती है, वह उस संख्या का वर्ग कहलाता है। जैसे ७ का ७ से गुणा करने पर उसका वर्ग ४९ होता है। अथवा सात राजू लम्बी और सात राजू चौड़ी एक-एक प्रदेश की पंक्ति को प्रतर कहते है।

प्रतर (वर्ग) और श्रेणि को परस्पर में गुणा करने पर घन का प्रमाण होता है। अर्थात् समान तीन संख्याओं का परस्पर गुणा करने पर घन होता है। जैसे ७×७×७=३४३, यह ७ का घन होता है।

इस प्रकार श्रेणि, प्रतर और घन लोक का प्रमाण समझना चाहिये।

प्रदेशबंध का सविस्तार वर्णन करने के साथ ग्रंथकार द्वारा 'नमिय जिणं धुवबंधा' आदि पहली गाथा में उल्लिखित विषयो का वर्णन किया जा चुका है। अब उसी गाथा में 'य' (च) शब्द से जिन उपशमश्रेणि, क्षपकश्रेणि का ग्रहण किया गया है, अब उनका वर्णन करते है। सर्व प्रथम उपशमश्रेणि का कथन किया जा रहा है।

---

1 त्रिलोकसार गाथा ७ मे राजू का प्रमाण श्रेणि के सातवे भाग वतलाया है—'जगसेढिसत्तभागो रज्जु ।' तथा द्रव्यलोकप्रकाश मे प्रमाणागुल से निष्पन्न असख्यात कोटि-कोटि योजन का एक राजू वतलाया है—प्रमाणागुल-निष्पन्नयोजनाना प्रमाणत.। असख्यकोटीकोटीभिरेकारज्जु. प्रकीर्तिता ॥ सर्ग १।६४।

2 लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशाना क्रमसन्निविष्टाना पक्ति. श्रेणि.।

—सर्वार्थसिद्ध

उपशमश्रेणि

अणदंसनपुंसित्थीवेयछक्कं च पुरिसवेय च।
दो दो एगंतरिए सरिसे सरिस उवसमेइ ॥९८॥

शब्दार्थ—**अणदंसनपुंसित्थीवेय**—अनतानुबधी कषाय, दर्शन-मोहनीय, नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, **छक्कं**—हास्यादि पट्क, **च**—तथा, **पुरिसवेयं**—पुरुष वेद, **च**—और, **दो दो**—दो दो, **एगंतरिए**—एक एक के अन्तर से, **सरिसे सरिस**—सदृश एक जैसी, **उवसमेइ**—उपशमित करता है।

गाथार्थ—(उपशमश्रेणि करने वाला) पहले अनंतानुबंधी कषाय का उपशम करता है, अनन्तर दर्शन मोहनीय का और उसके पश्चात् क्रमशः नपुसक वेद, स्त्रीवेद, हास्यादि पट्क व पुरुषवेद और उससे बाद एक-एक (संज्वलन) कषाय का अन्तर देकर दो-दो सदृश कषायों का एक साथ उपशम करता है।

विशेषार्थ—आठवें गुणस्थान से दो श्रेणिया प्रारंभ होती है—उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि।

ग्रंथकार ने गाथा में उपशमश्रेणि का स्वरूप स्पष्ट किया है कि उपशमश्रेणि के आरोहक द्वारा किस प्रकार प्रकृतियो का उपशमन किया जाता है। संक्षेप मे उपशमश्रेणि का स्वरूप इस प्रकार है कि जिन परिणामो के द्वारा आत्मा मोहनीय कर्म का सर्वथा उपशमन करता है, उन्हें उत्तरोत्तर वृद्धिगत परिणामो की धारा को उपशमश्रेणि कहते है। इस उपशमश्रेणि का प्रारम्भक अप्रमत्त संयत ही होता है और उपशमश्रेणि से गिरने वाला [illegible] [illegible] संयत, [illegible] या अविरति में से [illegible] हो सकता है। अर्थात् गिरने वाला [illegible] में [illegible] गुणस्थान तक आता है [illegible]

प्रतर का स्वरूप स्पष्ट करते है । सात राजू[१] लम्बी आकाश के एक-एक प्रदेश की पंक्ति को श्रेणि[२] कहते है। जहां कही भी श्रेणि के असंख्यातवे भाग का कथन किया जाये, वहां इसी श्रेणि को लेना चाहिये।

श्रेणि के वर्ग को प्रतर कहते है अर्थात् श्रेणि मे जितने प्रदेश हैं, उनको उतने ही प्रदेशो से गुणा करने पर प्रतर का प्रमाण आता है। समान दो संख्याओं का आपस मे गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न होती है, वह उस संख्या का वर्ग कहलाता है। जैसे ७ का ७ से गुणा करने पर उसका वर्ग ४९ होता है। अथवा सात राजू लम्बी और सात राजू चौडी एक-एक प्रदेश की पंक्ति को प्रतर कहते है।

प्रतर (वर्ग) और श्रेणि को परस्पर मे गुणा करने पर घन का प्रमाण होता है। अर्थात् समान तीन संख्याओं का परस्पर गुणा करने पर घन होता है। जैसे ७×७×७=३४३, यह ७ का घन होता है।

इस प्रकार श्रेणि, प्रतर और घन लोक का प्रमाण समझना चाहिये।

प्रदेशबंध का सविस्तार वर्णन करने के साथ ग्रंथकार द्वारा 'नमिय जिणं धुवबंधा' आदि पहली गाथा में उल्लिखित विषयों का वर्णन किया जा चुका है। अब उसी गाथा में 'य' (च) शब्द से जिन उपशमश्रेणि, क्षपकश्रेणि का ग्रहण किया गया है, अब उनका वर्णन करते है। सर्व प्रथम उपशमश्रेणि का कथन किया जा रहा है।

---

१ त्रिलोकसार गाथा ७ मे राजू का प्रमाण श्रेणि के सातवें भाग बतलाया है—'जगसेढिसत्तभागो रज्जु ।' तथा द्रव्यलोकप्रकाश मे प्रमाणागुल से निष्पन्न असख्यात कोटि-कोटि योजन का एक राजू बतलाया है—प्रमाणागुल-निष्पन्नयोजनाना प्रमाणत.। असख्यकोटीकोटीभिरेकारज्जुः प्रकीर्तिता ॥ सर्ग १।६४ ।

२ लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशाना क्रमसन्निविष्टाना पंक्तिः श्रेणि.। —सर्वार्थसिद्ध

उपशमश्रेणि

अणदंसनपुंसित्थीवेयछक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगंतरिए सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥९८॥

शब्दार्थ—**अणदंसनपुंसित्थीवेय**—अनतानुबंधी कषाय, दर्शन-मोहनीय, नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, **छक्कं**—हास्यादि षट्क, **च**—तथा, **पुरिसवेयं**—पुरुष वेद, **च**—और, **दो दो**—दो दो, **एगंतरिए**—एक एक के अन्तर से, **सरिसे सरिसं**—सदृश एक जैसी, **उवसमेइ**—उपशमित करता है।

गाथार्थ—(उपशमश्रेणि करने वाला) पहले अनंतानुबंधी कषाय का उपशम करता है, अनन्तर दर्शन मोहनीय का और उसके पश्चात् क्रमशः नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, हास्यादि षट्क व पुरुषवेद और उससे बाद एक-एक (संज्वलन) कषाय का अन्तर देकर दो-दो सदृश कषायों का एक साथ उपशम करता है।

विशेषार्थ—आठवे गुणस्थान से दो श्रेणिया प्रारंभ होती है—उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि।

ग्रंथकार ने गाथा मे उपशमश्रेणि का स्वरूप स्पष्ट किया है कि उपशमश्रेणि के आरोहक द्वारा किस प्रकार प्रकृतियों का उपशम किया जाता है। संक्षेप मे उपशमश्रेणि का स्वरूप इस प्रकार है कि जिन परिणामो के द्वारा आत्मा मोहनीय कर्म का सर्वथा उपशमन करता है, ऐसे उत्तरोत्तर वृद्धिगत परिणामो की धारा को उपशमश्रेणि कहते है। इस उपशमश्रेणि का प्रारम्भक अप्रमत्त संयत ही होता है और उपशमश्रेणि से गिरने वाला अप्रमत्त, प्रमत्त संयत, देशविरति या अविरति मे से भी कोई हो सकता है। अर्थात् गिरने वाला अनुक्रम से चौथे गुणस्थान तक आता है और

प्रतर का स्वरूप स्पष्ट करते है । सात राजू[1] लम्बी आकाश के एक-एक प्रदेश की पंक्ति को श्रेणि[2] कहते है । जहां कही भी श्रेणि के असंख्यातवे भाग का कथन किया जाये, वहा इसी श्रेणि को लेना चाहिये ।

श्रेणि के वर्ग को प्रतर कहते है अर्थात् श्रेणि में जितने प्रदेश है, उनको उतने ही प्रदेशों से गुणा करने पर प्रतर का प्रमाण आता है । समान दो संख्याओं का आपस मे गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न होती है, वह उस संख्या का वर्ग कहलाता है । जैसे ७ का ७ से गुणा करने पर उसका वर्ग ४९ होता है । अथवा सात राजू लम्बी और सात राजू चौड़ी एक-एक प्रदेश की पंक्ति को प्रतर कहते है ।

प्रतर (वर्ग) और श्रेणि को परस्पर मे गुणा करने पर घन का प्रमाण होता है । अर्थात् समान तीन संख्याओं का परस्पर गुणा करने पर घन होता है । जैसे ७×७×७=३४३, यह ७ का घन होता है ।

इस प्रकार श्रेणि, प्रतर और घन लोक का प्रमाण समझना चाहिये ।

प्रदेशबंध का सविस्तार वर्णन करने के साथ ग्रंथकार द्वारा 'नमिय जिणं धुववंधा' आदि पहली गाथा में उल्लिखित विषयो का वर्णन किया जा चुका है । अब उसी गाथा में 'य' (च) शब्द से जिन उपशमश्रेणि, क्षपकश्रेणि का ग्रहण किया गया है, अव उनका वर्णन करते है । सर्व प्रथम उपशमश्रेणि का कथन किया जा रहा है ।

---

१ त्रिलोकसार गाथा ७ मे राजू का प्रमाण श्रेणि के सातवे भाग वतलाया है—'जगसेढिसत्तभागो रज्जु ।' तथा द्रव्यलोकप्रकाश मे प्रमाणागुल से निष्पन्न असख्यात कोटि-कोटि योजन का एक राजू वतलाया है—प्रमाणागुल-निष्पन्नयोजनाना प्रमाणत. । असख्यकोटीकोटीभिरेकारज्जु' प्रकीर्तिता ॥ सर्ग १।६४ ।

२ लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशाना क्रमसन्निविष्टाना पंक्ति. श्रेणि. ।
—सर्वार्थसिद्धि

उपशमश्रेणि

अणदंसनपुंसित्थीवेयछक्कं च पुरिसवेयं च ।
दो दो एगंतरिए सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥९८॥

शब्दार्थ—अणदंसनपुंसित्थीवेय—अनन्तानुबंधी कषाय, दर्शन-मोहनीय, नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, छक्कं—हास्यादि षट्क, च—तथा, पुरिसवेयं—पुरुष वेद, च—और, दो दो—दो दो, एगंतरिए—एक एक के अन्तर से, सरिसे सरिसं—सदृश सदृश को, उवसमेइ—उप-शमित करता है।

गाथार्थ—(उपशमश्रेणि करने वाला) पहले अनंतानु-बंधी कषाय का उपशम करता है, अनन्तर दर्शन मोहनीय का और उसके पश्चात् क्रमशः नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, हास्यादि षट्क व पुरुषवेद और उससे बाद एक-एक (संज्वलन) कषाय का अन्तर देकर दो-दो सदृश कषायों का एक साथ उपशम करता है।

विशेषार्थ—आठवें गुणस्थान से दो श्रेणियां प्रारंभ होती है—उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि।

ग्रंथकार ने गाथा में उपशमश्रेणि का स्वरूप स्पष्ट किया है कि उपशमश्रेणि के आरोहक द्वारा किस प्रकार प्रकृतियों का उपशम किया जाता है। संक्षेप मे उपशमश्रेणि का स्वरूप इस प्रकार है कि जिन परिणामों के द्वारा आत्मा मोहनीय कर्म का सर्वथा उपशमन करता है, ऐसे उत्तरोत्तर वृद्धिगत परिणामों की धारा को उपशमश्रेणि कहते है। इस उपशमश्रेणि का प्रारम्भक अप्रमत्त संयत ही होता है और उपशमश्रेणि से गिरने वाला अप्रमत्त संयत, प्रमत्त संयत, देशविरति या अविरति मे से भी कोई हो सकता है। अर्थात् गिरने वाला अनुक्रम से चौथे गुणस्थान तक आता है और

प्रतर का स्वरूप स्पष्ट करते है । सात राजू[1] लम्बी आकाश के एक-एक प्रदेश की पंक्ति को श्रेणि[2] कहते है। जहां कहो भी श्रेणि के असंख्यातवे भाग का कथन किया जाये, वहां इसी श्रेणि को लेना चाहिये।

श्रेणि के वर्ग को प्रतर कहते है अर्थात् श्रेणि मे जितने प्रदेश है, उनको उतने ही प्रदेशो से गुणा करने पर प्रतर का प्रमाण आता है। समान दो संख्याओं का आपस में गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न होती है, वह उस संख्या का वर्ग कहलाता है। जैसे ७ का ७ से गुणा करने पर उसका वर्ग ४९ होता है। अथवा सात राजू लम्बी और सात राजू चौड़ी एक-एक प्रदेश की पंक्ति को प्रतर कहते है।

प्रतर (वर्ग) और श्रेणि को परस्पर मे गुणा करने पर घन का प्रमाण होता है। अर्थात् समान तीन संख्याओं का परस्पर गुणा करने पर घन होता है। जैसे ७×७×७=३४३, यह ७ का घन होता है।

इस प्रकार श्रेणि, प्रतर और घन लोक का प्रमाण समझना चाहिये।

प्रदेशबंध का सविस्तार वर्णन करने के साथ ग्रंथकार द्वारा 'नमिय जिणं धुवबंधा' आदि पहली गाथा में उल्लिखित विषयों का वर्णन किया जा चुका है। अब उसी गाथा में 'य' (च) शब्द से जिन उपशमश्रेणि, क्षपकश्रेणि का ग्रहण किया गया है, अब उनका वर्णन करते है। सर्व प्रथम उपशमश्रेणि का कथन किया जा रहा है।

---

१ त्रिलोकसार गाथा ७ मे राजू का प्रमाण श्रेणि के सातवे भाग बतलाया है—'जगसेढिसत्तभागो रज्जु।' तथा द्रव्यलोकप्रकाश मे प्रमाणागुल से निष्पन्न असख्यात कोटि-कोटि योजन का एक राजू बतलाया है—प्रमाणागुल-निष्पन्नयोजनाना प्रमाणत.। असख्यकोटीकोटीभिरेकारज्जु प्रकीर्तिता॥ सर्ग १।६४।

२ लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशाना क्रमसन्निविष्टाना पंक्ति. श्रेणि.। —सर्वार्थसिद्धि

उपशमश्रेणि

अणदंसनपुंसित्थीवेयछक्कं च पुरिसवेयं च ।
दो दो एगंतरिए सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥९८॥

शब्दार्थ—अणदंसनपुंसित्थीवेय—अनंतानुबंधी कषाय, दर्शनमोहनीय, नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, छक्कं—हास्यादि षट्क, च—तथा, पुरिसवेयं—पुरुष वेद, च—और, दो दो—दो दो, एगंतरिए—एक एक के अन्तर से, सरिसे सरिसं—सदृश एक जैसी, उवसमेइ—उपशमित करता है।

गाथार्थ—(उपशमश्रेणि करने वाला) पहले अनंतानुबंधी कषाय का उपशम करता है, अनन्तर दर्शन मोहनीय का और उसके पश्चात् क्रमशः नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, हास्यादि षट्क व पुरुषवेद और उनके बाद एक-एक (संज्वलन) कषाय का अन्तर देकर दो-दो सदृश कषायों का एक साथ उपशम करता है।

विशेषार्थ—आठवें गुणस्थान से दो श्रेणियां प्रारंभ होती हैं—उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि।

ग्रंथकार ने गाथा में उपशमश्रेणि का स्वरूप स्पष्ट किया है कि उपशमश्रेणि के आरोहक द्वारा किस प्रकार प्रकृतियों का उपशम किया जाता है। संक्षेप में उपशमश्रेणि का स्वरूप इस प्रकार है कि जिन परिणामों के द्वारा आत्मा मोहनीय कर्म का सर्वथा उपशमन करता है, ऐसे उत्तरोत्तर वृद्धिगत परिणामों की धारा को उपशमश्रेणि कहते हैं। इस उपशमश्रेणि का प्रारम्भक अप्रमत्त संयत ही होता है और उपशमश्रेणि से गिरने वाला अप्रमत्त संयत, प्रमत्त संयत, देशविरति या अविरति में से भी कोई [illegible] सकता है। अर्थात् गिरने वाला अनुक्रम से चौथे गुणस्थान [illegible] और

वहां से गिरे तो दूसरे और उससे पहले गुणस्थान को भी प्राप्त करता है।

उपशमश्रेणि के दो भाग है—(१) उपशम भाव का सम्यक्त्व और (२) उपशम भाव का चारित्र। इनमें से चारित्र मोहनीय का उपशमन करने के पहले उपशम भाव का सम्यक्त्व सातवें गुणस्थान मे ही प्राप्त होता है। क्योंकि दर्शन मोहनीय की सातो प्रकृतियों को सातवे मे ही उपशमित किया जाता है, जिससे उपशमश्रेणि का प्रस्थापक अप्रमत्त संयत ही है। किन्ही-किन्हीं आचार्यों का मंतव्य है कि अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त या अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती कोई भी अनंतानुबंधी कषाय का उपशमन करता है और दर्शनत्रिक आदि को तो संयम में वर्तने वाला अप्रमत्त ही उपशमित करता है। उसमें सबसे पहले अनंतानुबंधी कपाय को उपशान्त किया जाता है और दर्शनत्रिक का उपशमन तो संयमी ही करता है। इस अभिप्राय के अनुसार चौथे गुणस्थान से उपशम श्रेणि का प्रारम्भ माना जा सकता है।

अनंतानुबंधी कषाय के उपशमन का वर्णन इस प्रकार है कि चौथे से लेकर सातवे गुणस्थान तक में से किसी एक गुणस्थानवर्ती जीव अनंतानुबंधी कषाय का उपशमन करने के लिये यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करण करता है। यथाप्रवृत्तकरण में प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनंतगुणी विशुद्धि होती है। जिसके कारण शुभ प्रकृतियो में अनुभाग की वृद्धि और अशुभ प्रकृतियों में अनुभाग की हानि होती है। किन्तु स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि या गुणसंक्रम नही होता है, क्योंकि यहां उनके योग्य विशुद्ध परिणाम नही होते हे। यथाप्रवृत्तकरण का काल अन्तर्मुहूर्त है।

उक्त अन्तर्मुहूर्त काल समाप्त होने पर दूसरा अपूर्वकरण होता है। इस करण में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रम और

और उसके वाद प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे दलिकों का अन्य प्रकृतियों मे संक्रमण होता है। अपूर्वकरण के प्रथम समय में ही स्थितिवंध भी अपूर्व अर्थात् बहुत थोडा होता है।

अपूर्वकरण का काल समाप्त होने पर तीसरा अनिवृत्तिकरण होता है। इसमे भी प्रथम समय से ही स्थितिघात आदि अपूर्व स्थिति-वंध पर्यन्त पूर्वोक्त पाचों कार्य एक साथ होने लगते हैं। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। उसमें से संख्यात भाग वीत जाने पर जव एक भाग शेष रहता है तव अनंतानुबंधी कषाय के एक आवली प्रमाण नीचे के निषेको को छोडकर शेष निषेको का भी पूर्व मे वताये मिथ्यात्व के अन्तरकरण की तरह इनका भी अन्तरकरण किया जाता है। जिन अन्त-र्मुहूर्त प्रमाण दलिकों का अन्तरकरण किया जाता है, उन्हें वहा से उठाकर बंधने वाली अन्य प्रकृतियो मे स्थापित कर दिया जाता है। अन्तरकरण के प्रारंभ होने पर दूसरे समय में अनन्तानुवन्धी कपाय के ऊपर की स्थिति वाले दलिको का उपशम किया जाता है। यह उपशम पहले समय में थोड़े दलिकों का होता है, दूसरे समय में उससे असंख्यात-गुणे, तीसरे समय में उससे असंख्यातगुणे दलिकों का उपशम किया जाता है। इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक क्रमशः असंख्यातगुणे, असंख्या[illegible] गुणे दलिकों का प्रतिसमय उपशम किया जाता है। इसका परिणाम होता है कि इतने समयों में संपूर्ण अनंतानुवंधी कषाय का उ[illegible] जाता है और यह उपशम इतना सुदृढ होता है कि उदय, उदी[illegible] निधत्ति आदि करणों के अयोग्य हो जाता है। यही अनंतानुवंधी का उपशम है।

किन्ही-किन्ही [illegible] है कि अनंतानुवंधी [illegible] उपशम नही होता [illegible] होता है। इस मत क[illegible] कर्मप्रकृति (उपशमकर[illegible] गया है—

[illegible]

[illegible]

चौथे, पांचवें तथा छठे [illegible] पर्याप्त जीव तीन [illegible] करते हैं। किन्तु यहां न तो अन्तरकरण होता और न अनन्तानुबंधी का उपशम ही होता है।

अनन्तानुबंधी का उपशम करने के बाद दर्शनमोहनीयत्रिक—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का उपशम करता है। इनमें से मिथ्यात्व का उपशम तो मिथ्यादृष्टि और वेदक सम्यग्दृष्टि (क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि) करते हैं, किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का उपशम वेदक सम्यग्दृष्टि ही करता है। मिथ्यादृष्टि जीव जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है तब मिथ्यात्व का उपशम करता है। किन्तु उपशम श्रेणि में यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व उपयोगी नहीं होता लेकिन द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उपयोगी होता है। क्योंकि इसमें दर्शनत्रिक का संपूर्णतया उपशम होता है। इसीलिये यहां दर्शनत्रिक का उपशमक वेदक सम्यग्दृष्टि को माना है।[1]

---

1 दर्शनमोह के उपशम के संबंध में कर्मप्रकृति का मंतव्य इस प्रकार है—

अहवा दंसणमोहं पुव्वं उवसामइत्तु सामन्ने।
पढमठिइमावलियं करेइ दोण्ह अणुदियाणं ॥३३
अद्धापरिवित्ताओ पमत्त इयरे सहस्सगो किच्चा।
करणाणि तिन्नि कुणए तइयविसेसे इमे सुणसु ॥३४

यदि वेदक सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणि चढ़ता है तो दर्शन-मोहनीयत्रिक का उपशम करता है और इतनी वि[illegible] [illegible]करण करते हुए अनुदित मिथ्यात्व और [illegible] स्थिति को आवलिका प्रमाण और सम्यक्त्व की [illegible]

इस प्रकार से अनन्तानुबंधी कषाय और दर्शनत्रिक का उपशमन करने के बाद चारित्रमोहनीय के उपशम का क्रम प्रारंभ होता है।

चारित्रमोहनीय का उपशम करने के लिये पुन' यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करता है। लेकिन इतना अंतर है कि सातवे गुणस्थान में यथाप्रवृत्तकरण होता है, अपूर्वकरण अपूर्वकरण नामक आठवे गुणस्थान में तथा अनिवृत्तिकरण अनिवृत्तिकरण नामक नौवे गुणस्थान मे होता है। यहा भी स्थितिघात आदि कार्य होते है, किन्तु इतनी विशेषता है कि चौथे से सातवें गुणस्थान तक जो अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण होते है, उनमें उसी प्रकृति का गुणसंक्रमण होता है जिसके संवन्ध मे वे परिणाम होते है। किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थान मे संपूर्ण अशुभ प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है।

अपूर्वकरण के काल मे से संख्यातवां भाग बीत जाने पर निद्राद्विक—निद्रा और प्रचला—का बंधविच्छेद होता है। उसके वाद और काल बीतने पर सुरद्विक, पंचेन्द्रियजाति आदि तीस प्रकृतियो का तथा अंतिम समय में हास्य, रति, भय और जुगुप्सा का वंधविच्छेद होता है।[1]

मुहूर्त प्रमाण करता है। उपशमन करके प्रमत्त तथा अप्रमत्त गुणस्थान मे हजारो बार आवागमन करके चारित्रमोहनीय की उपशमना के लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करता है। तीसरे अनिवृत्तिकरण की विशेपता का कथन आगे की गाथाओ मे किया गया।

१ अपूर्वकरण गुणस्थान मे वधविच्छिन्न होने वाली प्रकृतिया इस प्रकार है—

अडवन्न अपुव्वाइमि निद्दुगतो छपन्न पणभागे।
सुरदुग पणिंदि सुखगइ तसनव उरलविणु तणुवगा॥
समचउर निमिण जिण वण्णअगुरुलहूचउ छलसि तीसतो।
चरमे छवीसवंधो हासरईकुच्छभयभेओ।

—द्वितीय कर्मग्रन्थ गा० ९० १०

स्थिति में ही क्षेपण करता है, द्वितीय स्थिति में नहीं। जैसे कि स्त्रीवेद के उदय में श्रेणि चढ़ने वाला [illegible] का। जिन कर्मों का उदय नहीं होता किन्तु उस समय केवल बंध ही होता है, उनके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकों का द्वितीय स्थिति में क्षेपण करता है, प्रथम स्थिति में नहीं। जैसे कि संज्वलन क्रोध के उदय में श्रेणि चढ़ने वाला शेष संज्वलन कषायों का, किन्तु जिन कर्मों का न तो बंध ही होता है और न उदय ही, उनके अन्तरकरण संबन्धी दलिकों का अन्य प्रकृतियों में क्षेपण करता है। जैसे कि द्वितीय और तृतीय कषाय का।

उक्त चतुर्भंगी का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१. जिन कर्मों का उस समय बंध और उदय होता है, उनके दलिकों को प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति में क्षेपण किया जाता है।

२. जिन कर्मों का उस समय उदय ही होता है, उनको प्रथम स्थिति में ही क्षेपण किया जाता है।

३. जिन कर्मों का उस समय बंध ही होता है, उ...
द्वितीय स्थिति में क्षेपण किया जाता है।

४. जिन कर्मों का न तो उदय और न बंध ...
दलिकों को अन्य प्रकृतियों में क्षेपण किया जाता है।

अन्तरकरण करके एक अन्तर्मुहूर्त में नपुंसक वेद का उपशम करता है, उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त में स्त्रीवेद का उपशम और उसके बाद हास्यादि षट्क का उपशम होते ही पुरुषवेद के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद है।

हास्यादि षट्क की उपशमना के अनन्तर समय कम दो आवलिका मात्र में सकल पुरुषवेद का उपशम करता है। जिस समय में हास्यादि षट्क उपशान्त हो जाते है और पुरुषवेद की प्रथम स्थिति क्षीण हो जाती है, उसके अनन्तर समय में अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोध का एक साथ उपशम करना प्रारंभ करता है और जब संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति में एक आवलिका काल शेष रह जाता है तब संज्वलन क्रोध के बन्ध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम। उस समय संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका को और ऊपर की स्थितिगत एक समय कम दो आवलिका मे बद्ध दलिको को छोडकर शेप दलिक उपशान्त हो जाते है। उसके बाद समय कम दो आवलिका काल में संज्वलन क्रोध का उपशम हो जाता है।

जिस समय में संज्वलन क्रोध के बन्ध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर संज्वलन मान की द्वितीय स्थिति से दलिको को लेकर प्रथम स्थिति करता है। प्रथम स्थिति करने के समय से लेकर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन मान का एक साथ उपशम करना प्रारंभ करता है। संज्वलन मान की प्रथमस्थिति में समय कम तीन आवलिका शेप रहने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मान के दलिकों का संज्वलन मान में प्रक्षेप नहीं किया जाता किन्तु संज्वलन माया आदि मे किया जाता है। एक आवलिका शेप रहने पर संज्वलन मान के बंध,

उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम हो जाता है। उस समय में संज्व-लन मान की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और एक समय कम दो आवलिका में बांधे गये ऊपर की स्थितिगत कर्मदलिकों को छोड़कर शेष दलिकों का उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आव-लिका में संज्वलन मान का उपशम करता है।

जिस समय में संज्वलन मान के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर संज्वलन माया की द्वितीय स्थिति से दलिकों को लेकर पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम स्थिति करता है और उसी समय से लेकर तीनों माया का एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। संज्वलन माया की प्रथम स्थिति में समय कम तीन आवलिका शेष रहने पर अप्रत्याख्या-नावरण और प्रत्याख्यानावरण माया के दलिकों का संज्वलन माया में प्रक्षेप नहीं करता किन्तु संज्वलन लोभ में प्रक्षेप करता है और एक आवलिका शेष रहने पर संज्वलन माया के बन्ध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम हो जाता है। उस समय में संज्वलन माया की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और समय कम दो आवलिका में बांधे गये ऊपर की स्थितिगत दलिकों को छोड़कर शेष का उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आवलिका में संज्वलन माया का उपशम करता है।

जब संज्वलन माया के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर संज्वलन लोभ की द्वितीय स्थिति से दलिकों को लेकर पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम स्थिति करता है। लोभ का जितना वेदन काल होता है, उसके तीन भाग करके उनमें

प्रमाण प्रथम स्थिति का काल रहता है। प्रथम त्रिभाग में पूर्व स्पर्धको में से दलिकों को लेकर अपूर्वस्पर्धक करता है अर्थात् पहले के स्पर्धको में से दलिको को ले-लेकर उन्हे अत्यन्त रसहीन कर देता है। द्वितीय विभाग में पूर्वस्पर्धको और अपूर्वस्पर्धकों से दलिकों को लेकर अनन्त कृष्टि करता है अर्थात् उनमें अनन्तगुणा हीन रस करके उन्हे अंतराल से स्थापित कर देता है। कृष्टिकरण के काल के अन्त समय में अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम करता है। उसी समय में संज्वलन लोभ के बंध का विच्छेद होता है। इसके साथ ही नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का अंत हो जाता है।

इसके वाद दसवां सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है। उसमें आने पर ऊपर की स्थिति से कुछ कृष्टियो को लेकर सूक्ष्मसंपराय के काल के वराबर प्रथम स्थिति को करता है और एक समय कम दो आवलिका में वंधे हुए शेष दलिको का उपशम करता है। सूक्ष्मसंसराय के अंतिम समय में संज्वलन लोभ का उपशम हो जाता है। उसी समय में ज्ञानावरण की पाच, दर्शनावरण की चार, अंतराय की पांच, यशःकीर्ति और उच्च गोत्र, इन प्रकृतियों के बन्ध का विच्छेद होता है। अनन्तर समय मे ग्यारहवां गुणस्थान उपशान्तकषाय हो जाता है और इस गुणस्थान में मोहनीय की २८ प्रकृतियों का उपशम रहता है।[1]

---

१ लब्धिसार (दिगम्बर साहित्य) गा० २०५-३९१ मे उक्त वर्णन से मिलता जुलता उपशम का विधान किया गया है। किन्तु उसमे अनन्तानुवधी के उपशम का विधान न करके विसयोजन को माना है—

उवसमचरियाहिमुहा वेदगसम्मो अण वियोजित्ता ॥ २०५

अर्थात् उपशम चारित्र के अभिमुख वेदक सम्यग्दृष्टि अनन्तानुवधी का विसंयोजन करके ....।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि ग्रथकार विसयोजन का ही पक्षपाती है।

यद्यपि उपशम श्रेणि मे मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियो का पूरी तरह उपशम किया जाता है, परन्तु उपशम कर देने पर भी उस कर्म का अस्तित्व तो बना ही रहता है। जैसे कि गदले पानी मे फिटकरी आदि डालने से पानी की गाद उसके तले मे बैठ जाती है और पानी निर्मल हो जाता है, किन्तु उसके नीचे गन्दगी ज्यो की त्यो बनी रहती है। वैसे ही उपशम श्रेणि मे जीव के भावो को कलुषित करने वाला प्रधान कर्म मोहनीय शात कर दिया जाता है। अपूर्वकरण आदि परिणाम जैसे-जैसे ऊपर चढते जाते है वैसे-वैसे मोहनीय कर्म की धूलि रूपी उत्तर प्रकृतियो के कण एक के बाद एक उत्तरोत्तर शात हो जाते है। इस प्रकार से उपशम की गई प्रकृतियो मे न तो स्थिति और अनुभागको कम किया जा सकता है और न बढाया जा सकता है। न उनका उदय या उदीरणा हो सकती है और न उन्हें अन्य प्रकृति रूप ही किया जा सकता है।[1] किन्तु यह उपशम तो अन्तर्मुहूर्त काल के लिये किया जाता है। अतः दसवें गुणस्थान मे सूक्ष्म लोभ का उपशम करके जब जीव ग्यारहवे गुणस्थान मे पहुँचता है तो कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त के बाद उपशम हुई कषाये अपना उद्रेक कर बैठती है। जिसका फल यह होता है कि उपशम श्रेणि का आरोहक जीव जिस क्रम से ऊपर चढा था, उसी क्रम से नीचे उतरना शुरू कर देता है और उसका पतन प्रारम्भ हो जाता है। उपशात कषाय वाले जीव का पतन अवश्यंभावी है। इसी बात को आवश्यक निर्युक्ति गाथा ११८ में स्पष्ट किया है कि—

---

१ अन्यत्राप्युक्त—'उवसत कम्म ज न तओ कढेइ न देइ उदए वि।
न य गमयइ परपगइ न चेव उक्कड्ढए [illegible]।

—पचम कर्मग्रन्थ

उवसामं उवणीया गुणमहया जिणचरित्तसरिसंपि ।
पडिवायंति कसाया किं पुण सेसे सरागत्थ ॥

गुणवान पुरुप के द्वारा उपशात की गई कपाये जिन भगवान सरीखे चारित्र वाले व्यक्ति का भी पतन करा देती है, फिर अन्य सरागी पुरुषों का तो कहना ही क्या है ?

अतः ज्यों-ज्यों नीचे उतरता जाता है, वैसे-वैसे चढते समय जिस-जिस गुणस्थान में जिन-जिन प्रकृतियों का बंधविच्छेद किया था, उस-उस गुणस्थान में आने पर वे प्रकृतियां पुनः बंधने लगती है।

उतरते-उतरते वह सातवें या छठे गुणस्थान में ठहरता है और यदि वहां भी अपने को संभाल नही पाता है तो पांचवें और चौथे गुणस्थान मे पहुँचता है। यदि अनंतानुबंधी का उदय आ जाता है तो सासादन सम्यग्दृष्टि होकर पुनः मिथ्यात्व में पहुँच जाता है। और इस तरह सब किया कराया चौपट हो जाता है।

लेकिन यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि यदि पतनोन्मुखी उपशम श्रेणि का आरोहक छठे गुणस्थान में आकर संभल जाता है तो पुनः उपशम श्रेणि चढ़ सकता है। क्योंकि एक भव में दो बार उपशम श्रेणि चढने का उल्लेख पाया जाता है।[2] परन्तु जो जीव दो बार

---

१ अद्धाखये पडतो अधापवत्तोत्ति पडदि हु कमेण ।
सुज्झतो आरोहदि पडदि हु सो सकिलिस्सतो ॥
—लब्धिसार गा० ३१०

जीव उपशम श्रेणि मे अधःकरण पर्यन्त तो क्रम से गिरता है। यदि उसके वाद विशुद्ध प[illegible] है तो पुन. ऊपर के गुणस्थानो में चढता है और संक्लेश [illegible]ने पर नीचे के गुणस्थानो में आता है।

२ एकभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोह
—कर्मप्रकृति गा० ६४
गा० ६३ (उपशम)

उपशमश्रेणि चढ़ता है, वह जीव उसी भव में क्षपकश्रेणि का आरोहण नहीं कर सकता। जो एक बार उपशम श्रेणि चढ़ता है वह कार्मग्रन्थिक मतानुसार दूसरी बार क्षपक श्रेणि भी चढ़ सकता है।[1] सैद्धांतिक मतानुसार तो एक भव में एक जीव एक ही श्रेणि चढ़ता है।[2]

इस प्रकार सामान्य रूप से उपशम श्रेणि का स्वरूप बतलाया गया है। अब तत्संबंधी कुछ विशेष स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

गाथा में उपशमश्रेणि के आरोहण क्रम पुरुषवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाले जीव की अपेक्षा से बतलाया गया है। यदि स्त्रीवेद के उदय से कोई जीव श्रेणि चढ़ता है तो वह पहले नपुंसक वेद का उपशम करता है और फिर क्रम से पुरुषवेद, हास्यादि षट्क और स्त्रीवेद का उपशम करता है। यदि नपुंसक वेद के उदय से कोई जीव श्रेणि चढ़ता है तो वह पहले स्त्रीवेद का उपशम करता है, उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद, हास्यादि षट्क का और नपुंसक वेद का उपशम करता है। सारांश यह है कि जिस वेद के उदय से श्रेणि चढ़ता है उस वेद का उपशम सबसे पीछे करता है। इसी बात को विशेषावश्यक भाष्य गा० १२८८ में बताया है कि—

---

१ उक्तं च सप्ततिकाचूर्णौ—जो दुवे वारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ, तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि। जो इक्कसिं उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी हुज्ज त्ति।

—पंचम कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टी०, पृ० १३२

२ तम्मि भवे निव्वाणं न लभइ उक्कोसओ व संसारं।
पोग्गलपरियट्टद्धं देसूणं कोइ हिंडेज्जा॥

—विशेषावश्यक भाष्य १३१५

उपशम श्रेणि से गिरकर मनुष्य उस भव से मोक्ष नहीं जा सकता और कोई-कोई तो अधिक से अधिक कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्त काल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं।

तत्तो य दंसणतिगं तओऽणुइण्णं जहन्नयरवेय ।
ततो वीयं छक्क तओ य वेय सयमुदिन्नं ॥

अर्थात् अनन्तानुवंधी की उपशमना के पश्चात् दर्शनत्रिक का उपशम करता है, उसके बाद अनुदीर्ण दो वेदों में से जो वेद हीन होता है, उसका उपशम करता है। उसके बाद दूसरे वेद का उपशम करता है। उसके बाद हास्यादि षट्क का उपशम करता है और तत्पश्चात जिस वेद का उदय होता है, उसका उपशम करता है।

कर्मप्रकृति उपशमनाकरण गा० ६५ मे इस क्रम को इस प्रकार बतलाया है कि—

उदय वज्जिय इत्थी इत्थिं समयइ अवेयगा सत्त ।
तह वरिसवरो वरिसवरित्थिं समगं कमारद्धे ॥

यदि स्त्री उपशमश्रेणि पर चढती है तो पहले नपुसकवेद का उपशम करती है, उसके बाद चरम समय मात्र उदय स्थिति को छोड़कर स्त्रीवेद के शेष सभी दलिकों का उपशम करती है। उसके बाद अवेदक होने पर पुरुषवेद आदि सात प्रकृतियों का उपशम करती है। यदि नपुसक उपशम श्रेणि पर चढता है तो एक उदय स्थिति को छोडकर शेष नपुसक वेद का तथा स्त्रीवेद का एक साथ उपशम करता है। उसके बाद अवेदक होने पर पुरुषवेद आदि सात प्रकृतियों का उपशम करता है।[1]

उपशम श्रेणि का आरंभक सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव है और अनंतानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व का उपशम करने पर सातवा गुणस्थान होता है। क्योकि इनके उदय होते हुए सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति नही हो सकती है।

---

१ लब्धिसार मे भी कर्मप्रकृति के अनुरूप ही विधान किया गया है। देखो गाथा ३६१, ३६२।

उपशम श्रेणि में भी अनन्तानुबन्धी आदि का उपशम किया जाता है। अतः ऐसी दशा में पुनः उपशम श्रेणि में उनका उपशम बतलाने का कारण यह है कि केवल सम्यक्त्व, देशचारित्र और सकलचारित्र की प्राप्ति उक्त प्रकृतियों के क्षयोपशम से होती है। अतः उपशम श्रेणि का प्रारंभ करने से पहले उक्त प्रकृतियों का क्षयोपशम रहता है, न कि उपशम। इसीलिये उपशम श्रेणि में अनन्तानुबन्धी आदि के उपशम को बतलाया है।

उपशम और क्षयोपशम में अन्तर

इसी प्रसंग में उपशम और क्षयोपशम का स्वरूप भी समझ लेना चाहिये। क्योंकि क्षयोपशम उदय में आये हुए कर्मदलिकों के क्षय और सत्ता में विद्यमान कर्मों के उपशम से होता है। परन्तु क्षयोपशम की इतनी विशेषता है कि उसमें घातक कर्मों का प्रदेशोदय रहता है और उपशम में किसी भी तरह का उदय नहीं होता है अर्थात् न तो प्रदेशोदय और न रसोदय। क्षयोपशम में प्रदेशोदय होने पर भी सम्यक्त्व आदि का घात न होने का कारण यह है कि उदय दो प्रकार का है—फलोदय और प्रदेशोदय। लेकिन फलोदय होने से गुण का घात होता है और प्रदेशोदय के अत्यन्त मंद होने से गुण का घात नहीं होता है। इसीलिये उपशम श्रेणि में अनन्तानुबन्धी आदि का फलोदय और प्रदेशोदय रूप दोनों प्रकार का उपशम माना जाता है।

उपशम श्रेणि का प्रारम्भक माने जाने के सम्बन्ध में मतान्तर भी है। कई आचार्यों का कहना है कि अविरत, देशविरत, प्रमत्त-विरत और अप्रमत्तविरत में से कोई एक उपशम श्रेणि चढ़ता है और कोई सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव को आरम्भक मानते है।

इस मतभिन्नता का कारण यह है कि जो आचार्य दर्शनमोहनीय के उपशम से अर्थात् द्वितीय उपशमसम्यक्त्व के प्रारम्भ से

श्रेणि का प्रारम्भ मानते है वे चौथे आदि गुणस्थानवर्ती जीवो को उपशम श्रेणि का प्रारम्भक मानते है। क्योंकि उपशम सम्यक्त्व चौथे आदि चार गुणस्थानों में ही प्राप्त किया जाता है। लेकिन जो आचार्य चारित्रमोहनीय के उपशम से यानी उपशम चारित्र की प्राप्ति के लिये किये गये प्रयत्नों से उपशम श्रेणि का प्रारम्भ मानते है, वे सप्तमगुणस्थानवर्ती जीव को ही उपशम श्रेणि का प्रारम्भक मानते है, क्योंकि सातवे गुणस्थान मे ही यथाप्रवृत्तकरण होता है।[1]

उपशम श्रेणि के आरोहण का क्रम अगले पृष्ठ ३८७ पर देखिये।

इस प्रकार से उपशम श्रेणि का स्वरूप जानना चाहिये। अनन्तर अब क्रमप्राप्त क्षपक श्रेणि का वर्णन करते है।

क्षपक श्रेणि

अणमिच्छमीससम्मं तिआउ इगविगलथीणतिगुज्जोवं।
तिरिनयरथावरदुगं साहारायवअडनपुत्थीए ॥९९॥
छगपुंसंजलणादोनिद्दविग्घवरणक्खए नाणी।

शब्दार्थ—**अण**—अनंतानुबधी कषाय, **मिच्छ**—मिथ्यात्व मोहनीय, **मीस**—मिश्र मोहनीय, **सम्मं**—सम्यक्त्व मोहनीय, **तिआउ**—तीन आयु, **इगविगल**—एकेन्द्रिय, विकेलेन्द्रिय, **थीणतिग**—स्त्यानर्द्धित्रिक, **उज्जोवं**—उद्योत नाम, **तिरिनरयथावरदुग**—तिर्यंचद्विक, नरकद्विक, स्थावरद्विक, **साहारायव**—साधारण नाम, आतप नाम, **अड**—आठ कषाय, **नपुत्थीए**—नपुंसक वेद और स्त्रीवेद।

छग—हास्यादि षट्क, **पुं**—पुरुष वेद, **संजलणा**—सज्वलन कषाय, **दोनिद्द**—दो निद्रा (निद्रा और प्रचला), **विग्घवरणक्खए**—

---

१ दिगम्बर संप्रदाय मे दूसरे मत को ही स्वीकार किया है।

उपशमन	
संज्वलन लोभ २८	
अप्रत्याख्यानावरण लोभ २६	प्रत्याख्यानावरण लोभ २७
संज्वलन माया २५	
अप्रत्याख्याना० माया २३	प्रत्याख्याना० माया २४
संज्वलन मान २२	
अप्रत्याख्याना० मान २०	प्रत्याख्याना० मान २१
संज्वलन क्रोध १९	
अप्रत्याख्याना० क्रोध १७	प्रत्याख्याना० क्रोध १८
पुरुष वेद १६	
हास्यादि षट्क १५	
स्त्रीवेद ९	
नपुंसक वेद ८	
मिथ्यात्व ५, मिश्र ६, सम्यक्त्व मोह० ७	
अनन्तानुबंधी क्रोध १, मान २, माया ३, लोभ ४	

पांच अतराय, पाच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण के क्षय होने पर, नाणी—केवलज्ञानी।

गाथार्थ—(क्षपक श्रेणि वाला) अनंतानुबंधी कषाय, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, तीन आयु, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, स्त्यानर्द्धित्रिक, उद्योत नाम, तिर्यंचद्विक, नरकद्विक, स्थावरद्विक, साधारण नाम, आतप नाम, आठ (दूसरी और तीसरी) कषाय, नपुंसक वेद, स्त्री-वेद तथा—

हास्यादि षट्क, पुरुष वेद, संज्वलन कषाय, दो निद्रायें, पांच अंतराय, पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, इन प्रकृतियों का क्षय करके जीव केवलज्ञानी होता है।

विशेषार्थ—क्षपक श्रेणि का आरोहक जिन प्रकृतियो को क्षय करता है, उनके नाम गाथा मे बतलाये है। उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि में यह अन्तर है कि इन दोनो श्रेणियो के आरोहक मोहनीय कर्म के उपशम और क्षय करने के लिए अग्रसर होते है लेकिन उपशम श्रेणि में तो प्रकृतियो के उदय को शांत किया जाता है, प्रकृतियों की सत्ता बनी रहती है और अन्तर्मुहूर्त के लिये अपना फल नही दे सकती है, किन्तु क्षपक श्रेणि में उनकी सत्ता ही नष्ट कर दी जाती है, जिससे उनके पुनः उदय होने का भय नहीं रहता है। इसी कारण क्षपक श्रेणि में पतन नही होता है। उक्त कथन का सारांश यह है कि उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि दोनों का केन्द्रविन्दु मोहनीय कर्म है और उपशम श्रेणि में मोहनीय कर्म का उपशम होने से पुनः उदय हो जाता है। जिससे पतन होने पर की गई पारिणामिक शुद्धि व्यर्थ हो जाती है। किन्तु क्षपक श्रेणि में मोहनीय कर्म का समूल क्षय होने से पुनः उदय नही होता है और उदय न होने से पारिणामिक शुद्धि पूर्ण

होकर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है और केवल-ज्ञानी हो जाती है।

उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि में दूसरा अन्तर यह है कि उप-शम श्रेणि में सिर्फ मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का ही उपशम होता है लेकिन क्षपक श्रेणि में मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के साथ नामकर्म की कुछ प्रकृतियों व ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय कर्म की प्रकृ-तियों का भी क्षय होता है।

क्षपक श्रेणि में प्रकृतियों के क्षय का क्रम इस प्रकार है—

आठ वर्ष से अधिक आयु वाला उत्तम संहनन का धारक, चौथे, पांचवें, छठे अथवा सातवें गुणस्थानवर्ती मनुष्य क्षपक श्रेणि प्रारंभ करता है।[1] सबसे पहले वह अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क का एक साथ क्षय करता है और उसके शेष अनंतवें भाग को मिथ्यात्व में स्थापन करके मिथ्यात्व और उस अंश का एक साथ नाश करता है। उसके बाद इस प्रकार क्रमशः सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय करता है।[2]

जब सम्यग्मिथ्यात्व की स्थिति एक आवलिका मात्र बाकी रह जाती है तब सम्यक्त्व मोहनीय की स्थिति आठ वर्ष प्रमाण बाकी

---

१ पडिवत्तीए अविरयदेसपमत्तापमत्तविरयाण ।
अन्नयरो पडिवज्जइ सुद्धज्झाणोवगयचित्तो ॥
—विशेषावश्यक भाष्य १३२१

दिगम्बर संप्रदाय मे उपशम श्रेणि के आरोहक की तरह क्षपक श्रेणि के आरोहक को सप्तम गुणस्थानवर्ती माना हैं। क्योंकि चारित्र-मोहनीय के क्षपण से ही क्षपक श्रेणि मानी है।

२ पढमकसाए समयं खवेइ अंतोमुहुत्तमेत्तेण ।
तत्तो च्चिय मिच्छत्तं तओ य मीसं तओ सम्मं ॥
—विशेषावश्यक भाष्य १३२२

पांच अतराय, पाच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण के क्षय होने पर, नाणी—केवलज्ञानी।

गाथार्थ—(क्षपक श्रेणि वाला) अनंतानुबंधी कषाय, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, तीन आयु, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, स्त्यानर्द्धित्रिक, उद्योत नाम, तिर्यंचद्विक, नरकद्विक, स्थावरद्विक, साधारण नाम, आतप नाम, आठ (दूसरी और तीसरी) कषाय, नपुंसक वेद, स्त्री-वेद तथा—

हास्यादि षट्क, पुरुष वेद, संज्वलन कषाय, दो निद्रायें, पांच अंतराय,पाच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, इन प्रकृतियों का क्षय करके जीव केवलज्ञानी होता है।

विशेषार्थ—क्षपक श्रेणि का आरोहक जिन प्रकृतियो को क्षय करता है, उनके नाम गाथा में बतलाये है। उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि में यह अन्तर है कि इन दोनों श्रेणियो के आरोहक मोहनीय कर्म के उपशम और क्षय करने के लिए अग्रसर होते है लेकिन उपशम श्रेणि में तो प्रकृतियों के उदय को शात किया जाता है, प्रकृतियों की सत्ता बनी रहती है और अन्तर्मुहूर्त के लिये अपना फल नहीं दे सकती हैं, किन्तु क्षपक श्रेणि में उनकी सत्ता ही नष्ट कर दी जाती है, जिससे उनके पुनः उदय होने का भय नही रहता है। इसी कारण क्षपक श्रेणि में पतन नही होता है। उक्त कथन का सारांश यह है कि उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि दोनों का केन्द्रबिन्दु मोहनीय कर्म है और उपशम श्रेणि में मोहनीय कर्म का उपशम होने से पुनः उदय हो जाता है। जिससे पतन होने पर की गई पारिणामिक शुद्धि व्यर्थ हो जाती है। किन्तु क्षपक श्रेणि में मोहनीय कर्म का समूल क्षय होने से पुनः उदय नही होता है और उदय न होने से पारिणामिक शुद्धि पूर्ण

होकर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है और केवलज्ञानी हो जाती है।

उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि में दूसरा अन्तर यह है कि उपशम श्रेणि मे सिर्फ मोहनीय कर्म की प्रकृतियो का ही उपशम होता है लेकिन क्षपक श्रेणि में मोहनीय कर्म की प्रकृतियो के साथ नामकर्म की कुछ प्रकृतियों व ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय कर्म की प्रकृतियों का भी क्षय होता है।

क्षपक श्रेणि में प्रकृतियों के क्षय का क्रम इस प्रकार है—

आठ वर्ष से अधिक आयु वाला उत्तम संहनन का धारक, चौथे, पाचवे, छठे अथवा सातवें गुणस्थानवर्ती मनुष्य क्षपक श्रेणि प्रारंभ करता है।[1] सबसे पहले वह अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क का एक साथ क्षय करता है और उसके शेष अनंतवें भाग को मिथ्यात्व में स्थापन करके मिथ्यात्व और उस अंश का एक साथ नाश करता है। उसके बाद इस प्रकार क्रमशः सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय करता है।[2]

जब सम्यग्मिथ्यात्व की स्थिति एक आवलिका मात्र बाकी रह जाती है तब सम्यक्त्व मोहनीय की स्थिति आठ वर्ष प्रमाण बाकी

१ पडिवत्तीए अविरयदेसपमत्तापमत्तविरयाण।
अन्नयरो पडिवज्जइ सुद्धज्झाणोवगयचित्तो॥
—विशेषावश्यक भाष्य १३२१

दिगम्बर सप्रदाय मे उपशम श्रेणि के आरोहक की तरह क्षपक श्रेणि के आरोहक को सप्तम गुणस्थानवर्ती माना है। क्योंकि चारित्रमोहनीय के क्षपण से ही क्षपक श्रेणि मानी है।

२ पढमकसाए समय खवेइ अंतोमुहुत्तमेत्तेणं।
तत्तो च्चिय मिच्छत्त तओ य मीस तओ सम्म॥
—विशेषावश्यक भाष्य १३२२

रहती है। उसके अन्तमुहूर्त प्रमाण खण्ड कर-करके खपाता है। जब उसके अंतिम स्थितिखण्ड को खपाता है तब उस क्षपक को कृतकरण कहते है। इस कृतकरण के काल में यदि कोई जीव मरता है तो वह चारों गतियों में से किसी भी गति में उत्पन्न हो सकता है।[1]

यदि क्षपक श्रेणि का प्रारंभ बद्धायु जीव करता है और अनंतानुबंधी के क्षय के पश्चात् उसका मरण हो तो उस अवस्था मे मिथ्यात्व का उदय होने पर वह जीव पुनः अनंतानुबंधी का बंध करता है, क्योंकि मिथ्यात्व के उदय मे अनंतानुबंधी नियम से बंधती है,[2] किन्तु

---

१ लब्धिसार (दिगम्बर ग्रन्थ) मे दर्शनमोहनीय की क्षपणा के बारे मे लिखा है—

> दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजो मणुसो।
> तित्थयरपादमूले केवलिसुदकेवलीमूले ॥११०॥
> णिट्ठवगो तट्ठाणे विमाणभोगावणीसु धम्मे य।
> किदकरणिज्जो चदुसुवि गदीसु उप्पज्जदे जम्हा ॥१११॥

कर्मभूमिज मनुष्य तीर्थंकर, केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल मे दर्शनमोह के क्षपण का प्रारम्भ करता है। अधःकरण के प्रथम समय से लेकर जब तक मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय का द्रव्य सम्यक्त्व प्रकृति रूप सक्रमण करता है तब तक के अन्तर्मुहूर्त काल को दर्शनमोह के क्षपण का प्रारम्भिक काल कहा जाता है और उस प्रारम्भ काल के अनन्तर समय से लेकर क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के पहले समय तक का काल निष्ठापक कहलाता है। निष्ठापक तो जहा प्रारम्भ किया था वहा ही अथवा वैमानिक देवो मे अथवा भोगभूमि मे अथवा धर्मा नाम के प्रथम नरक मे होता है। क्योंकि बद्धायु कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि मरण करके चारो गतियो मे उत्पन्न हो सकता है।

२ 　बद्धाउ पडिवन्नो पढमकसायक्खए जइ मरेज्जा।
　　तो मिच्छत्तोदयओ विणिज्ज भुज्जो न खीणम्मि ॥

— विशेषावश्यक भाष्य १३२३

मिथ्यात्व का क्षय हो जाने पर पुनः अनंतानुबंधी का बंध नही होता है। वद्धायु होने पर भी यदि कोई जीव उस समय मरण नही करता है तो अनंतानुबंधी कषाय और दर्शनमोह का क्षपण करने के बाद वह वही ठहर जाता है, चारित्रमोहनीय के क्षपण करने का प्रयत्न नही करता है। यदि अबद्धायु होता है तो वह उस श्रेणि को समाप्त करके केवलज्ञान प्राप्त करता है। अत अबद्धायुष्क सकल श्रेणि को समाप्त करने वाले मनुष्य के तीन आयु— देवायु, नरकायु और तिर्यंचायु का अभाव तो स्वत ही हो जाता है तथा पूर्वोक्त क्रम से अनंतानुबंधी चतुष्क और दर्शनत्रिक का क्षय चौथे आदि चार गुणस्थानो मे करता है।

इस प्रकार दर्शनमोहसप्तक का क्षय करने के पश्चात चारित्र-मोहनीय का क्षय करने के लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करणो को करता है। अपूर्वकरण मे स्थितिघात आदि के द्वारा अप्रत्याख्याना-वरण कषाय चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क कुल आठ प्रकृतियों का इस प्रकार क्षय किया जाता है कि अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय मे उनकी स्थिति पल्य के असख्यातवे भाग मात्र रह जाती है। अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग बीत जाने पर— स्त्यान-र्द्धित्रिक, नरकगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक ये चार जातिया, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म और साधारण, इन सोलह प्रकृतियो की स्थिति उद्वलना संक्रमण के द्वारा उद्वलना होने पर पल्य के असंख्यातवे भाग मात्र रह जाती है और उसके बाद गुणसंक्रमण के द्वारा बध्यमान प्रकृतियों में उनका प्रक्षेप कर-करके उन्हे बिल्कुल क्षीण कर दिया जाता है। यद्यपि अप्रत्या-ख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षय का प्रारंभ पहले ही कर दिया जाता है, किन्तु अभी तक वे क्षीण नही होती हैं कि अंन

मे पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियों का क्षपण किया जाता है और उनके क्षय के पश्चात आठ कषायों का भी अन्तर्मुहूर्त में ही क्षय कर देता है।[1]

उसके पश्चात नौ नोकषाय और चार संज्वलन कषायों में अन्तर-करण करता है। फिर क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और हास्यादि छह नोकषायो का क्षपण करता है और उसके बाद पुरुषवेद के तीन खंड करके दो खण्डों का एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खण्ड को संज्वलन क्रोध में मिला देता है।

उक्त क्रम पुरुषवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाले के लिये बताया है। यदि स्त्री श्रेणि पर आरोहण करती है तो पहले नपुंसकवेद का क्षपण करती है, उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद, छह नोकषाय और स्त्री-वेद का क्षपण करती है यदि नपुंसक श्रेणि आरोहण करता है तो वह पहले स्त्रीवेद का क्षपण करता है, उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद, छह नोकषाय और नपुंसक वेद का क्षपण करता है।[2] सारांश यह है कि

---

१ किसी-किसी का मत है कि पहले सोलह प्रकृतियो के ही क्षय का प्रारम्भ करता है और उनके मध्य मे आठ कषायों का क्षय करता है, पश्चात् सोलह प्रकृतियो का क्षय करता है। गो० कर्मकाड मे इस सम्बन्ध मे मतान्तर का उल्लेख इस प्रकार किया है—

णत्थि अण उवसमगे खवगापुव्वं खवित्तु अट्ठा य।
पच्छा सोलादीण खवण इदि केइ णिद्दिट्ठं ॥३९१॥

उपशम श्रेणी मे अनतानुबधी का सत्व नही होता और क्षपक अनिवृत्तिकरण पहले आठ कषायो का क्षपण करके पश्चात् सोलह आदि प्रकृतियो का क्षपण करता है, ऐसा कोई कहते है।

२ इत्थीउदए नपुंस इत्थीवेय च सत्तग च कमा।
अपुमोदयमि जुगव नपुंसइत्थी पुणो सत्त ॥

—पंचसंग्रह ३४६

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

जिस वेद के उदय से श्रेणि आरोहण करता है, उसका क्षपण अन्त में होता है।

वेद के क्षपण के वाद संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षपण उक्त प्रकार से करता है। यानी संज्वलन क्रोध के तीन खण्ड करके दो खंडो का तो एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खंड को संज्वलन मान मे मिला देता है। इसी प्रकार मान के तीसरे खंड को माया में मिलाता है और माया के तीसरे खण्ड को लोभ में मिलाता है। प्रत्येक के क्षपण करने का काल अन्तमुहूर्त है और श्रेणि काल अन्तमुहूर्त है किन्तु वह अन्तमुहूर्त बड़ा है।

संज्वलन लोभ के तीन खंड करके दो खण्डों का तो एक साथ क्षपण करता है किन्तु तीसरे खण्ड के संख्यात खण्ड करके चरम खंड के सिवाय शेष खंडों को भिन्न-भिन्न समय मे खपाता है और फिर उस चरम खंड के भी असंख्यात खंड करके उन्हें दसवे गुणस्थान में भिन्न-भिन्न समय में खपता है। इस प्रकार लोभ कषाय का पूरी तरह क्षय होने पर अनन्तर समय में क्षीणकषाय हो जाता है। क्षीणकषाय गुणस्थान के काल के संख्यात भागों में से एक भाग काल बाकी रहने तक मोहनीय के सिवाय शेष कर्मों में स्थितिघात आदि पूर्ववत् होते है। उसमे पाच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाच अन्तराय और दो निद्रा (निद्रा और प्रचला) इन सोलह प्रकृतियों की स्थिति को क्षीणकषाय के काल के वरावर करता है किन्तु निद्राद्विक की स्थिति को एक समय

स्त्रीवेद के उदय से श्रेणि चढने पर पहले नपुंसक वेद का क्षय होता है, फिर स्त्रीवेद का और फिर पुरुषवेद व हास्यादि षट्क का क्षय होता है। नपुंसक वेद के उदय से श्रेणि चढने पर नपुंसक वेद और स्त्रीवेद का एक साथ क्षय होता है, उसके वाद पुरुषवेद और हास्यषट्क का क्षय होता है।

गो० कर्मकांड गा० ३८८ में भी यही क्रम बताया है।

कम करता है। इनकी स्थिति के बराबर होते ही इनमें स्थितिघात वगैरह कार्य बन्द हो जाते है और शेष प्रकृतियों के होते रहते हैं। क्षीण-कषाय के उपान्त समय मे निद्राद्विक का क्षय करता है और शेष चौदह प्रकृतियों का अन्तिम समय में क्षय करता है और उसके अनन्तर समय में वह सयोगकेवली हो जाता है।

यह सयोगकेवली अवस्था जघन्य से अन्तमु हूर्त और उत्कृष्ट से कुछ कम एक पूर्व कोटि काल की होती है। इस काल में भव्य जीवों के प्रतिबोधार्थ देशना, विहार आदि करते है। यदि उनके वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति आयुकर्म से अधिक होती है तो उनके समीकरण के लिये यानी आयुकर्म की स्थिति के बराबर वेदनीय आदि तीन अघा-तिया कर्मों की स्थिति को करने के लिये समुद्‌घात करते है, जिसे केवलीसमुद्‌घात कहते है और उसके पश्चात योग का निरोध करने के लिये उपक्रम करते है। यदि आयुकर्म के बराबर ही वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति हो तो समुद्‌घात नही करते है।

योग के निरोध का उपक्रम इस प्रकार है कि सबसे पहले बादर काययोग के द्वारा बादर मनोयोग को रोकते है, उसके पश्चात बादर वचनयोग को रोकते है और उसके पश्चात सूक्ष्मकाय के द्वारा बादर काययोग को रोकते है, उसके बाद सूक्ष्म मनोयोग को, उसके पश्चात् सूक्ष्म वचनयोग को रोकते है। इस प्रकार बादर, सूक्ष्म मनोयोग, वचनयोग और बादर काययोग को रोकने के पश्चात् सूक्ष्म काययोग को रोकने के लिये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान को ध्याते है। उस ध्यान मे स्थितिघात आदि के द्वारा सयोगि अवस्था के अंतिम समय पर्यन्त आयुकर्म के सिवाय शेप कर्मों का अपवर्तन करते हे। ऐसा करने से अन्तिम समय में सब कर्मों की स्थिति अयोगि अवस्था के काल के बराबर हो जाती है। यहां इतना विशेष समझना चाहिये

क अयोगि अवस्था में जिन कर्मों का उदय नही होता है, उनकी स्थिति क समय कम होती है।

सयोगकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय मे साता या असाता वेदनीय मे से कोई एक वेदनीय, औदारिक, तैजस, कार्मण, छह संस्थान, प्रथम संहनन, औदारिक अंगोपांग, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, शुभ और अशुभ विहायोगति, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दु:स्वर और निर्माण, इन तीस प्रकृतियो के उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है और उसके अनन्तर समय मे अयोगकेवली हो जाते है।

इस अयोगकेवली अवस्था में व्युपरतक्रियाप्रतिपाती ध्यान को करते है। यहा स्थितिघात आदि नही होता है, अत जिन कर्मों का उदय होता है, उनको तो स्थिति का क्षय होने से अनुभव करके नष्ट कर देते है, किन्तु जिन प्रकृतियो का उदय नही होता, उनका स्तिबुकसंक्रम के द्वारा वेद्यमान प्रकृतियो मे संक्रम करके अयोगि अवस्था के उपात समय तक वेदन करते है और उपात समय में ७२ का और अंत समय में १३ प्रकृतियों का क्षय करके निराकर, निरंजन होकर नित्य सुख के धाम मोक्ष को प्राप्त करते है।[1]

इस प्रकार से क्षपक श्रेणि का स्वरूप समझना चाहिये। उसका दिग्दर्शक विवरण यह है—

---

१ क्षपक श्रेणि का विशेष विवरण परिशिष्ट मे देखिये।

कम करता है। इनकी स्थिति के बराबर होते ही इनमे स्थितिघात वगैरह कार्य बन्द हो जाते है और शेप प्रकृतियों के होते रहते हैं। क्षीण-कषाय के उपान्त समय में निद्राद्विक का क्षय करता है और शेष चौदह प्रकृतियों का अन्तिम समय में क्षय करता है और उसके अनन्तर समय में वह सयोगकेवली हो जाता है।

यह सयोगकेवली अवस्था जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से कुछ कम एक पूर्व कोटि काल की होती है। इस काल में भव्य जीवों के प्रतिबोधार्थ देशना, विहार आदि करते हैं। यदि उनके वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति आयुकर्म से अधिक होती है तो उनके समीकरण के लिये यानी आयुकर्म की स्थिति के बराबर वेदनीय आदि तीन अघातिया कर्मों की स्थिति को करने के लिये समुद्घात करते है, जिसे केवलीसमुद्घात कहते है और उसके पश्चात योग का निरोध करने के लिये उपक्रम करते है। यदि आयुकर्म के बराबर ही वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति हो तो समुद्घात नही करते है।

योग के निरोध का उपक्रम इस प्रकार है कि सबसे पहले बादर काययोग के द्वारा बादर मनोयोग को रोकते है, उसके पश्चात बादर वचनयोग को रोकते है और उसके पश्चात सूक्ष्मकाय के द्वारा बादर काययोग को रोकते है, उसके बाद सूक्ष्म मनोयोग को, उसके पश्चात् सूक्ष्म वचनयोग को रोकते है। इस प्रकार बादर, सूक्ष्म मनोयोग, वचनयोग और बादर काययोग को रोकने के पश्चात् सूक्ष्म काययोग को रोकने के लिये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान को ध्याते है। उस ध्यान मे स्थितिघात आदि के द्वारा सयोगि अवस्था के अंतिम समय पर्यन्त आयुकर्म के सिवाय शेप कर्मों का अपवर्तन करते हैं। ऐसा करने से अन्तिम समय में सब कर्मों की स्थिति अयोगि अवस्था के के बराबर हो जाती है। यहां इतना विशेष समझना चाहिये।

कि अयोगि अवस्था में जिन कर्मों का उदय नही होता है, उनकी स्थिति एक समय कम होती है ।

सयोगकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय मे साता या असाता वेदनीय मे से कोई एक वेदनीय, औदारिक, तैजस, कार्मण, छह संस्थान, प्रथम संहनन, औदारिक अंगोपांग, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, शुभ और अशुभ विहायोगति, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दु:स्वर और निर्माण, इन तीस प्रकृतियो के उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है और उसके अनन्तर समय में अयोगकेवली हो जाते है ।

इस अयोगकेवली अवस्था में व्युपरतक्रियाप्रतिपाती ध्यान को करते है। यहां स्थितिघात आदि नही होता है, अत: जिन कर्मों का उदय होता है, उनको तो स्थिति का क्षय होने से अनुभव करके नष्ट कर देते है, किन्तु जिन प्रकृतियों का उदय नही होता, उनका स्तिवुक-संक्रम के द्वारा वेद्यमान प्रकृतियो में संक्रम करके अयोगि अवस्था के उपांत समय तक वेदन करते है और उपांत समय में ७२ का और अंत समय मे १३ प्रकृतियो का क्षय करके निराकर, निरंजन होकर नित्य सुख के धाम मोक्ष को प्राप्त करते है ।[1]

इस प्रकार से क्षपक श्रेणि का स्वरूप समझना चाहिये । उसका दिग्दर्शक विवरण यह है—

---

१ क्षपक श्रेणि का विशेष विवरण परिशिष्ट मे देखिये ।

सिद्ध अवस्था की प्राप्ति

१४८ प्रकृतियों का क्षय

१२/१३ प्रकृतियो का क्षय (१४वें गुणस्थान में)

७२/७३ प्रकृतियों का क्षय (१३वे गुणस्थान में)

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४, अंतराय ५=१४ (१२वे गुणस्थान मे)

दो निद्राये २ (१२वे गुणस्थान के उपांत समय में)

संज्वलन लोभ १ (दसवे गुणस्थान में)

संज्वलन माया १

संज्वलन मान १

संज्वलन क्रोध १

पुरुषवेद १

हास्यादि षट्क ६

स्त्रीवेद १

नपुंसकवेद १

एकेन्द्रिय आदि १६

(नौवें गुणस्थान में)

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ,
प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ (८वें गुणस्थान में)

देव, नरक, तिर्यंच आयु ३

सम्यक्त्व मोहनीय ३

मिश्र मोहनीय २

मिथ्यात्व मोहनीय १

अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ

(४, ५, ६, ७वें गुणस्थान में)

'नमिय जिणं धुवबंधोदयसत्ता' आदि पहली गाथा में जिन विषयों के वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई थी, उनका वर्णन करने के पश्चात ग्रन्थकार अपना और ग्रंथ का नाम बतलाते हुए ग्रंथ को समाप्त करते है।

देविंदसूरिलिहियं सयगमिणं आयसरणट्ठा ॥१००॥

शब्दार्थ—देविंदसूरि—देवेन्द्रसूरि ने, लिहियं—लिखा, सयग—शतक नाम का, इण—यह ग्रंथ, आयसरणट्ठा—आत्मस्मरण करने, वोध प्राप्त करने के लिये।

गाथार्थ—देवेन्द्रसूरि ने आत्मा का वोध प्राप्त करने के लिए इस शतक नामक ग्रन्थ की रचना की है।

विशेषार्थ—उपसंहार के रूप में ग्रन्थकार अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुये कहते है कि इस ग्रंथ का नाम 'शतक' है, क्योंकि इसमें सौ गाथाये है और उनमें प्रारम्भ मे की गई प्रतिज्ञा के अनुसार वर्ण्य विपयो का वर्णन किया गया है और यह ग्रन्थ स्वस्वरूप बोध के लिए वनाया गया है।

इस प्रकार पंचम कर्मग्रन्थ की व्याख्या समाप्त हुई।

●●

परिशिष्ट

१. पंचम कर्मग्रन्थ की मूल गाथाये
२. कर्मों की बन्ध, उदय, सत्ता प्रकृतियो की संख्या में भिन्नता का कारण
३. मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों में भूयस्कार आदि बन्ध
४. कर्म प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध।
५. आयुकर्म के अबाधाकाल का स्पष्टीकरण
६. योगस्थानों का विवेचन
७. ग्रहण किये गये कर्मस्कन्धों को कर्म प्रकृतियों में विभाजित करने की रीति
८. उत्तर प्रकृतियों में पुद्गलद्रव्य के वितरण तथा हीनाधिकता का विवेचन
९. पल्यो को भरने मे लिए जाने वाले बालाग्रों के बारे मे अनुयोगद्वार सूत्र आदि का कथन
१०. दिगम्बर साहित्य में पल्योपम का वर्णन
११. दिगम्बर ग्रन्थों में पुद्गल परावर्तों का वर्णन
१२. उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशवंध के स्वामियो का गो० कर्मकांड मे आगत वर्णन
१३. गुणश्रेणि के विधान का स्पष्टीकरण
१४. क्षपक श्रेणि के विधान का स्पष्टीकरण
१५. पंचम कर्मग्रन्थ की गाथाओ की अकाराद्यनुक्रमणिका

पंचम कर्मग्रन्थ की मूल गाथायें

नमिय जिणं धुवबंधोदयसत्ताघाइपुन्नपरियत्ता ।
सेयर चउहविवागा वुच्छं वन्धविह सामी य ॥१॥

वन्नचउतेयकम्मागुरुलहु निमणोवघाय भयकुच्छा ।
मिच्छकसायावरणा विग्घं धुवबंधि सगचत्ता ॥२॥

तणुवंगागिइसंघयण जाइगइखगइपुव्विजिणुसासं ।
उज्जोयायवपरघा तसवीसा गोय वेयणियं ॥३॥

हासाइजुयलदुगवेय आउ तेवुत्तरी अधुवबंधा ।
भंगा अणाइसाई अणंतसंत ुत्तरा चउरो ॥४॥

पढमविया धुवउदइसु धुववंधिसु तइअवज्जभंगतिगं ।
मिच्छम्मि तिन्नि भंगा दुहावि अधुवा तुरिअभंगा ॥५॥

निमिण थिर अथिर अगुरुय सुहअसुहं तेय कम्म चउवन्ना ।
नाणंतराय दंसण मिच्छं धुवउदय सगवीसा ॥६॥

थिर-सुभियर विणु अधुववंधी मिच्छ विणु मोहधुववंधी ।
निद्दोवघाय मीसं सम्मं पणनवइ अधुवुदया ॥७॥

तसवन्नवीस सगतेय-कम्म धुवबंधि सेस वेयतिगं ।
आगिइतिग वेयणियं दुजुयल सगउरल सासचऊ ॥८॥

खइगतिरिदुग नीयं धुवसंता सम्म मीस मणुयदुगं ।
विउविक्कार जिणाऊ हारसगुच्चा अधुवसंता ॥९॥

पढमतिगुणेसु मिच्छं नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं ।
सासाणे खलु सम्मं संतं मिच्छाइदसगे वा ॥१०॥

सासणमीसेसु धुवं मीस मिच्छाइनवसु भयणाए ।
आइदुगे अण नियमा भइया मीसाइनवगम्मि ॥११॥

आहारसत्तगं वा सव्वगुणे वितिगुणे विणा तित्थं ।
नोभयसंते मिच्छो अंतमुहुत्तं भवे तित्थे ।।१२।।

केवलजुयलावरणा पणनिद्दा वारसाइमकसाया ।
मिच्छं ति सव्वघाइ चउणाणतिदंसणावरणा ।।१३।।

संजलण नोकसाया विग्घं इय देसघाइय अघाई ।
पत्तेयतणुट्ठाऊ तसवीसा गोयदुग वन्ना ।।१४।।

सुरनरतिगुच्च सायं तसदस तणुवंगवइरचउरंसं ।
परघासग तिरिआऊं वन्नचउ पणिंदि सुभखगइ ।।१५।।

बायालपुन्नपगई अपढमसंठाणखगइसंघयणा ।
तिरियदुग असायनीयोवघाय इगविगल निरयतिगं ।।१६।।

थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय बासीई ।
पावपयडित्ति दोसुवि वन्नाइगहा सुहा असुहा ।।१७।।

नामधुवबंधिनवगं दंसण पणनाणविग्घ परघायं ।
भयकुच्छमिच्छसासं जिण गुणतीसा अपरियत्ता ।।१८।।

तणुअट्ठ वेय दुजुयल कसाय उज्जोयगोयदुग निद्दा ।
तसवीसाउ परित्ता खित्तविवागाऽणुपुव्वीओ ।।१९।।

घणघाइ दुगोय जिणा तसियरतिग सुभगदुभगचउ सासं ।
जाइतिग जियविवागा आऊ चउरो भवविवागा ।।२०।।

नामधुवोदय चउतणु वघायसाहारणियर जोयतिगं ।
पुग्गलविवागि बंधो पयइठिइरसपएसत्ति ।।२१।।

मूलपयडीण अट्ठसत्तछेगबंधेसु तिन्नि भूगारा ।
अप्पतरा तिय चउरो अवट्ठिया ण हु अवत्तव्वो ।।२२।।

एगादहिगे भूओ एगाईऊणगम्मि अप्पतरो ।
तम्मत्तोऽवट्ठियओ पढमे समए अवत्तव्वो ।।२३।।

नव छ चउ दंसे दुदु तिदु मोहे दु इगवीस सत्तरस ।
तेरस नव पण चउ ति दु इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि ।।२४।।

तिपणछअट्ठनवहिया वीसा तीसेगतीस इग नामे ।
छस्सगअट्ठतिबन्धा सेसेसु य ठाणमिक्किक्कं ॥२५॥
वीसयरकोडिकोडी नामे गोए य सत्तरी मोहे ।
तीसयर चउसु उदही निरयसुराउंमि तित्तीसा ॥२६॥
मुत्तु अकसायठिइं बार मुहुत्ता जहन्न वेयणिए ।
अट्ठट्ठ नामगोएसु सेसएसु मुहुत्तंतो ॥२७॥
विग्घावरणअसाए तीसं अट्ठार सुहुमविगलतिगे ।
पढमागिइसंघयणे दस दुसुवरिमेसु दुगवुड्ढी ॥२८॥
चालीस कसाएसु मिउलहुनिद्धुण्हसुरहिसियमहुरे ।
दस दोसड्ढसमहिया ते हालिद्दंबिलाईणं ॥२९॥
दस सुहविहगई उच्चे सुरदुग थिरछक्क पुरिसरइहासे ।
मिच्छे सत्तरि मणुदुगइत्थीसाएसु पन्नरस ॥३०॥
भयकुच्छअरइसोए विउव्वितिरिउरलनिरयदुगनीए ।
तेयपण अथिरछक्के तसचउथावरइगपणिंदी ॥३१॥
नपुकुखगइसासचउगुरुकक्खडरुक्खसीयदुग्गंधे ।
वीसं कोडाकोडी एवइयाबाह वाससया ॥३२॥
गुरु कोडिकोडिअंतो तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा ।
लहुठिइ संखगुणूणा नरतिरियाणाउ पल्लतिगं ॥३३॥
इगविगलपुव्वकोडिं पलियासंखंस आउचउ अमणा ।
निरुवकमाण छमासा अबाह सेसाण भवतंसो ॥३४॥
लहुठिइबंधो संजलणलोहपणविग्घनाणदंसेसु ।
भिन्नमुहुत्तं ते अट्ठ जसुच्चे बारस य साए ॥३५॥
दो इगमासो पक्खो संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि ।
सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईइ जं लद्धं ॥३६॥
अयमुक्कोसो गिंदिसु पलियासंखंसहीण लहुबंधो ।
कमसो पणवीसाए पन्नासयसहस्ससंगुणिओ ॥३७॥

आहारसत्तगं वा सव्वगुणे वितिगुणे विणा तित्थं ।
नोभयसंते मिच्छो अंतमुहुत्तं भवे तित्थे ॥१२॥

केवलजुयलावरणा पणनिद्दा बारसाइमकसाया ।
मिच्छं ति सव्वघाइ चउणाणतिदंसणावरणा ॥१३॥

संजलण नोकसाया विग्घं इय देसघाइय अघाई ।
पत्तेयतणुट्ठाऊ तसवीसा गोयदुग वन्ना ॥१४॥

सुरनरतिगुच्च सायं तसदस तणुवंगवइरचउरंसं ।
परघासग तिरिआऊं वन्नचउ पणिंदि सुभखगइ ॥१५॥

बायालपुन्नपगई अपढमसंठाणखगइसंघयणा ।
तिरियदुग असायनीयोवघाय इगविगल निरयतिगं ॥१६॥

थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय बासीई ।
पावपयडित्ति दोसुवि वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥१७॥

नामधुवबंधिनवगं दंसण पणनाणविग्घ परघायं ।
भयकुच्छमिच्छसासं जिण गुणतीसा अपरियत्ता ॥१८॥

तणुअट्ठ वेय दुजुयल कसाय उज्जोयगोयदुग निद्दा ।
तसवीसाउ परित्ता खित्तविवागाऽणुपुव्वीओ ॥१९॥

घणघाइ दुगोय जिणा तसियरतिग सुभगदुभगचउ सासं ।
जाइतिग जियविवागा आऊ चउरो भवविवागा ॥२०॥

नामधुवोदय चउतणु वघायसाहारणियर जोयतिगं ।
पुग्गलविवागि बंधो पयइठिइरसपएसत्ति ॥२१॥

मूलपयडीण अट्ठसत्तछेगबंधेसु तिन्नि भूगारा ।
अप्पतरा तिय चउरो अवट्ठिया ण हु अवत्तव्वो ॥२२॥

एगादहिगे भूओ एगाईऊणगम्मि अप्पतरो ।
तम्मत्तोऽवट्ठियओ पढमे समए अवत्तव्वो ॥२३॥

नव छ चउ दंसे दुदु तिदु मोहे दु इगवीस सत्तरस ।
तेरस नव पण चउ ति दु इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि ॥२४॥

तो जइजिट्ठो बंधो संखगुणो देसविरय हस्सियरो ।
सम्मचउ सन्निचउरो ठिइबंधाणुकम संखगुणा ।।५१।।

सव्वाण वि जिट्ठठिई असुभा जं साइसंकिलेरोणं ।
इयरा विसोहिओ पुण मुत्तु नरअमरतिरियाउं ।।५२।।

सुहुमनिगोयाइखणप्पजोग वायरयविगलअमणमणा ।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु पजहस्सियरो असंखगुणो ।।५३।।

अपजत्त तसुक्कोसो पज्जजहन्नियरु एव ठिइठाणा ।
अपजेयर संखगुणा परमपजबिए असंखगुणा ।।५४।।

पइखणमसंखगुणविरिय अपज पइठिइमसंखलोगसमा ।
अज्झवसाया अहिया सत्तसु आउसु असंखगुणा ।।५५।।

तिरिनरयतिजोयाणं नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं ।
थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ।।५६।।

अपढमसंघयणागिइखगई अणमिच्छदुभगथीणतिगं ।
निय नपु इत्थि दुतीसं पणिदिसु अबन्धठिइ परमा ।।५७।।

विजयाइसु गेविज्जे तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठं ।
पणसीइ सययबंधो पल्लतिगं सुरविउव्विदुगे ।।५८।।

समयादसंखकालं तिरिदुगनीएसु आउ अंतमुहू ।
उरलि असंखपरट्टा सायठिई पुव्वकोडूणा ।।५९।।

जलहिसयं पणसीयं [illegible] गादितसचउगे ।
वत्तीसं सुहविह [illegible] ०।।

असुखगइजाइआगिइ
[illegible]यरसुभजसय।
समय।दंतमुहु
तित्तीसयरा
तिव्वो अ
मंदरसो

विगलिअसन्निसु जिट्ठो कणिट्ठउ पल्लसंखभागूणो।
सुरनरयाउ समादससहस्स सेसाउ खुड्डभवं ॥३८॥

सव्वाणवि लहुबंधे भिन्नमुहू अबाह आउजिट्ठे वि।
केइ सुराउसमं जिणमंतमुहू विंति आहारं ॥३९॥

सत्तरससमहिया किर इगाणुपाणुमि हुंति खुड्डभवा।
सगतीससयत्तिहुत्तर पाणू पुण इगमुहुत्तंमि ॥४०॥

पणसट्ठिसहस्सपणसय छत्तीसा इगमुहुत्तखुड्डभवा।
आवलियाणं दोसय छप्पन्ना एगखुड्डभवे ॥४१॥

अविरयसम्मो तित्थं आहारदुगामराउ य पमत्तो।
मिच्छद्दिट्ठी बंधइ जिट्ठठिई सेसपयडीणं ॥४२॥

विगलसुहुमाउगतिगं तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुगं।
एगिंदिथावरायव आईसाणा सुरुक्कोसं ॥४३॥

तिरिउरलदुगुज्जोयं छिवट्ठ सुरनिरय सेस चउगइया।
आहारजिणमपुव्वोऽनियट्ठि संजलण पुरिस लहुं ॥४४॥

सायजसुच्चावरणा विग्घं सुहुमो विउव्विछ असन्नी।
सन्नीवि आउ बायरपज्जेगिंदिउ सेसाणं ॥४५॥

उक्कोसजहन्नेयरभंगा साइ अणाइ धुव अधुवा।
चउहा सग अजहन्नो सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥४६॥

चउभेओ अजहन्नो संजलणावरणनवगविग्घाणं।
सेसतिगि साइअधुवो तह चउहा सेसपयडीएं ॥४७॥

साणाइअपुव्वंते अयरंतो कोडिकोडिओ न हिगो।
बंधो न हु हीणो न य मिच्छे भव्वियरसन्निमि ॥४८॥

जइलहुबंधो बायर पज्ज असंखगुण सुहुमपज्जहिगो।
एसिं अपज्जाण लहू सुहुमेअरअपजपज्ज गुरू ॥४९॥

लहु बिय पज्जअपज्जे अपजेयर बिय गुरू हिगो एवं।
चउ असन्निसु नवरं संखगुणो बियअमणपज्जे ॥५०॥

तो जइजिट्ठो बंधो संखगुणो देसविरय हस्सियरो।
सम्मचउ सन्निचउरो ठिइबंधाणुकम संखगुणा ॥५१॥

सव्वाण वि जिट्ठठिई असुभा जं साइसंकिलेसेणं।
इयरा विसोहिओ पुण मुत्तु नरअमरतिरियाउं ॥५२॥

सुहुमनिगोयाइखणप्पजोग वायरयविगलअमणमणा।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु पजहस्सियरो असंखगुणो ॥५३॥

अपजत्त तसुक्कोसो पज्जजहन्नियरु एव ठिइठाणा।
अपजेयर संखगुणा परमपजबिए असंखगुणा ॥५४॥

पइखणमसंखगुणविरिय अपज पइठिइमसंखलोगसमा।
अज्झवसाया अहिया सत्तसु आउसु असंखगुणा ॥५५॥

तिरिनरयतिजोयाणं नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं।
थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥५६॥

अपढमसंघयणागिइखगई अणमिच्छदुभगथीणतिगं।
निय नपु इत्थि दुतीसं पणिंदिसु अबन्धठिइ परमा ॥५७॥

विजयाइसु गेविज्जे तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठं।
पणसीइ सययबंधो पल्लतिगं सुरविउव्विदुगे ॥५८॥

समयादसंखकालं तिरिदुगनीएसु आउ अंतमुहू।
उरलि असंखपरट्टा सायठिई पुव्वकोडूणा ॥५९॥

जलहिसयं पणसीयं परघुस्सासे पणिंदितसचउगे।
बत्तीसं सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरंसे ॥६०॥

असुखगइजाइआगिइ संघयणाहारनरयजोयदुगं।
थिरसुभजसथावरदसनपुइत्थीदुजुयलमसायं ॥६१॥

समयादंतमुहुत्तं मणुदुगजिणवइरउरलवंगेसु।
तित्तीसयरा परमा अंतमुहु लहू वि आउजिणे ॥६२॥

तिव्वो असुहसुहाणं संकेसविसोहिओ विवज्जयउ।
मंदरसो गिरिमहिरयजलरेहासरिसकसाएहिं ॥६३॥

चउठाणाई असुहा सुहन्नहा विग्घदेसघाइआवरणा।
पुमसंजलणिगदुतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥६४॥

निबुच्छरसो सहजो दुतिचउभाग कड्ढिइक्कभागंतो।
इगठाणाई असुहो असुहाण सुहो सुहाणं तु ॥६५॥

तिव्वमिगथावरायव सुरमिच्छा विगलसुहुमनिरयतिगं।
तिरिमणुयाउ तिरिनरा तिरिदुगछेवट्ठ सुरनिरया ॥६६॥

विउव्विसुराहारदुगं सुखगइ वन्नचउतेयजिणसायं।
समचउपरघातसदस पणिंदिसासुच्च खवगाउ ॥६७॥

तमतमगा उज्जोयं सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइरं।
अपमत्तो अमराउं चउगइमिच्छा उ सेसाणं ॥६८॥

थीणतिगं अणमिच्छं मंदरसं संजमुम्मुहो मिच्छो।
बियतियकसाय अविरय देस पमत्तो अरइसोए ॥६९॥

अपमाइ हारगदुगं दुनिद्दअसुवन्नहासरइकुच्छा।
भयमुवघायमपुव्वो अनियट्टी पुरिससंजलणे ॥७०॥

विग्घावरणे सुहुमो मणुतिरिया सुहुमविगलतिगआऊ।
वेगुव्विछक्कममरा निरया उज्जोयउरलदुगं ॥७१॥

तिरिदुगनिअं तमतमा जिणमविरय निरयविणिगथावरयं।
आसुहुमायव सम्मो व सायथिरसुभजसा सिअरा ॥७२॥

तसवन्नतेयचउमणुखगइदुग पणिंदिसासपरघुच्चं।
संघयणागिइनपुत्थीसुभगियरति मिच्छा चउगइगा ॥७३॥

चउतेयवन्नवेयणिय नामणुक्कोस सेसधुववंधी।
घाईणं अजहन्नो गोए दुविहो इमो चउहा ॥७४॥

सेसंमि दुहा इगदुगणुगाइ जा अभवणंतगुणियाणू।
खंधा उरलोचियवग्गणा उ तह अगहणंतरिया ॥७५॥

एमेव विउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मे।
सुहुमा कमावगाहो ऊणूणंगुलअसंखंसो ॥७६॥

इक्किक्कहिया सिद्धाणंतंसा अंतरेसु अग्गहणा ।
सव्वत्थ जहन्नुचिया नियणंतंसाहिया जिट्ठा ।।७७।।

अंतिमचउफासदुगंधपंचवन्नरसकम्मखंधदलं ।
सव्वजियणंतगुणरसमणुजुत्तमणंतयपएसं ।।७८।।

एगपएसोगाढं नियसव्वपएसउ गहेइ जिऊ ।
थेवो आउ तदंसो नामे गोए समो अहिउ ।।७९।।

विग्घावरणे मोहे सव्वोवरि वेयणीय जेणप्पे ।
तस्स फुडत्तं न हवइ ठिईविसेसेण सेसाणं ।।८०।।

नियजाइलद्धदलियाणंतंसो होइ सव्वघाईणं ।
वज्झंतीण विभज्जइ सेसं सेसाण पइसमयं ।।८१।।

सम्मदरसव्वविरई अणविसंजोयदंसखवगे य ।
मोहसमसंतखवगे खीणसजोगियर गुणसेढी ।।८२।।

गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसंखगुणणाए ।
एयगुणा पुण कमसो असंखगुणनिज्जरा जीवा ।।८३।।

पलियासंखंसमुहू सासणइयरगुण अंतरं हस्सं ।
गुरु मिच्छी बे छसट्ठी । इयरगुणे पुग्गलद्धंतो ।।८४।।

उद्धारअद्धखित्तं पलिय तिहा समयवाससयसमए ।
केसवहारो दीवोदहिआउतसाइपरिमाणं ।।८५।।

दव्वे खित्ते काले भावे चउह दुह बायरो सुहुमो ।
होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरट्टो ।।८६।।

उरलाइसत्तगेणं एगजिउ मुयइ फुसिय सव्वअणू ।
जत्तियकालि स थूलो दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ।।८७।।

लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबंधठाणा य ।
जह तह कममरणेणं पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ।।८८।।

अप्पयरपयडिबंधी उक्कडजोगी य सन्निपज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नयं तस्स वच्चासे ।।८९।।

मिच्छ अजयचउ आऊ बितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाई ।
छण्हं सतरस सुहुमो अजया देसा बितिकसाए ॥९०॥
पण अनियट्टी सुखगइ नराउसुरसुभगतिगविउव्विदुगं ।
समचउरंसमसाय वइरं मिच्छो व सम्मो वा ॥९१॥
निद्दापयलादुजुयलभयकुच्छातित्थ सम्मगो सुजई ।
आहारदुगं सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥९२॥
सुमुणी दुन्नि असन्नी निरयतिगसुराउसुरविउव्विदुगं ।
सम्मो जिणं जहन्नं सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥९३॥
दंसणछगभयकुच्छाबितितुरियकषाय विग्घनाणाणं ।
मूलछगेऽणुक्कोसो चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥९४॥
सेढिअसंखिज्जंसे जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया ।
ठिइबंधज्झवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥९५॥
तत्तो कम्मपएसा अणंतगुणिया तओ रसच्छेया ।
जोगा पयिडिपएसं ठिइअणुभागं कसायाउ ॥९६॥
चउदसरज्जू लोगो बुद्धिकओ सत्तरज्जुमाणघणो ।
तद्दीहेगपएसा सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥९७॥
अणदंसनपुसित्थीवेयछक्कं च पुरिसवेयं च ।
दो दो एगंतरिए सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥९८॥
अणमिच्छमीससम्मं तिआउ इगविगलथीणतिगुज्जोवं ।
तिरिनरयथावरदुगं साहारायवअडनपुत्थीए ॥९९॥
छगपुसंजलणादोनिद्दविग्घवरणक्खए नाणी ।
देविंदसूरिलिहियं सयगमिणं आयसरणट्ठा ॥१००॥

परिशिष्ट—२

कर्मो की बंध, उदय, सत्ता प्रकृतियों को संख्या में भिन्नता का कारण

ज्ञानावरण आदि मूल कर्मों की बधयोग्य १२०, उदययोग्य १२२ तथा सत्तायोग्य १५८ या १४८ प्रकृतियाँ है। अर्थात् बधयोग्य की अपेक्षा उदययोग्य २ और उदययोग्य की अपेक्षा सत्तायोग्य ३६ या २६ प्रकृतियाँ अधिक हैं। यहाँ इस भिन्नता के कारण को स्पष्ट करते हैं।

सामान्यतया कर्म प्रकृतियो के बध, उदय और सत्ता के सबन्ध मे यह नियम है कि जितनी कर्म प्रकृतियों का बध होता है, बध होने के पश्चात उतनी ही प्रकृतियो की सत्ता और उदय काल मे उतनी ही प्रकृतियो का उदय होता है। बिना बध के उदय और सत्ता मे सख्या अधिक होना भी नही चाहिए। लेकिन इस सामान्य नियम का अपवाद होने से उदय और सत्ता मे कर्म प्रकृतियो की सख्या अधिक मानी जाती है।

बध की अपेक्षा उदय प्रकृतियो मे दो की अधिकता का कारण यह है कि दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ हैं—सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय। इनमे से केवल मिथ्यात्व मोहनीय का बध होता है और शेष दो प्रकृतियाँ विना बंध के उदय मे आती है और सत्ता मे रहनी है। इसका कारण यह है कि जैसे कि राख और औपधि विशेप के द्वारा मादक कोदो (धान्य विशेप) को शुद्ध किया जाता है वैसे ही मादक कोदो जैसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म को औपधि समान सम्यक्त्व के द्वारा शुद्ध करके तीन भागो मे विभाजित कर दिया जाता है १ - शुद्ध, २ अर्धशुद्ध और ३ अशुद्ध। उनमे अत्यन्त शुद्ध किये हुए जो कि सम्यक्त्व स्वरूप को प्राप्त हुए है अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति मे विघातक नही होते है, ऐसे पुद्गल शुद्ध कहलाते हैं और उनका सम्यक्त्व मोहनीय यह नाम व्यवहार किया जाता है और जो अल्प शुद्धि को प्राप्त हुए हैं वे अर्धविशुद्ध और उनको मिश्र मोहनीय कहते हैं और

जो किंचिन्मात्र भी शुद्धि को प्राप्त नही हुए है परन्तु मिथ्यात्व मोहनीय रूप ही रहते हैं, वे अशुद्ध कहलाते है।

इस प्रकार सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय सम्यक्त्व गुण द्वारा सत्ता मे ही शुद्ध हुए मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के पुद्गल होने से उनका वध नही होता है किन्तु मिथ्यात्व मोहनीय का ही वध होता है, जिससे बध के विचार-प्रसग मे सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय के बिना मोहनीय कर्म की छब्बीस प्रकृतियाँ मानी जाती है।

इसी प्रकार पॉच बन्धन, पाँच सघातन का अपने-अपने शरीर के अन्तर्गत ग्रहण करने से और वर्णादिक के बीस भेदो का वर्णचतुष्क मे ग्रहण होने से उनकी सोलह प्रकृतियो के बिना नामकर्म की सरसठ प्रकृतियाँ बध मे ग्रहण की जाती है और शेष कर्मों की प्रकृतियो मे न्यूनाधिकता नही होने से सम्पूर्ण प्रकृतियो का योग करने पर बध मे एक सौ बीस उत्तर प्रकृतियाँ होती है। उदय के विचार के प्रसग मे सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय का भी उदय होने से उनकी वृद्धि करने पर एक सौ बाईस उत्तर प्रकृतियाँ मानी जाती है।

यद्यपि बध और उदय का जब विचार किया जाता है तब बधन और सघातन नामकर्म के पाँच-पॉच भेदो की उन-उन शरीरो के अन्तर्गत विवक्षा कर ली जाती है। किन्तु पाँचो बन्धनो और पाँचो संघातनो का बध है और उदय भी है अपने अपने नाम वाले शरीर नामकर्म के साथ, इसीलिये उनकी बंध और उदय मे अलग से विवक्षा नही की है किन्तु सत्ता मे अलग-अलग बताये है और बताना ही चाहिए। क्योकि यदि सत्ता मे उनको न बताया जाये तो मूल वस्तु का ही अभाव हो जायेगा। बन्धन और सघातन नामक कोई कर्म ही नही रहेगे।

पाँच बन्धन और पाँच सघातन नामकर्मो की शरीर नामकर्म के पाँच भेदो मे इस प्रकार विवक्षा की जाती है—औदारिकबंधन और औदारिक सघातन की औदारिक शरीर के अन्तर्गत, वैक्रियबन्धन और वैक्रिय सघातन की वैक्रिय शरीर के अन्तर्गत, आहारकबन्धन और आहारक सघातन की आहारक शरीर के अन्तर्गत, तैजसबन्धन और तैजस संघातन की तैजस शरीर के अन्तर्गत और कार्मणबन्धन व कार्मणा

सघातन की कार्मण शरीर के अन्तर्गत। वर्ण, गध, रस और स्पर्श नामकर्म के अनुक्रम से पाँच, दो, पाँच और आठ उत्तर भेद होते है। उनकी बध और उदय मे विवक्षा नही की है परन्तु सामान्य से वर्णादि चार ही माने है, क्योकि इन बीस का साथ ही बध और उदय होता है, एक भी प्रकृति पहले या बाद मे बध या उदय मे से कम नही होती है। इसीलिये बध और उदय मे वर्णादि चतुष्क को माना है।

इस प्रकार बध और उदय मे अविवक्षित पाँच बधन, पाँच सघातन और वर्णादि सोलह प्रकृतियो का सत्ता मे ग्रहण होने से कुल मिलाकर एकसौ अड-तालीस उत्तर प्रकृतियाँ सत्ता मे मानी जाती है और जब बधन नामकर्म के पाँच की बजाय पन्द्रह भेद करते है तो सत्ता मे एकसौ अट्ठावन प्रकृतियाँ समझना चाहिये।

सक्षेप और विस्तार की अपेक्षा बध, उदय और सत्ता मे प्रकृतियो की भिन्नता मानी जाती है।

मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियों में भूयस्कार आदि बंध

कर्मग्रन्थ में मोहनीयकर्म के दस बधस्थान तथा उनमे नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्य बध माने है। लेकिन गो० कर्म-काड मे बीस भुजाकार, ग्यारह अल्पतर, तेतीस अवस्थित और दो अवक्तव्य बध बतलाये हैं, जो निम्नलिखित गाथा मे स्पष्ट किये है—

दस वीसं एक्कारस तेत्तीसं मोहबंधठाणाणि।
भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि य सामण्णे ॥४६८

मोहनीय कर्म के दस बधस्थानो मे बीस भुजाकार (भूयस्कार), ग्यारह अल्पतर, तेतीस अवस्थित और 'य' से दो अवक्तव्यबध सामान्य से होते है।

कर्मग्रन्थ और कर्मकाड के इस विवेचन मे अंतर पड़ने का कारण यह है कि कर्मग्रन्थ मे भूयस्कार आदि बधो का विवेचन केवल गुणस्थानो से उतरने और चढने की अपेक्षा से किया गया है किन्तु कर्मकाड मे उक्त दृष्टि के साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि गुणस्थान आरोहण के समय जीव किस गुणस्थान से किस-किस गुणस्थान मे जा सकता है और अवरोहण के

समय किस गुणस्थान से किस-किस गुणस्थान मे आ सकता है तथा मरण की अपेक्षा से भी भूयस्कार आदि बध गिनाये है।

कर्मग्रन्थ मे एक से दो, दो से तीन, तीन से चार आदि का बध बतलाकर दस बधस्थानो में नौ भूयस्कार बध बतलाये हैं, लेकिन कर्मकाड मे उनके सिवाय ग्यारह भूयस्कार और भी बतलाये है। वे इस प्रकार है—मरण की अपेक्षा से जीव एक को बाधकर सत्रह का, तीन को बाधकर सत्रह का, चार को बांध कर सत्रह का और पाच को बाध कर सत्रह का बंध करता है। अत ये पाच भूयस्कार तो मरण की अपेक्षा से होते हैं तथा छठे प्रमत्तसयत गुणस्थान मे नौ प्रकृतियो का बन्ध करके कोई जीव पाचवें गुणस्थान मे आकर तेरह का बध करता है, कोई जीव चौथे गुणस्थान मे आकर सत्रह का बध करता है और कोई जीव दूसरे गुणस्थान मे आकर इक्कीस का बध करता है और कोई जीव पहले गुणस्थान मे आकर बाईस का बंध करता है। क्योकि छठे प्रमत्त-संयत गुणस्थान से च्युत होकर जीव नीचे के सभी गुणस्थानो मे जा सकता है। अत नौ के चार भूयस्कार बध होते है। इसी प्रकार पाचवें गुणस्थान मे तेरह का बंध करके सत्रह, इक्कीस और बाईस का बध कर सकता है, अत तेरह के तीन भूयस्कार बंध होते है। सत्रह को बाधकर इक्कीस और बाईस का बध कर सकता है, अतः सत्रह के दो भूयस्कार होते है। इस प्रकार नौ के चार, तेरह के तीन और सत्रह के दो भूयस्कार बध होते है।

लेकिन कर्मग्रन्थ मे प्रत्येक बधस्थान का एक-एक, इस प्रकार तीन ही भूयस्कार बतलाये है। अत शेष छह रह जाते है तथा मरण की अपेक्षा से पांच भूयस्कार पहले बतला चुके है। इस प्रकार गो० कर्मकाड मे ५+६=११ भूयस्कार अधिक बतलाये है।

कर्मग्रन्थ मे अल्पतर बध आठ बतलाये है किन्तु कर्मकाड मे उनकी सख्या ग्यारह बतलाई है। वे इस प्रकार है—कर्मग्रन्थ मे बाईस को बाधकर सत्र[illegible] का बंध रूप केवल एक ही अल्पतर बध बतलाया [illegible] स्थान सातवें गुणस्थान तक जीव दूसरे और छठे गुणस्थान [illegible] नो जा सकता है। अतः बाईस को बाधकर सत्रह, तेरह के कारण बाईस प्रकृतिक बधस्थान के तीन [illegible]

वध करके तेरह और नौ का वध कर सकने के कारण सत्रह के वधस्थान के दो अल्पतर वध होते है। इस प्रकार वाईस के तीन और सत्रह के दो अल्पतर वधो मे से कर्मग्रन्थ मे केवल एक-एक ही अल्पतर वध वतलाया है। अत. शेप तीन रहते हैं जो कर्मग्रन्थ से कर्मकाड मे अधिक है।

भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य वध के द्वितीय समय मे भी यदि उतनी ही प्रकृतियो का वध होता है जितनी प्रकृतियो का वध पहले समय मे हुआ था तो उसे अवस्थित वध कहते है। अत कर्मकाड मे भूयस्कार, अल्पतर और अव-वतव्य वधो की सख्या के वरावर ही अवस्थित वधो की सख्या वतलाई है। यदि दूसरे समय मे होने वाले वध के ऊपर से भूयस्कार, अल्पतर अथवा अवक्तव्य पदो को अलग करके उनकी वास्तविक स्थिति को देखें तो मूल अवस्थित वध उतने ही ठहर सकते है जितने वधस्थान होते है। जैसे किसी जीव ने इक्कीस का वध करके प्रथम समय मे वाईस का वन्ध किया और दूसरे समय मे भी वाईस का ही वध किया तो यहा प्रथम समय का वध भूयस्कार वन्ध है और दूसरे समय का अवस्थित। जिस प्रकार भूयस्कार आदि वधो का निरूपण है, यदि उसी प्रकार अवस्थित वध का निरूपण किया जाये तो वाईस का वध करके वाईस का वध करना, इक्कीस का वध करके इक्कीस का वध करना, सत्रह का वध करके सत्रह का वध करना, आदि अवस्थित वध ही है। इसका साराश यह है कि मूल अवस्थित वध उतने ही होते है जितने कि वधस्थान होते हैं, इसीलिये कर्मग्रन्थ मे दस ही अवस्थित वध मोहनीय कर्म के वतलाये है। किंतु भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य वध के द्वितीय समय मे प्राय: अवस्थित वन्ध होता है, अत इन उपपद पूर्वक होने वाले अवस्थित वध भी उतने ही होते है जितने कि तीनो वंधो के होते है। इसी से कर्मकाड मे उक्त तीनो प्रकार के वधो के वरावर ही अवस्थित वध का परिमाण वतलाया है। अवक्तव्य वंध कर्मग्रन्थ और गो० कर्मकाड मे समान है।

गो० कर्मकाड मे विशेपरूप से भी भूयस्कार आदि को गिनाया है, जिनकी सख्या निम्न प्रकार है—

> सत्तावीसहियसय पणदालं पंचहत्तरिहियसयं।
> भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि विसेसेण ॥४७१

समय किस गुणस्थान से किस-किस गुणस्थान मे आ सकता है तथा मरण की अपेक्षा से भी भूयस्कार आदि बध गिनाये हैं।

कर्मग्रन्थ मे एक से दो, दो से तीन, तीन से चार आदि का बध बतलाकर दस बधस्थानो मे नौ भूयस्कार बध बतलाये हैं, लेकिन कर्मकाड मे उनके सिवाय ग्यारह भूयस्कार और भी बतलाये है । वे इस प्रकार है—मरण की अपेक्षा से जीव एक को बाधकर सत्रह का, तीन को बाधकर सत्रह का, चार को बाध कर सत्रह का और पाच को बांध कर सत्रह का वँध करता है। अत ये पाच भूयस्कार तो मरण की अपेक्षा से होते हैं तथा छठे प्रमत्तसयत गुणस्थान म नौ प्रकृतियो का वन्ध करके कोई जीव पाचवें गुणस्थान मे आकर तेरह का बध करता है, कोई जीव चौथे गुणस्थान मे आकर सत्रह का बध करता है और कोई जीव दूसरे गुणस्थान मे आकर इक्कीस का बध करता है और कोई जीव पहले गुणस्थान मे आकर बाईस का बंध करता है। क्योकि छठे प्रमत्त-संयत गुणस्थान से च्युत होकर जीव नीचे के सभी गुणस्थानो मे जा सकता है। अत· नौ के चार भूयस्कार बध होते है । इसी प्रकार पाचवें गुणस्थान मे तेरह का बध करके सत्रह, इक्कीस और बाईस का बध कर सकता है, अत तेरह के तीन भूयस्कार बंध होते है । सत्रह को बाधकर इक्कीस और बाईस का बध कर सकता है, अतः सत्रह के दो भूयस्कार होते है। इस प्रकार नौ के चार, तेरह के तीन और सत्रह के दो भूयस्कार बध होते है।

लेकिन कर्मग्रन्थ मे प्रत्येक बधस्थान का एक-एक, इस प्रकार तीन ही भूयस्कार बतलाये है। अत· शेष छह रह जाते है तथा मरण की अपेक्षा से पाँच भूयस्कार पहले बतला चुके है । इस प्रकार गो० कर्मकाड मे ५+६=११ भूयस्कार अधिक बतलाये है।

कर्मग्रन्थ मे अल्पतर बध आठ बतलाये हैं किन्तु कर्मकाड मे उनकी सख्या ग्यारह बतलाई है। वे इस प्रकार है—कर्मग्रन्थ मे बाईस को बाधकर सत्रह का बंध रूप केवल एक ही अल्पतर बध बतलाया है लेकिन पहले गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक जीव दूसरे और छठे गुणस्थान के सिवाय सभी गुणस्थानो मे जा सकता है। अतः बाईस को बाधकर सत्रह, तेरह और नौ का बध कर सकने के कारण बाईस प्रकृतिक बधस्थान के तीन अल्पतर होते है तथा सत्रह का

वध करके तेरह और नौ का वध कर सकने के कारण सत्रह के वधस्थान के दो अल्पतर बध होते है। इस प्रकार बाईस के तीन और सत्रह के दो अल्पतर बंधो मे से कर्मग्रन्थ मे केवल एक-एक ही अल्पतर बध बतलाया है। अत. शेष तीन रहते हैं जो कर्मग्रन्थ से कर्मकाड मे अधिक है।

भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य बध के द्वितीय समय मे भी यदि उतनी ही प्रकृतियो का बध होता है जितनी प्रकृतियो का बध पहले समय मे हुआ था तो उसे अवस्थित बध कहते है। अत' कर्मकाड मे भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य वधो की सख्या के बराबर ही अवस्थित बधो की सख्या बतलाई है। यदि दूसरे समय मे होने वाले बध के ऊपर से भूयस्कार, अल्पतर अथवा अवक्तव्य पदो को अलग करके उनकी वास्तविक स्थिति को देखें तो मूल अवस्थित बध उतने ही ठहर सकते है जितने बधस्थान होते है। जैसे किसी जीव ने इक्कीस का वध करके प्रथम समय मे बाईस का बन्ध किया और दूसरे समय मे भी बाईस का ही बध किया तो यहा प्रथम समय का बध भूयस्कार बन्ध है और दूसरे समय का अवस्थित। जिस प्रकार भूयस्कार आदि बधो का निरूपण है, यदि उसी प्रकार अवस्थित बंध का निरूपण किया जाये तो बाईस का बध करके बाईस का वध करना, इक्कीस का वध करके इक्कीस का बंध करना, सत्रह का बध करके सत्रह का बध करना, आदि अवस्थित बध ही है। इसका साराश यह है कि मूल अवस्थित बंध उतने ही होते है जितने कि बधस्थान होते हैं, इसीलिये कर्मग्रन्थ मे दस ही अवस्थित बध मोहनीय कर्म के बतलाये है। किंतु भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य वध के द्वितीय समय मे प्राय. अवस्थित बन्ध होता है, अत इन उपपद पूर्वक होने वाले अवस्थित वध भी उतने ही होते है जितने कि तीनो वधो के होते है। इसी से कर्मकाड मे उक्त तीनो प्रकार के वधो के बराबर ही अवस्थित बध का परिमाण बतलाया है। अवक्तव्य बध कर्मग्रन्थ और गो० कर्मकाड मे समान है।

गो० कर्मकाड मे विशेषरूप से भी भूयस्कार आदि को गिनाया है, जिनकी सख्या निम्न प्रकार है—

> सत्तावीसहियसय पणदालं पचहत्तरिहियसयं।
> भुजगारप्पदराणि य अविट्ठदाणिवि विसेसेण ॥४७१

विशेषपने से अर्थात् भगो की अपेक्षा से एकसौ सत्ताईस भुजाकार होते है, पैंतालीस अल्पतर होते है और एकसौ पचहत्तर अवक्तव्य बध होते हैं।

एक ही बधस्थान मे प्रकृतियो के परिवर्तन से जो विकल्प होते हैं, उन्हे भग कहते है। जैसे बाईस प्रकृतिक बधस्थानो मे तीन वेदो मे से एक वेद का और हास्य-रति और शोक-अरति के युगलो मे से एक युगल का बध होता है। अत उसके ३ × २ = ६ भंग होते है। अर्थात् बाईस प्रकृतिक बधस्थान को कोई जीव हास्य, रति और पुरुषवेद के साथ बाधता है, कोई शोक, अरति और पुरुषवेद के साथ बाधता है। कोई हास्य, रति और स्त्रीवेद के साथ बाधता है, कोई शोक, अरति और स्त्रीवेद के साथ बाधता हैं। इसी तरह नपुंसक वेद के लिये भी समझना चाहिये। इस प्रकार बाईस प्रकृतिक वंध-स्थान भिन्न-भिन्न जीवो के छह प्रकार से होता है। इसी प्रकार इक्कीस प्रकृतिक वंधस्थान मे चार भग होते है, क्योकि उसमे एक जीव के एक समय मे दो वेदो मे से किसी एक वेद का और दो युगलो मे से किसी एक युगल का बध होता है। इसका साराश यह है कि अपने-अपने वंधस्थान मे सभवित वेदो को और युगलो को परस्पर मे गुणा करने पर अपने-अपने बधस्थान के भग होते है। उन भगस्थानो की सख्या इस प्रकार है—

छब्बावीसे चदु इगिवीसे दो द्दो हवंति छट्ठो ति।
एक्केक्कमदो भंगो बधट्ठाणेसु मोहस्स ॥४६७

मोहनीय कर्म के बधस्थानो मे से बाईस के छह, इक्कीस के चार, इसके आगे प्रमत्त गुणस्थान तक सभवित बधस्थानो के दो-दो और उसके आगे सभवित बधस्थानो के एक-एक भग होते है। इन भगो की अपेक्षा से एकसौ सत्ताईस भुजाकार निम्न प्रकार है—

णभ चउवीसं बारस वीसं चउरट्ठवीस दो द्दो य।
थूले पणगादीणं तियतिय मिच्छादिभुजगारा ॥४७२

पहले गुणस्थान मे एक भी भुजाकार बंध नही होता है क्योकि बाईस प्रकृतिक बधस्थान से अधिक प्रकृतियो वाला कोई बधस्थान ही नही है, जिसके बाधने से यहाँ भुजाकार बध सभव हो। दूसरे गुणस्थान मे चौबीस भुजाकार होते हैं, क्योकि इक्कीस को बांधकर बाईस का बध करने पर इक्कीस के चार

भगो को और बाईस के छह भगो को परस्पर गुणा करने पर ४ × ६ = २४ भुजाकार होते हैं। तीसरे गुणस्थान मे बारह भुजाकार होते है। क्योकि सत्रह को बाधकर बाईस का बध करने पर २ × ६ = १२ भग होते है। चौथे मे वीस भुजाकार होते हैं, क्योकि सत्रह का बध करके इक्कीस का बन्ध होने पर २ × ४ = ८ और बाईस का बन्ध होने पर २ × ६ = १२, इस प्रकार १२ + ८ = २० भग होते है। पाचवें गुणस्थान मे चौबीस भुजाकार होते हैं, क्योकि तेरह का बन्ध करके सत्रह का बन्ध होने पर २ × २ = ४, इक्कीस का बध होने पर २ × ४ = ८ और बाईस का बध होने पर २ × ६ = १२ इस प्रकार ४ + ८ + १२ = २४ भग होते है। छठे मे अट्ठाईस भुजाकार होते हैं, क्योकि नौ का बन्ध करके तेरह का बन्ध करने पर २ × २ = ४, सत्रह का बध करने पर २ × २ = ४, इक्कीस का बध करने पर २ × ४ = ८ और बाईस का बन्ध करने पर २ × ६ = १२, इस प्रकार ४ + ४ + ८ + १२ = २८ भग होते है। सातवे मे दो भुजाकार होते है, क्योकि सातवें मे एक भग सहित नौ का बध करके मरण होने पर दो भग सहित सत्रह का बध होता है। आठवें गुणस्थान मे भी सातवें के समान ही दो भुजाकार होते है। नौवें गुणस्थान मे पाच, चार आदि पाच बधस्थानो मे से प्रत्येक के तीन-तीन भुजाकर होते है, जो एक-एक गिरने की अपेक्षा से और दो-दो मरने की अपेक्षा से। इस प्रकार एकसौ सत्ताईस भुजाकार बध होते है।

पैतालीस अल्पतर बध इस प्रकार है—

अप्पदरा पुण तीसं णभ णभ छद्दोण्णि दोण्णि णभ एक्कं।
थूले पणगादीणं एक्केक्कं अंतिमे सुण्णं ॥ ४७३

पहले गुणस्थान में तीस अल्पतर बध होते हैं, उसके आगे दूसरे गुणस्थान से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक क्रम से शून्य, शून्य, ६, २, २, शून्य, १ प्रकृति रूप अल्पतर बध है। नौवें गुणस्थान में पाच आदि प्रकृति रूप का एक, एक ही अल्पतर बंध होता है किन्तु अत के पाचवें भाग मे शून्य अर्थात् अल्पतर बध नही होता है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे तीस अल्पतर बंध होते है, क्योकि बाईस को बाधकर सत्रह का बंध करने पर ६ × २ = १२, तेरह का बध करने पर ६ × २

=१२ और नौ का बंध करने पर ६ × १=६, इस प्रकार १२+१२+६=३० भग होते है। दूसरे गुणस्थान मे एक भी अल्पतर बंध नही होता है, क्योकि दूसरे के बाद पहला ही गुणस्थान होता है और उस अवस्था मे इक्कीस का वध करके बाईस का वध करता है जो कि भुजाकार वध है। तीसरे गुणस्थान मे भी कोई अल्पतर नही होता है, क्योकि तीसरे से पहले गुणस्थान मे आने पर भुजाकार बध होता है और चौथे मे जाने पर अवस्थित वध होता है। क्योकि तीसरे मे भी सत्रह का बधस्थान है और चौथे मे भी सत्रह का बंध होता है। चौथे मे छह अल्पतर होते है, क्योकि सत्रह का बध करके तेरह का बध करने पर २ × २=४ और नौ का बंध करने पर २ × १=२, इस प्रकार ४+२=६ अल्पतर बध होते है। पाचवें गुणस्थान मे तेरह का बध करके सातवे मे जाने पर नौ का वध करता है अतः वहाँ २ × १=२ अल्पतर बध होते हैं। छठे गुणस्थान मे भी दो अल्पतर होते है, क्योकि छठे से नीचे के गुणस्थानो मे आने पर तो भुजाकार वध ही होता है किन्तु ऊपर सातवें मे जाने पर दो अल्पतर बध होते है। यद्यपि छठे और सातवे गुणस्थान मे नौ-नौ प्रकृतियो का ही बध होता है किन्तु छठे के नौ प्रकृतियो वाले बधस्थान मे दो भंग होते है, क्यो यहाँ दोनो युगल का बध सभव है और सातवें के नौ प्रकृतिक वधस्थान का एक ही भग होता है, क्योकि वहाँ एक ही युगल का वध होता है। जिससे प्रकृतियो की सख्या बराबर होने पर भी भगो की न्यूनाधिकता के कारण २×१=२ अल्पतर वध माने गये है। सातवे गुणस्थान मे एक भी अल्पतर वध नही होता है, क्योकि जब जीव सातवें से आठवें गुणस्थान मे जाता है तो वहाँ भी नौ प्रकृतियो का ही वध करता है, कम का नही करता है। आठवें मे नौ का वध करके नौवे गुणस्थान मे पांच का वध करने पर १ × १=१ ही अल्पतर वध होता है। नौवें गुणस्थान मे पाच का वध करके चार का वंध करने पर एक, चार का बध करके तीन का वध करने पर एक, तीन का वध करके दो का वध करने पर एक और दो का वध करके एक का वंध करने पर एक, इस प्रकार चार अल्पतर वध होते है। इस प्रकार पैंतालीस अल्पतर वध समझना चाहिए। अवक्तव्य वंध इस प्रकार हैं—

भेदेण अवत्तव्वा ओदरमाणम्मि एक्कयं मरणे।
दो चेव होंति एत्थवि तिण्णेव अवट्ठिबा भंगा ॥ ४७४

भग की विवक्षा के विशेप से अवक्तव्य वध सूक्ष्मसपराय गुणस्थान से उतरने म एक होता है। अर्थात् दसवें गुणस्थान से उतर कर जब नौवें गुणस्थान मे एक प्रकृति का वध करता है तव एक अवक्तव्य होता है और दसवें मे मरण करके देवगति मे जन्म लेकर जव सत्रह का वध करता है तव दो अवक्तव्य बंध होते हैं। इस प्रकार तीन अवक्तव्य वध जानना चाहिए। अर्थात् दसवें मे उतर के जव नौवें मे आता है तव सज्वलन लोभ का वध करता है, अत एक अवक्तव्य वध हुआ तथा उसी दसवें मे मरण कर देव असयत हुआ तव दो अवक्तव्य वध होते हैं, क्योकि देव होकर १७ प्रकृतियो को दो प्रकार से वाधता है। इस तरह तीन अवक्तव्य वध हुए।

१२७ भुजाकार, ४५ अल्पतर और ३ अवक्तव्य वध मिलकर १७५ होते है और इतने ही अवस्थित वध है। इस प्रकार मोहनीय कर्म के सामान्य-विशेष रूप से भुजाकार आदि वध समझना चाहिए।

कर्मप्रकृतियों का जघन्य स्थितिबध

कर्मग्रन्थ मे नामोल्लेखपूर्वक वताई गई कर्म प्रकृतियो के जघन्य स्थिति-वध के वारे मे कर्मप्रकृति, गो० कर्मकाड और कर्मग्रन्थ के मतव्य मे समानता है। शेप पचासी प्रकृतियों के सम्बन्ध मे कुछ विचारणीय यहाँ प्रस्तुत करते है।

गो० कर्मकाड मे उनके वारे मे लिखा है कि—

सेसाणं पज्जत्तो वादरएइंदियो विसुद्धो य।
वंधदि सव्वजहण्णं सगसगउक्कस्सपडिभागे ॥१४३

शेप प्रकृतियो की जघन्य स्थितियों को वादर पर्याप्त विशुद्ध परिणाम वाला एकेन्द्रिय जीव अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति के प्रतिभाग मे वाधता है।

इस गाथा मे जिस प्रतिभाग का उल्लेख किया है, उसको गाथा १४५ मे स्पष्ट किया है। एकेन्द्रियादिक जीवो की अपेक्षा से उक्त प्रकृतियो की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति वतलाने के लिए अपनी अपनी पूर्वोक्त उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने से प्राप्त लब्ध एकेन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति है और उसमे पल्य का असख्यातवा भाग न्यून करने से जघन्य स्थिति होती है। अतः जघन्य स्थितिवध को एकेन्द्रिय जीव के करने से शेप प्रकृतियों का जघन्य स्थितिवध कर्मकाड मे अलग से नहीं वतलाया है।

कर्मप्रकृति मे शेष प्रकृतियो की जघन्य स्थिति बतलाने के लिए वर्ग बना कर मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने का पहले सकेत किया गया है और एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा से प्रकृतियो की स्थिति का परिमाण बतलाते हुए आगे लिखा है—

एसेगिंदियडहरे सव्वासि ऊणसंजुओ जेट्ठो ।

अर्थात् अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर लब्ध मे से पल्य के असख्यातवें भाग को कम करने से जो अपनी-अपनी जघन्य स्थिति आती है, वही एकेन्द्रिय योग्य जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना चाहिए । कम किये गये पल्य के असख्यातवें भाग को उस जघन्य स्थिति मे जोड़ने पर उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण होता है ।

कर्मग्रन्थ मे पचासी प्रकृतियो की जघन्य स्थिति का विवेचन पचसग्रह और कर्मप्रकृति दोनो के अभिप्रायानुसार किया है । इन दोनो विवेचनो मे यह अतर है कि पचसग्रह मे तो अपनी-अपनी प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर जघन्य स्थिति बतलाई है और कर्मप्रकृति मे अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर और उसके लब्ध मे से पल्य का असख्यातवा भाग कम करके जघन्य स्थिति बतलाई है ।

गो० कर्मकाड प्रकृतियो की स्थिति मे भाग देने तक तो पचसग्रह के मत से सहमत है लेकिन आगे वह कर्मप्रकृति के मत से सहमत हो जाता है । पचसग्रह का मत है कि प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति मे भाग देने पर जो लब्ध आता है, वह तो एकेन्द्रिय की अपेक्षा से जघन्य स्थिति होती है और उसमे पल्य का असंख्यातवा भाग जोडने से उसकी उत्कृष्ट स्थिति हो जाती है । लेकिन गो० कर्मकाड और कर्मप्रकृति के मतानुसार मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर जो लब्ध आता है वही उत्कृष्ट स्थिति होती है और उसमे पल्य का असख्यातवा भाग कम देने पर जघन्य स्थिति होती ह । पच-सग्रह मे तो अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति मे भाग नही दिया जाता है किन्तु अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति मे भाग देने पर प्राप्त लब्ध जघन्य स्थिति का परिमाण है ।

इस प्रकार से पचसग्रह और कर्मप्रकृति के मत मे अतर है ।

आयुकर्म के अवाधाकाल का स्पष्टीकरण

देव, नारक, तिर्यंच, मनुष्य आयु की उत्कृष्ट स्थिति बतलाते समय अवाधाकाल पूर्व कोटि का तीसरा भाग बतलाया है। इसका कारण यह है कि पूर्व कोटि वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच यथायोग्य रीति से अपनी आयु के दो भाग बीतने के पश्चात् तीसरे भाग के प्रारम्भ मे देव, नारक की तेतीस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट आयु बाध सकते है इसलिए उत्कृष्ट स्थिति के साथ अवाधा रूप काल पूर्व कोटि का तीसरा भाग लेने का सकेत किया है। जैसे अन्य सभी कर्मो के साथ अवाधाकाल जोडकर स्थिति कही है वैसे आयु-कर्म की स्थिति अवाधाकाल जोडकर नही बताई है । क्योकि उसका अवाधा-काल निश्चित नही है। असख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यच एव देव तथा नारक अपनी आयु के छह माह शेष रहने पर परभव की आयु बाधते है और शेष सख्यात वर्ष की निरुपक्रमी आयु वाले अपनी आयु के दो भाग बीतने के पश्चात तीसरे भाग की शुरुआत मे परभव की आयु का वध करते है और सोपक्रमी आयु वाले कुल आयु के दो भाग जाने के पश्चात तीसरे भाग के प्रारम्भ मे बांधते है । यदि उस समय आयु का वध न करें तो जितनी आयु शेष हो उसके तीसरे भाग की शुरूआत मे बाधते है। इसका आशय यह है कि सपूर्ण आयु के तीसरे भाग, नौवें भाग, सत्ताईसवे भाग, इस प्रकार जब तक अतिम अन्तर्मुहूर्त आयु शेष हो तब परभव की आयु का वध करते है। परभव की आयु का वध करने के बाद जितनी आयु शेष हो, वह अवाधाकाल है तथा अवाधा जघन्य हो और आयु का वध भी जघन्य हो जैसे अन्तर्मुहूर्त की आयु वाला अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु बाधे। अवाधा जघन्य हो और आयु का वध उत्कृष्ट हो जैसे अन्तर्मुहूर्त की आयु वाला तेतीस सागर प्रमाण तदुलमत्स्य की तरह नारक का आयु बाधे। उत्कृष्ट अवाधा हो और आयु का जघन्य वध हो जैसे पूर्व कोटि वर्ष की आयु वाला अपनी आयु के तीसरे भाग के प्रारम्भ मे अन्तर्मुहूर्त आयु का वध करे तथा उत्कृष्ट अवाधा हो और आयु का वध भी उत्कृष्ट हो जैसे पूर्व कोटि वर्ष वाला तीसरे भाग की शुरुआत मे तेतीस सागरोपम प्रमाण देव,

नारक की आयु का बध करे। इस प्रकार अबाधा के विषय मे आयुकर्म की
यह चोभगी है। इस तरह अबाधा अनिश्चित होने से आयु के साथ उसे
नही है तथा अन्य कर्म अपने स्वजातीय कर्मों के स्थानों को अपने
द्वारा पुष्ट करते है और यदि उनका उदय हो तो उसी जाति के
कर्मों की सभी आवलिका जाने के बाद उदीरणा द्वारा उसका ७८
लेकिन आयुकर्म के बारे मे यह नियम नही है। बधने वाली
वाली आयु के एक भी स्थान को पुष्ट नही करती है
को भोगते हुए यदि स्वजातीय मनुष्य आयु का बंध करे
अन्य मनुष्य जन्म मे जाकर ही भोगी जाती है। यहाँ
उदय या उदीरणा नही होने से भी आयु के सा
जोडा है।

योगस्थानों का विवेचन

कर्मग्रन्थ की तरह गो० कर्मकाड गा. २१८ से
का विवेचन स्वरूप, सख्या तथा स्वामी की अपेक्षा
उपयोगी अश यहा प्रस्तुत करते हैं।

गो० कर्मकाड मे योगस्थान के तीन भेद
के भी १४ जीवसमासो की अपेक्षा चौदह-चौदह भे
सामान्य, जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन-ती
सामान्य की अपेक्षा १४ भेद, सामान्य और जघ
सामान्य-जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा ४२ भे
८४ भेद है। जिनके नाम आदि इस प्रकार है

जोगट्ठाणा तिविहा उववादे
भेदा एक्केक्कंपि चोद्दसभेदा

उपपाद योगस्थान, एकातवृद्धि योगस्थान और
प्रकार योगस्थान तीन प्रकार के है और ये तीनो
अपेक्षा चौदह-चौदह भेद वाले है तथा उनके भी तीन-ती

विग्रहगति मे जो योग होता है उसे उपपाद योगस्थ
पर्याप्ति पूर्ण होने तक जो योगस्थान होता है उसे एका

पर्याप्ति के पूर्ण होने के समय से लेकर आयु के अन्त तक होने वाले योग को परिणाम योगस्थान कहते है। परिणाम योगस्थान उत्कृष्ट भी होते है और जघन्य भी। लब्ध्यपर्याप्तक के भी अपनी स्थिति के सब भेदो मे दोनो परिणाम योगस्थान सम्भव है। सो ये सब परिणाम योगस्थान घोटमान योग समझना। क्योकि ये घटते भी है, बढते भी है और जैसे के तैसे भी रहते है।

उपपाद योगस्थान और एकान्तानुवृद्धि योगस्थानो के प्रवर्तन का काल जघन्य और उत्कृष्ट एक समय ही है। क्योकि उपपादस्थान जन्म के प्रथम समय मे ही होता है और एकातानुवृद्धि स्थान भी समय-समय प्रतिवृद्धि रूप जुदा-जुदा ही होता है और इन दोनो से भिन्न जो परिणाम योगस्थान है, उनके निरन्तर प्रवर्तने का काल दो समय से लेकर आठ समय तक है। आठ समय निरन्तर प्रवर्तने वाले योगस्थान सबसे थोडे है और सात को आदि लेकर चार समय तक प्रवर्तने वाले ऊपर-नीचे के दोनो जगह स्थान असंख्यात गुणे है किन्तु तीन समय और दो समय तक प्रवर्तने वाले योगस्थान एक जगह—ऊपर की ओर ही रहते है और उनका प्रमाण क्रम से असख्यात-असख्यात गुणा है।

सब योगस्थान जगत् श्रेणि के असख्यातवें भाग प्रमाण है। इनमे एक-एक स्थान के १. अविभाग प्रतिच्छेद, २ वर्ग, ३. वर्गणा, ४ स्पर्द्धक, ५. गुणहानि, ये पाच भेद होते है।

जिसका दूसरा भाग न हो, ऐसे शक्ति के अश को अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। अविभाग प्रतिच्छेद का समूह वर्ग, वर्ग का समूह वर्गणा, वर्गणा का समूह स्पर्द्धक और स्पर्द्धक का समूह गुणहानि कहलाता है और गुणहानि के समूह को स्थान कहते है।

एक योगस्थान मे गुणहानि की सख्याएँ पल्य के असख्यातवें भाग प्रमाण है और एक गुणहानि मे स्पर्द्धक जगत्श्रेणि के असख्यातवें भाग प्रमाण है। एक-एक स्पर्द्धक मे वर्गणाओं की सख्या जगत्श्रेणि के असख्यातवें भाग प्रमाण है और एक-एक वर्गणा मे असख्यात जगत्प्रतर प्रमाण वर्ग है और एक-एक वर्ग मे असख्यात लोकप्रमाण अविभाग प्रतिच्छेद होते है।

नारक की आयु का बध करे। इस प्रकार अवाधा के विषय मे आयुकर्म की यह चौभगी है। इस तरह अवाधा अनिश्चित होने से आयु के साथ उसे जोडा नही है तथा अन्य कर्म अपने स्वजातीय कर्मों के स्थानो को अपने बध के द्वारा पुष्ट करते है और यदि उनका उदय हो तो उसी जाति के बधे हुए नये कर्मों की सभी आवलिका जाने के बाद उदीरणा द्वारा उसका उदय भी होता है, लेकिन आयुकर्म के बारे मे यह नियम नही है। बधने वाली आयु भोगी जाने वाली आयु के एक भी स्थान को पुष्ट नही करती है तथा मनुष्य आयु को भोगते हुए यदि स्वजातीय मनुष्य आयु का बध करे तो वह वधी हुई आयु अन्य मनुष्य जन्म मे जाकर ही भोगी जाती है। यहाँ उसके किसी दलिक का उदय या उदीरणा नही होने से भी आयु के साथ अवाधा काल नही जोडा है।

योगस्थानों का विवेचन

कर्मग्रन्थ की तरह गो० कर्मकाड गा २१८ से २४२ तक योगस्थानो का विवेचन स्वरूप, सख्या तथा स्वामी की अपेक्षा से किया गया है। उसका उपयोगी अश यहा प्रस्तुत करते हैं।

गो० कर्मकाड मे योगस्थान के तीन भेद किये है और इन तीन भेदो के भी १४ जीवसमासो की अपेक्षा चौदह-चौदह भेद है तथा ये १४ भेद भी सामान्य, जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन-तीन प्रकार के है। उनमे से सामान्य की अपेक्षा १४ भेद, सामान्य और जघन्य की अपेक्षा २८ भेद तथा सामान्य-जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा ४२ भेद होते है। कुल मिलाकर ये ८४ भेद है। जिनके नाम आदि इस प्रकार है—

जोगट्ठाणा तिविहा उववादेयतवड्ढिपरिणामा।
भेदा एक्केक्कंपि चोद्दसभेदा पुणो तिविहा ॥२१८

उपपाद योगस्थान, एकातवृद्धि योगस्थान और परिणाम योगस्थान, इस प्रकार योगस्थान तीन प्रकार के है और ये तीनो भेद भी जीवसमास की अपेक्षा चौदह-चौदह भेद वाले है तथा उनके भी तीन-तीन भेद होते हैं।

विग्रहगति मे जो योग होता है उसे उपपाद योगस्थान कहते है। शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक जो योगस्थान होता है उसे एकांतानुवृद्धि और शरीर

पर्याप्ति के पूर्ण होने के समय से लेकर आयु के अन्त तक होने वाले योग को परिणाम योगस्थान कहते है। परिणाम योगस्थान उत्कृष्ट भी होते है और जघन्य भी। लब्ध्यपर्याप्तक के भी अपनी स्थिति के सब भेदो मे दोनो परिणाम योगस्थान सम्भव है। सो ये सब परिणाम योगस्थान घोटमान योग समझना। क्योकि ये घटते भी है, बढते भी है और जैसे के तैसे भी रहते है।

उपपाद योगस्थान और एकान्तानुवृद्धि योगस्थानो के प्रवर्तन का काल जघन्य और उत्कृष्ट एक समय ही है। क्योकि उपपादस्थान जन्म के प्रथम समय मे ही होता है और एकातानुवृद्धि स्थान भी समय-समय प्रतिवृद्धि रूप जुदा-जुदा ही होता है और इन दोनो से भिन्न जो परिणाम योगस्थान है, उनके निरन्तर प्रवर्तने का काल दो समय से लेकर आठ समय तक है। आठ समय निरन्तर प्रवर्तने वाले योगस्थान सबसे थोडे है और सात को आदि लेकर चार समय तक प्रवर्तने वाले ऊपर-नीचे के दोनो जगह स्थान असंख्यात गुणे है किन्तु तीन समय और दो समय तक प्रवर्तने वाले योगस्थान एक जगह—ऊपर की ओर ही रहते है और उनका प्रमाण क्रम से असख्यात-असख्यात गुणा है।

सब योगस्थान जगत् श्रेणि के असख्यातवें भाग प्रमाण है। इनमे एक-एक स्थान के १. अविभाग प्रतिच्छेद, २. वर्ग, ३. वर्गणा, ४. स्पर्द्धक, ५. गुण-हानि, ये पाच भेद होते है।

जिसका दूसरा भाग न हो, ऐसे शक्ति के अश को अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। अविभाग प्रतिच्छेद का समूह वर्ग, वर्ग का समूह वर्गणा, वर्गणा का समूह स्पर्द्धक और स्पर्द्धक का समूह गुणहानि कहलाता है और गुणहानि के समूह को स्थान कहते है।

एक योगस्थान मे गुणहानि की सख्याएं पल्य के असख्यातवें भाग प्रमाण हैं और एक गुणहानि मे स्पर्द्धक जगत्श्रेणि के असख्यातवें भाग प्रमाण हैं। एक-एक स्पर्द्धक मे वर्गणाओ की सख्या जगत्श्रेणि के असख्यातवे भाग प्रमाण है और एक-एक वर्गणा मे असंख्यात जगत्प्रतर प्रमाण वर्ग हैं और एक-एक वर्ग मे असख्यात लोकप्रमाण अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं।

एक योगस्थान मे सब स्पर्द्धको, सब वर्गणाओ की संख्या और असख्यात प्रदेशो मे गुणहानि का आयाम (काल) का प्रमाण सामान्य से जगत्श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र है। क्योकि असख्यात के बहुत भेद है। एक योगस्थान मे अविभाग प्रतिच्छेद असख्यात लोकप्रमाण होते हैं।

ऊपर जो योगस्थान कहे है, उनमे चौदह जीवसमासो के जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा तथा उपपादादिक तीन प्रकार के योगो की अपेक्षा चौरासी स्थानो मे अब अल्पबहुत्व बतलाते है—

सुहुमगलद्धिजहण्णं तिण्णिव्वत्तीजहण्णयं तत्तो।
लद्धिअपुण्णुक्कस्सं बादरलद्धिस्स अवरमदो॥ २३३

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव का जघन्य उपपादस्थान सबसे थोडा है, उससे सूक्ष्म निगोदिया निवृत्यपर्याप्तक जीव का जघन्य उपपादस्थान पल्य के असख्यातवें भाग गुणा है, उससे अधिक सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट उपपादयोगस्थान और उससे भी अधिक बादर लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य उपपादयोगस्थान जानना चाहिये।

णिव्वत्तिसुहुमजेट्ठं बादरणिव्वत्तियस्स अवरं तु।
बादरलद्धिस्स वरं बीइंदियलद्धिगजहण्णं॥ २३४

फिर उससे अधिक सूक्ष्म निर्वृत्यपर्याप्तक जीव का उत्कृष्ट उपपाद योगस्थान है। उससे अधिक बादर निर्वृत्यपर्याप्तक का जघन्य योगस्थान है, उससे बादर लब्ध्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट योगस्थान अधिक है, उससे अधिक द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य योगस्थान है।

बादरणिव्वत्तिवरं णिव्वत्तिबिइंदियस्स अवरमदो।
एवं वितिबितितिचतिच चउविमणो होदि चउविमणो॥ २३५

उसके बाद उससे भी अधिक बादर एकेन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट योगस्थान है, उससे अधिक द्वीन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का जघन्य योगस्थान और इसी तरह द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट तथा त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य उपपाद स्थान, द्वीन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट, त्रीन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का जघन्य, त्रीन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक का उत्कृष्ट,

चतुरिन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक का जघन्य, त्रीन्द्रिय निर्वृ त्य पर्याप्तक का उत्कृष्ट, चतुरिन्द्रिय निर्वृ त्यपर्याप्तक का जघन्य, चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट, असज्ञी पचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य, चतुरिन्द्रिय निर्वृ त्य-पर्याप्तक का उत्कृष्ट और असज्ञी पचेन्द्रिय निर्वृ त्यपर्याप्तक का जघन्य उपपाद योगस्थान क्रम-क्रम से अधिक-अधिक जानना ।

तह य असण्णीसण्णी असण्णिसण्णिस्स सण्णिउववाद ।
सुहुमेइंदियलद्धिगअवरं एयंतवड्ढिस्स ॥ २३६

इसी प्रकार उसमे अधिक असज्ञी लब्ध्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थान और सज्ञी लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य स्थान, उससे अधिक असज्ञी निर्वृ त्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट और सज्ञी निर्वृ त्यपर्याप्तक का जघन्य स्थान, उससे सज्ञी पचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट उपपादयोगस्थान पल्य के असख्यातवे भाग गुणा है और उससे अधिक गुणा सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य एकाता-नुवृद्धि योगस्थान जानना चाहिये ।

सण्णिस्सुववादवर णिव्वत्तिगवस्स सुहुमजीवस्स ।
एयतवड्ढिअवरं लद्धिदरे थूलथूले य ॥ २३७

उससे अधिक संज्ञी पचेन्द्रिय निर्वृ त्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट उपपाद योग-स्थान, उससे अधिक सूक्ष्म एकेन्द्रिय निर्वृ त्यपर्याप्तक का जघन्य एकातानुवृद्धि योगस्थान है, उससे अधिक वादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का और वादर (स्थूल) एकेन्द्रिय निर्वृ त्यपर्याप्तक का जघन्य एकान्तानुवृद्धि योगस्थान क्रम मे पल्य के असख्यातवें भाग कर गुणा है ।

तह सुहुमसुहुमजेट्ठं तो वादरवादरे वरं होदि ।
अंतरमवरं लद्धिगसुहुमिदरवरंपि परिणामे ॥ २३८

इसी प्रकार उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक और सूक्ष्म एकेन्द्रिय निर्वृ त्यपर्याप्तक इन दोनो के उत्कृष्ट योगस्थान क्रम से अधिक हैं । उनमे अधिक वादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक} और वादर एकेन्द्रिय निर्वृ त्यपर्याप्तक इन दोनो के उत्कृष्ट एकातानुवृद्धि योगस्थान हैं, उनके वाद अतर है । अर्थात् वादर एकेन्द्रिय निर्वृ त्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट एकातानुवृद्धि योगस्थान और सूक्ष्म

एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य परिणाम योगस्थान, इन दोनो के बीच मे जगत्श्रेणी के असख्यातवें भाग प्रमाण स्थानो का पहला अतर है। इस अतर के स्थानो का कोई स्वामी नही है। क्योकि ये स्थान किसी जीव के नही होते हैं, इसी कारण यह अतर पड जाता है। इन स्थानो को छोडकर सूक्ष्म एकेन्द्रिय और बादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक इन दोनो के जघन्य और उत्कृष्ट परिणाम-योगस्थान क्रम से पल्य के असख्यातवें भाग कर गुणे जानना चाहिये।

अंतरमुवरीवि पुणो तप्पुण्णाण च उवरि अंतरिय।
एयतवड्ढिठाणा तसपणलद्धिस्स अवरवरा॥ २३९

इसके ऊपर दूसरा अंतर है। अर्थात् बादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के उत्कृष्ट परिणाम योगस्थान के आगे जगत्श्रेणी के असख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान स्वामीरहित है। इनको छोड़कर सूक्ष्म एकेन्द्रिय और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तको के जघन्य और उत्कृष्ट परिणाम योगस्थान क्रम से पल्य के असख्यातवें भाग से गुणे हैं। फिर इस बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट योगस्थान के आगे तीसरा अतर है। उसको छोडकर पाँच त्रसो के अर्थात् द्वीन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक आदि पाच के जघन्य और उत्कृष्ट एकान्तानुवृद्धि योगस्थान क्रम से पल्य के असख्यातवे भाग से गुणे है।

लद्धीणिव्वत्तीणं परिणामेयतवड्ढिठाणाओ।
परिणामट्ठाणाओ अन्तरअन्तरिय उवरुवरिं॥ २४०

इसके आगे चौथा अन्तर है। इसके बाद लब्धि-अपर्याप्तक और निर्वृत्ति अपर्याप्तक पाँच त्रसजीवो के परिणामयोगस्थान, एकान्तानुवृद्धि योगस्थान और परिणामयोगस्थान तथा इनके ऊपर बीच-बीच मे अन्तर सहित स्थान हैं। ये तीनो स्थान उत्कृष्ट और जघन्य पने को लिये हुए पहली रीति से क्रम पूर्वक पल्य के असख्यातवे भाग से गुणित जानना।

इस तरह ८४ स्थान योगो के है। इन स्थानो मे अविभाग प्रतिच्छेद एक के बाद दूसरे मे आगे-आगे पल्य के असख्यातवें भाग गुणे है।

कर्मग्रन्थ मे योग के उपपाद योगस्थान आदि तीन भेद नही किये हैं, इसीलिये जघन्य और उत्कृष्ट, इन दो भेदो को लेकर जीवस्थानो के २८ भेद

वतलाये है। दोनो ग्रन्थो के भेदक्रम मे भी अन्तर है। जिज्ञासु जनो को इस अन्तर के कारणो का अन्वेपण करना चाहिए।

ग्रहण किये गये कर्मस्कन्धों को कर्म प्रकृतियों में विभाजित करने की रीति

पचम कर्मग्रन्थ गाथा ७९, ८० मे सिर्फ ग्रहण किये गये कर्मस्कन्धो के विभाग का क्रम बतलाया है कि आयुकर्म को सबसे कम, उससे नाम और गोत्र कर्म को अधिक, उससे अंतराय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण को अधिक तथा मोह-नीय को अतराय आदि से भी अधिक भाग मिलता है तथा वेदनीय कर्म का भाग मोहनीय कर्म से भी अधिक है। इस प्रकार उससे इतना ही ज्ञात होता है कि अमुक कर्म को अधिक भाग मिलता है और अमुक कर्म को कम भाग। किंतु गो० कर्मकाड मे इस क्रम के साथ-ही-साथ विभाग करने की रीति बतलायी है। जो इस प्रकार है—

कर्मग्रन्थ की तरह गो० कर्मकाड मे भी ग्रहण किये हुए कर्मस्कधो का मूल कर्म प्रकृतियो मे बटवारे का क्रम बतलाया है कि वेदनीय के सिवाय बाकी मूल प्रकृतियों मे द्रव्य का स्थिति के अनुसार विभाग होता है -

> **सेसाणं पयडीण ठिदिपडिभागेण होदि दव्वं तु।**
> **आवलिअसखभागो पडिभागो होदि णियमेण ॥१९४**

वेदनीय के सिवाय शेप मूल प्रकृतियो के द्रव्य का स्थिति के अनुसार विभाग होता है। जिसकी स्थिति अधिक है उसको अधिक, कम को कम और समान स्थिति वाले को समान द्रव्य हिस्से मे आता है और उनके भाग करने मे प्रतिभागहार नियम से आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण समझना चाहिये। आयु आदि शेप सात कर्मो मे विभाग का क्रम इस प्रकार है—

> आउगभागो थोवो णामागोदे समो तदो अहिओ।
> घादितियेवि य तत्तो मोहे तत्तो तदो तदिये ॥१९२

सब मूल प्रकृतियो मे आयुकर्म का हिस्सा थोडा है। नाम और गोत्र कर्म का हिस्सा आपस मे समान है तो भी आयुकर्म के भाग से अधिक है। अतराय,

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, इन तीन घातिया कर्मो का भाग आपस मे समान है लेकिन नाम, गोत्र के भाग से अधिक है। इससे अधिक मोहनीय कर्म का भाग है तथा मोहनीय से भी अधिक वेदनीय कर्म का भाग है। जहा जितने कर्मो का बध हो वहा उतने ही कर्मो मे विभाग कर लेना चाहिये। विभाग करने की रीति यह है—

बहुभागे समभागो अट्ठण्हं होदि एक्कभागम्हि।
उत्तकमो तत्थवि बहुभागो बहुगस्स देओ दु ॥ १९५

बहुभाग के समान भाग करके आठो कर्मो को एक-एक भाग देना चाहिए। शेप एक भाग मे पुन वहुभाग करना चाहिए और वह वहुभाग बहुत हिस्से वाले कर्म को देना चाहिए।

इस रीति के अनुसार एक समय मे जितने पुदगल द्रव्य का वध होता है, उसमे आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देकर एक भाग को अलग रखना चाहिए और बहुभाग के आठ समान भाग करके आठो कर्मो को एक-एक भाग देना चाहिए। शेष एक भाग मे पुन. आवली के असख्यातवें भाग से भाग देकर एक भाग को अलग रखकर वहूभाग वेदनीय कर्म को देना चाहिए, क्योकि सवसे अधिक भाग का स्वामी वही है। शेष भाग मे पुनः आवली के असख्यातवें भाग से भाग देकर एक भाग को जुदा रखकर बहुभाग मोहनीय कर्म को उसकी स्थिति अधिक होने से देना चाहिए। शेष एक भाग मे पुन आवली के असख्यातवें भाग से भाग देकर एक भाग को जुदा रख बहुभाग के तीन समान भाग करके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अतराय कर्म को एक-एक भाग देना चाहिए। शेप एक भाग मे पुन आवली के असख्यातवे भाग का भाग देकर एक भाग को जुदा रख वहुभाग के दो समान भाग करके नाम और गोत्र कर्म को एक, एक भाग देना चाहिए। शेप एक भाग आयुकर्म को देना चाहिए। इस प्रकार पहले वटवारे मे और दूसरे वटवारे मे प्राप्त अपने-अपने द्रव्य का सकलन करने से अपने-अपने भाग का परिमाण आता है। यानी ग्रहण किये हुए द्रव्य मे से उतने परमाणु उस उस कर्म रूप होते है।

पूर्वोक्त कथन को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते है कि एक समय मे जितने पुद्गल द्रव्य का वध होता है, उसका परिमाण २५६०० है और आवली के

असख्यातवें भाग का प्रमाण ४ है। अत २५६०० को ४ से भाग देने पर लब्ध ६४०० आता है, यह एक भाग है। इस प्रकार एक भाग को २५६०० मे से घटाने पर १९२०० बहुभाग आता है। इस बहुभाग के आठ समान भाग करने पर एक-एक भाग का प्रमाण २४००, २४०० होता है अतः प्रत्येक कर्म के हिस्से मे २४००, २४०० प्रमाण द्रव्य आता है। शेष एक भाग ६४०० को ४ से भाग देने पर लब्ध १६०० आता है। इस १६०० को ६४०० मे से घटाने पर ४८०० बहुभाग हुआ। यह बहुभाग वेदनीय कर्म का है। शेष १६०० मे ४ का भाग देने पर लब्ध ४०० आता है। १६०० मे से ४०० घटाने पर बहुभाग १२०० हुआ, जो मोहनीय कर्म का हुआ। शेष एक भाग ४०० मे ४ का भाग देने पर लब्ध १०० आता है। ४०० मे से १०० को घटाने पर बहुभाग ३०० आता है। इस बहुभाग ३०० के तीन समान भाग करके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय को १००, १०० देना चाहिए। शेष १०० मे ४ का भाग देने से लब्ध २५ आया। इस २५ को १०० मे से घटाने पर बहुभाग ७५ आता है। इस बहुभाग के दो समान भाग कर नाम और गोत्र कर्म को बाट दिया और शेष एक भाग २५ आयुकर्म को दे देना चाहिए। अत प्रत्येक कर्म के हिस्से मे निम्न द्रव्य आता है—

वेदनीय	मोहनीय	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	अंतराय
२४००	२४००	२४००	२४००	२४००
४८००	१२००	१००	१००	१००
७२००	३६००	२५००	२५००	२५००

नाम	गोत्र	आयु
२४००	२४००	२४००
३७$\frac{1}{2}$	३७$\frac{1}{2}$	२५
२४३७$\frac{1}{2}$	२४३७$\frac{1}{2}$	२४२५

इस प्रकार २५६०० मे इतना-इतना द्रव्य उन उन कर्म रूप परिणत होता है। यह उदाहरण केवल विभाजन की रूपरेखा समझाने के लिए है किन्तु वास्त-

विक नही समझ लेना चाहिए । यानी यह नही समझ लेना चाहिए कि वेदनीय का द्रव्य मोहनीय से ठीक दुगना है, वैसे ही वास्तव मे भी दुगना द्रव्य होता है।

उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मस्कन्धो के विभाजन मे श्वेताम्बर और दिगम्बर कर्मसाहित्य मे समानता है। कर्मग्रथ मे लाघव की दृष्टि से ही विभाग करने की रीति नही बतलाई जा सकी है।

उत्तर प्रकृतियों में पुद्गल द्रव्य के वितरण व हीनाधिकता का विवेचन

गो० कर्मकाड मे गाथा १९९ से २०६ तक उत्तर प्रकृतियो मे पुद्गल द्रव्य के विभाजन का वर्णन किया गया है। कर्मग्रन्थ के समान ही घातिकर्मो को जो भाग मिलता है, उसमे से अनन्तवा भाग सर्वघाती द्रव्य होता है और शेष बहुभाग देशघाती द्रव्य होता है—

सव्वावरणं दव्वं अणंतभागो दु मूलपयडीण ।
सेसा अणंतभागा देसावरण हवे दव्वं ।। १९७

गो० कर्मकाड के मत से सर्वघाती द्रव्य सर्वघाती प्रकृतियो को भी मिलता है और देशघाती प्रकृतियो को भी मिलता है—

सव्वावरणं दव्वं विभंजणिज्जं तु उभयपयडीसु ।
देसावरणं दव्व देसावरणेसु णेविदरे ।। १९९

सर्वघाती द्रव्य का विभाग दोनो तरह की प्रकृतियो मे करना चाहिए। किन्तु देशघाती द्रव्य का विभाग देशघाती प्रकृतियो मे ही करना चाहिए। अर्थात् सर्वघाती द्रव्य सर्वघाती और देशघाती दोनो प्रकार की प्रकृतियो को मिलता है किन्तु देशघाती द्रव्य सिर्फ देशघाती प्रकृतियो मे ही विभाजित होता है।

प्राप्त द्रव्य को उत्तर प्रकृतियो मे विभाजित करने के लिए एक सामान्य नियम यह है कि—

उत्तरपयडीसु पुणो मोहावरणा हवंति हीणकमा।
अहियकमा पुण णामाविग्घा य ण भंजगं सेसे ।। १९६

उत्तर प्रकृतियो मे मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण के भेदो मे क्रम से हीन-हीन द्रव्य है और नाम, अतराय कर्म के भेदो मे क्रम से अधिक-अधिक द्रव्य है तथा बाकी बचे वेदनीय, गोत्र, आयु कर्म, इन तीनो के भेदो मे बटवारा नही होता है। क्योकि इनकी एक ही प्रकृति एक काल मे बधती है। जैसे वेदनीय मे साता वेदनीय का बध हो या असाता वेदनीय का परन्तु दोनो का एक साथ बध नही होता है। इसीलिए मूल-प्रकृति के द्रव्य के प्रमाण ही इन तीनो के द्रव्य को समझना चाहिए।

विभाग की रीति निम्न प्रकार है—

ज्ञानावरण—सर्वघाती द्रव्य मे आवली के असख्यातवे भाग का भाग देकर बहुभाग के पाच समान भाग करके पाच प्रकृतियो को एक एक भाग देना चाहिए। शेष एक भाग मे आवली के असख्यातवे भाग का भाग देकर बहुभाग मतिज्ञानावरण को, शेष एक भाग मे पुनः आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर दूसरा बहुभाग श्रुतज्ञानावरण को, शेष भाग मे पुन. आवली के असख्यातवें भाग का भाग देकर तीसरा बहुभाग अवधिज्ञानावरण को, इसी तरह चौथा बहुभाग मनपर्यायज्ञानावरण को और शेष एक भाग केवलज्ञानावरण को देना चाहिए। पहले के भाग मे अपने अपने बहुभाग को मिलाने से मतिज्ञानावरण आदि का सर्वघाती द्रव्य होता है।

अनन्तवें भाग के सिवाय शेष बहुभाग द्रव्य देशघाती होता है। यह देशघाती द्रव्य केवलज्ञानावरण के सिवाय शेष चार देशघाती प्रकृतियो को मिलता है। विभाग की रीति पूर्व अनुसार है। अर्थात् देशघाती द्रव्य मे आवली के असख्यातवे भाग का भाग देकर एक भाग को जुदा रखकर शेष बहुभाग के चार समान भाग करके चारो प्रकृतियो को एक एक भाग देना चाहिए। शेष एक भाग मे आवली के असख्यातवे भाग का भाग देकर बहुभाग निकालते हुए क्रमश वह बहुभाग मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनपर्यायज्ञानावरण को नम्बर वार देना चाहिए। अपने-अपने सर्वघाती और देशघाती द्रव्य को मिलाने से अपने अपने सर्व द्रव्य का परिमाण होता है।

दर्शनावरण—सर्वघाती द्रव्य मे आवली के असख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग को अलग रखकर शेष बहुभाग के नौ भाग करके दर्शनावरण की नौ

प्रकृतियो को एक एक भाग देना चाहिए। शेष एक भाग मे आवली के असख्यातवे भाग का भाग देकर बहुभाग निकालते जाना चाहिए और पहला बहुभाग स्त्यानर्द्धि को, दूसरा निद्रा-निद्रा का, तीसरा प्रचला-प्रचला को, चौथा निद्रा को, पाचवा प्रचला को, छठा चक्षुदर्शनावरण को, सातवा अचक्षुदर्शनावरण को, आठवा अवधिदर्शनावरण को और शेष एक भाग केवलदर्शनावरण को देना चाहिए। इसी प्रकार देशघाती द्रव्य मे आवली के असख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग को जुदा रख बहुभाग के तीन समान भाग करके देशघाती चक्षु-दर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण को एक-एक भाग देना चाहिए। शेष एक भाग मे भी भाग देकर बहुभाग चक्षुदर्शनावरण, दूसरा बहुभाग अचक्षुदर्शनावरण को और शेष एक भाग अवधिदर्शनावरण को देना चाहिए। अपने-अपने भागो का सकलन करने से अपने-अपने द्रव्य का प्रमाण होता है। चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शनावरण का द्रव्य सर्वघाती भी है और देशघाती भी। शेष छह प्रकृतियो के सर्वघातिनी होने से उनका द्रव्य सर्वघाती ही होता है।

अन्तराय—प्राप्त द्रव्य मे आवली के असख्यातवें भाग (प्रतिभाग) का भाग देकर एक भाग के बिना शेष बहुभाग के पाच समान भाग करके पाचो प्रकृतियो को एक, एक भाग देना चाहिए। अब शेष एक भाग मे प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग वीर्यान्तराय को देना चाहिए। शेष एक भाग मे पुन प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग उपभोगान्तराय को देना चाहिये। इसी प्रकार जो जो अवशेष एक भाग रहे, उसमे प्रतिभाग का भाग दे-देकर क्रमशः बहुभाग भोगान्तराय और लाभान्तराय को देना चाहिए। शेष एक भाग दानान्तराय को देना चाहिए। अपने-अपने समान भाग मे अपना-अपना बहुभाग मिलाने से प्रत्येक का द्रव्य होता है।

मोहनीय—सर्वघाती द्रव्य को प्रतिभाग आवली के असख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग को अलग रखकर शेष बहुभाग के समान सत्रह भाग करके सत्रह प्रकृतियो को देना चाहिये। शेष एक भाग मे प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग मिथ्यात्व को देना चाहिए। शेष एक भाग मे प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग अनन्तानुबन्धी लोभ को दे, शेष एक भाग को प्रतिभाग का भाग

देकर वहुभाग अनन्तानुबन्धी माया को देना चाहिये। इसी प्रकार जो जो भाग शेष रहता जाये उसको प्रतिभाग का भाग दे देकर बहुभाग अनतानुबधी क्रोध को, अनतानुबधी मान को, सज्वलन लोभ को, सज्वलन माया को, सज्वलन क्रोध को, सज्वलन मान को, प्रत्याख्यानावरण लोभ को, प्रत्याख्यानावरण माया को, प्रत्याख्यानावरण क्रोध को, प्रत्याख्यानावरण मान को, अप्रत्याख्यानावरण लोभ को, अप्रत्याख्यानावरण माया को, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध को देना चाहिए और शेष एक भाग अप्रत्याख्यानावरण मान को देना चाहिए। अपने-अपने एक एक भाग मे पीछे के अपने-अपने वहुभाग को मिलाने से अपना-अपना सर्वघाती द्रव्य होता है।

देशघाती द्रव्य को आवली के असख्यातवे भाग का भाग देकर एक भाग को अलग रखकर वहुभाग का आधा नोकषाय को और वहुभाग का आधा और शेप एक भाग सज्वलन कषाय को देना चाहिये। सज्वलन कषाय के देशघाती द्रव्य मे प्रतिभाग का भाग देकर एक भाग को जुदा रखकर शेष वहुभाग के चार समान भाग करके चारो क्रोधादि कषायो को एक-एक भाग देना चाहिये। शेष एक भाग मे प्रतिभाग का भाग देकर सज्वलन लोभ को देना चाहिये। शेष एक भाग मे प्रतिभाग का भाग देकर वहुभाग सज्वलन माया को देना चाहिये। शेष एक भाग मे प्रतिभाग का भाग देकर वहुभाग सज्वलन क्रोध को देना चाहिये और शेष एक भाग सज्वलन मान को देना चाहिये। पूर्व के अपने-अपने एक भाग मे पीछे का वहुभाग मिलाने से अपना अपना देशघाती द्रव्य होता है। चारो सज्वलन कषायो को अपना-अपना सर्वघाती और देशघाती द्रव्य मिलाने से अपना-अपना सर्वद्रव्य होता है।

मिथ्यात्व और वारह कषाय का सव द्रव्य सर्वघाती ही है और नोकषाय का सब द्रव्य देशघाती ही। नोकषाय का विभाग इस प्रकार होता है—नोकषाय के द्रव्य को प्रतिभाग का भाग देकर एक भाग को जुदा रख, बहुभाग के पांच समान भाग करके पाचो प्रकृतियो को एक-एक भाग देना चाहिये। शेष एक भाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग तीन वेदो मे से जिस वेद का बध हो, उसे देना चाहिये। शेष एक भाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग रति और अरति मे से जिसका बध हो, उसे देना चाहिये। शेष एक

भाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग हास्य और शोक मे से जिसका बध हो, उसे देना चाहिये। शेष एक भाग मे प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग भय को देना चाहिये और शेष एक भाग जुगुप्सा को देना चाहिये। अपने-अपने एक भाग मे पीछे का बहुभाग मिलाने से अपना-अपना द्रव्य होता है।

नामकर्म—तिर्यंचगति, एकेन्द्रियजाति, औदारिक, तैजस, कार्मण ये तीन शरीर, हुड सस्थान, वर्णचतुष्क, तिर्यंचानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश - कीर्ति और निर्माण, इन तेईस प्रकृतियो का एक साथ बध मनुष्य अथवा तिर्यंच मिथ्यादृष्टि करता है। नामकर्म को जो द्रव्य मिलता है उसमे आवली के असख्यातवे भाग का भाग देकर एक भाग को अलग रख बहुभाग के इक्कीस समान भाग करके एक-एक प्रकृति को एक-एक भाग देना चाहिये। क्योकि ऊपर लिखी तेईस प्रकृतियो मे औदारिक, तैजस और कार्मण ये तीनो प्रकृतिया एक शरीर नाम पिंड प्रकृति के ही अवान्तर भेद है। अत इनको पृथक्-पृथक् द्रव्य न मिलकर एक शरीर नामकर्म को ही हिस्सा मिलता है। इसीलिये इक्कीस ही भाग किये जाते है।

शेष एक बहुभाग में आवली के असख्यातवें भाग का भाग देकर अत से आदि की ओर के क्रम के अनुसार बहुभाग को देना चाहिये। जैसे कि शेप एक भाग मे आवली के असख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग अत की निर्माण प्रकृति को देना चाहिये। शेप भाग मे आवली के असख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग अयश कीर्ति को देना। शेप एक भाग मे पुन आवली के असख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग अनादेय को देना चाहिए। इसी प्रकार जो-जो एक भाग शेप रहे उसमे प्रतिभाग का भाग दे-देकर बहुभाग दुर्भग, अशुभ आदि को क्रम से देना चाहिये। अत मे जो एक भाग रहे, वह तिर्यचगति को देना चाहिये।

पहले के अपने-अपने समान भाग मे पीछे का भाग मिलाने से अपना-अपना द्रव्य होता है। जहाँ पच्चीस, छब्बीस, अटठाईस, उनतीस, तीस, इकतीस प्रकृतियो का एक साथ वध होता है, वहाँ भी इसी प्रकार से बटवारे का क्रम जानना चाहिये। किन्तु जहाँ केवल एक यश कीर्ति का ही वध होता है, वहाँ नामकर्म का सब द्रव्य इस एक ही प्रकृति को मिलता है।

नामकर्म के उक्त बधस्थानो मे जो पिंडप्रकृतिया है, उनके द्रव्य का बटवारा उनकी अवान्तर प्रकृतियो मे होता है। जैसे ऊपर के बधस्थानो मे शरीर नाम पिंडप्रकृति के तीन भेद है अत बटवारे मे शरीर नामकम को जो द्रव्य मिलता है, उसमे प्रतिभाग का भाग देकर, बहुभाग के तीन समान भाग करके तीनो को एक-एक भाग देना चाहिये। शेप एक भाग मे प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग कार्मण शरीर को देना चाहिये। शेष एक भाग में प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग तैजस को देना चाहिये और शेष एक भाग औदारिक को देना चाहिये। ऐसे ही अन्य पिंडप्रकृतियो मे भी समझना चाहिये। जहाँ पिंड प्रकृति की अवान्तर प्रकृतियो मे से एक ही प्रकृति का बध होता हो, वहाँ पिंडप्रकृति का सब द्रव्य उस एक ही प्रकृति को देना चाहिये।

अतराय और नाम कर्म के बटवारे मे उत्तरोत्तर अधिक-अधिक द्रव्य प्रकृतियो को देने का कारण प्रारम्भ मे ही बतलाया जा चुका है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय की उत्तर प्रकृतियो मे क्रम से हीन-हीन द्रव्य बाँटा जाता है और अतराय व नाम कर्म की प्रकृतियो मे क्रम से अधिक-अधिक द्रव्य।

वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म की एक समय मे एक ही उत्तर प्रकृति बधती है, अत मूल प्रकृति को जो द्रव्य मिलता है, वह उस एक ही प्रकृति को मिल जाता है। उसमे बटवारा नही होता है।

इस प्रकार से गो० कर्मकाड के अनुसार कर्म प्रकृतियो मे पुद्गल द्रव्य का बटवारा जानना चाहिये। अब कर्मप्रकृति (प्रदेशबध गा० २८) मे बतायी गई उत्तर प्रकृतियो मे कर्मदलिको के विभाग की हीनाधिकता का कथन करते है। उससे यह जाना जा सकता है कि उत्तर प्रकृतियो मे विभाग का क्या और कैसा क्रम है तथा किस प्रकृति को अधिक भाग मिलता है और किस प्रकृति को कम।

पहले उत्कृष्ट पद की अपेक्षा अल्पबहुत्व बतलाते है।

ज्ञानावरण—१. केवलज्ञानावरण का भाग सबसे कम, २. मनपर्याय-ज्ञानावरण का उससे अनत गुणा, ३. अवधिज्ञानावरण का मनपर्यायज्ञाना-

वरण से अधिक, ४. श्रुतज्ञानावरण का उससे अधिक और ५ मतिज्ञानावरण का उससे अधिक भाग है ।

दर्शनावरण—१. प्रचला का सबसे कम भाग है, २ निद्रा का उससे अधिक, ३ प्रचला-प्रचला का उससे अधिक, ४. निद्रा-निद्रा का उससे अधिक, ५ स्त्यानर्द्धि का उससे अधिक, ६. केवलदर्शनावरण का उससे अधिक, ७ अवधिज्ञानावरण का उससे अनन्तगुणा, ८. अचक्षुदर्शनावरण का उससे अधिक और ९ चक्षुदर्शनावरण का उससे अधिक भाग होता है ।

वेदनीय—असाता वेदनीय का सबसे कम और साता वेदनीय का उससे अधिक द्रव्य होता है ।

मोहनीय—१. अप्रत्याख्यानावरण मान का सबसे कम, २. अप्रत्याख्यानावरण क्रोध का उससे अधिक, ३. अप्रत्याख्यानावरण माया का उससे अधिक और ४. अप्रत्याख्यानावरण लोभ का उससे अधिक भाग है । इसी प्रकार ५-८. प्रत्याख्यानावरण चतुष्क का (मान, क्रोध, माया और लोभ के क्रम से) उत्तरोत्तर भाग अधिक है। उससे ९-१२. अनन्तानुबधी चतुष्क का उत्तरोत्तर भाग अधिक है । उससे १३. मिथ्यात्व का भाग अधिक है । मिथ्यात्व से १४. जुगुप्सा का भाग अनन्तगुणा है, उससे १५ भय का भाग अधिक है, १६, १७ हास्य और शोक का उससे अधिक किन्तु आपस मे बराबर, १८, १९. रति और अरति का उससे अधिक किन्तु आपस मे बराबर, २०, २१. स्त्री और नपुसकवेद का उससे अधिक किन्तु आपस मे बराबर, २२. सज्वलन क्रोध का उससे अधिक २३. सज्वलन मान का उससे अधिक, २४. पुरुषवेद का उससे अधिक, २५. सज्वलन माया का उससे अधिक और २६. सज्वलन लोभ का उससे असख्यात गुणा भाग है ।

आयुकर्म—चारो प्रकृतियो का समान ही भाग होता है, क्योंकि एक ही बधती है ।

नामकर्म—गति नामकर्म मे देवगति और नरकगति का सबसे कम किन्तु परस्पर मे बराबर, मनुष्यगति का उससे अधिक और तिर्यंचगति का उससे अधिक भाग है ।

जाति नामकर्म मे—द्वीन्द्रिय आदि चार जातियो का सबसे कम किन्तु आपस मे बराबर और एकेन्द्रिय जाति का उससे अधिक भाग है ।

शरीर नामकर्म मे—आहारक शरीर का सबसे कम, वैक्रिय शरीर का उससे अधिक, औदारिक शरीर का उससे अधिक, तैजस शरीर का उससे अधिक और कार्मण शरीर का उससे अधिक भाग है ।

इसी तरह पाच सघातो का भी समझना चाहिये ।

अगोपाग नामकर्म मे—आहारक अगोपाग का सबसे कम, वैक्रिय का उससे अधिक, औदारिक का उससे अधिक भाग है ।

बधन नामकर्म मे—आहारक-आहारक बधन का सबसे कम, आहारक-तैजस बधन का उससे अधिक, आहारक-कार्मण बधन का उससे अधिक, आहारक-तैजस-कार्मण बधन का उससे अधिक, वैक्रिय-वैक्रिय बधन का उससे अधिक, वैक्रिय-तैजस बन्धन का उससे अधिक, वैक्रिय-कार्मण बन्धन का उससे अधिक, वैक्रिय-तैजस-कार्मण बन्धन का उससे अधिक, इसी प्रकार औदारिक-औदारिक बधन, औदारिक-तैजस बधन, औदारिक-कार्मण बन्धन, औदारिक-तैजस-कार्मण बधन, तैजस-तैजस बधन, तैजस-कार्मण बन्धन और कार्मण-कार्मण बन्धन का भाग उत्तरोत्तर एक से दूसरे का अधिक अधिक होता है ।

सस्थान नामकर्म मे—मध्य के चार सस्थानो का सबसे कम किन्तु आपस मे बराबर-बराबर भाग होता है । उससे समचतुरस्र और उससे हुड सस्थान का भाग उत्तरोत्तर अधिक है ।

सहनन नामकर्म मे—आदि के पांच सहननो का द्रव्य बराबर किन्तु सबसे थोडा है, उससे सेवार्त का अधिक है ।

वर्ण नाम मे—कृष्ण का सबसे कम और नील, लोहित, पीत तथा शुक्ल का एक से दूसरे का उत्तरोत्तर अधिक भाग है ।

गध मे—सुगध का कम और दुर्गन्ध का उससे अधिक भाग है ।

रस मे—कटुक रस का सबसे कम और तिक्त, कसैला, खट्टा और मधुर रस का उत्तरोत्तर एक से दूसरे का अधिक-अधिक भाग है ।

मृदु और लघु स्पर्श ।

स्पर्श मे—कर्कश और गुरु स्पर्श का सबसे कम, मृदु और लघु स्पर्श का उससे अधिक, रूक्ष और शीत का उससे अधिक तथा स्निग्ध और उष्ण का

उससे अधिक भाग है। चारो युगलो मे जो दो-दो स्पर्श है, उनका आपस मे वरा-वर-बरावर भाग है।

आनुपूर्वी मे—देवानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी का भाग सबसे कम किन्तु आपस मे बराबर होता है। उससे मनुष्यानुपूर्वी और तिर्यचानुपूर्वी का क्रम से अधिक-अधिक भाग है।

विहायोगति मे—प्रशस्त विहायोगति का कम और अप्रशस्त विहायोगति का उससे अधिक।

त्रसादि बीस मे—त्रस का कम, स्थावर का उससे अधिक। पर्याप्त का कम, अपर्याप्त का उससे अधिक। इसी तरह प्रत्येक-साधारण, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुभग-दुर्भग, सूक्ष्म-वादर और आदेय-अनादेय का भी समझना चाहिए तथा अयश कीर्ति का सबसे कम और यश कीर्ति का उससे अधिक भाग है। आतप उद्योत, प्रशस्त अप्रशस्त विहायोगति, सुस्वर, दु स्वर का परस्पर मे बरावर भाग है।

निर्माण, उच्छ्वास, पराघात, उपघात, अगुरुलघु और तीर्थकर नाम का अल्पबहुत्व नही होता है। क्योकि अल्पबहुत्व का विचार सजातीय अथवा विरोधी प्रकृतियो मे ही किया जाता है। जैसे कृष्ण नामकर्म के लिए वर्णनाम-कर्म के शेष भेद सजातीय है तथा सुभग और दुर्भग परस्पर मे विरोधी है। किन्तु उक्त प्रकृतियाँ न तो सजातीय है क्योकि किसी एक पिंड प्रकृति की अवान्तर प्रकृतियाँ नही है तथा विरोधी भी नही है, क्योकि उनका वध एक साथ भी हो सकता है।

गोत्रकर्म - नीच गोत्र का कम और उच्च गोत्र का अधिक है।

अन्तरायकर्म—दानान्तराय का सबसे कम और लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य अन्तराय का उत्तरोत्तर अधिक भाग है।

उत्कृष्ट पद की अपेक्षा मे उक्त अल्पबहुत्व समझना चाहिए और जघन्य-पद की अपेक्षा से—

ज्ञानावरण और वेदनीय का अल्पबहुत्व पूर्ववत् है।

दर्शनावरण मे निद्रा का सबसे कम, प्रचला का उसके अधिक, निद्रा-निद्रा

का उमसे अधिक। प्रचला-प्रचला का उससे अधिक, स्त्यानर्द्धि का उससे अधिक है। शेप पूर्ववत् भाग है।

मोहनीय मे केवल इतना अतर है कि तीनो वेदो का भाग परस्पर मे तुल्य है और रति-अरति से विशेपाधिक है। उससे सज्वलन मान, क्रोध, माया और लोभ का उत्तरोत्तर अधिक है।

आयु मे तिर्यंचायु और मनुष्यायु का सबसे कम है और देवायु, नरकायु का उससे असख्यात गुणा है।

नामकर्म मे तिर्यंचगति का सबसे कम, मनुष्यगति का उससे अधिक, देव-गति का उससे असख्यात गुणा और नरकगति का उससे असख्यात गुणा भाग है। जाति का पूर्ववत् है। शरीरों मे औदारिक का सबसे कम, तैजस का उससे अधिक, कार्मण का उससे अधिक, वैक्रिय का उससे असख्यात गुणा, आहा-रक का उससे असख्यात गुणा भाग है। सघात और बंधन मे भी ऐसा ही क्रम जानना चाहिए। अगोपाग मे औदारिक का सबसे कम, वैक्रिय का उससे अस-ख्यात गुणा, आहारक का उससे असख्यात गुणा भाग है। आनुपूर्वी का पूर्ववत् है। शेप प्रकृतियो का भी पूर्ववत् जानना चाहिए।

गोत्र और अतराय कर्म का भी पूर्ववत् है। यानी नीच गोत्र का कम और उच्च गोत्र का उससे अधिक। दानान्तराय का कम, लाभान्तराय का उससे अधिक, भोगान्तराय का उससे अधिक, उपभोगान्तराय का उससे अधिक और वीर्या-न्तराय का उससे अधिक भाग है।

इस प्रकार गो० कर्मकाड और कर्मप्रकृति के अनुसार कर्म प्रकृतियो मे कर्मदलिको के विभाजन व अल्पबहुत्व को समझना चाहिये।

*

परिशिष्ट-३

पल्य को भरने में लिये जाने वाले बालाग्रों सम्बन्धी अनुयोगद्वार-सूत्र आदि का कथन

पल्योपम का प्रमाण बतलाने के लिए एक योजन लबे, एक योजन चौडे और एक योजन गहरे पल्य-गड्ढे को एक से लेकर सात दिन तक के बालाग्रो से भरने का विधान किया है। इस सबधी विभिन्न दृष्टिकोणो को यहाँ स्पष्ट करते है।

अनुयोगद्वार सूत्र मे 'एगाहिअ, बेआहिअ, तेआहिअ जाव उक्कोसेण सत्त रत्तरूढाण····वालग्गकोडीण' लिखा है और प्रवचनसारोद्धार मे भी इसी से मिलता-जुलता पाठ है। दोनो की टीका मे इसका अर्थ किया गया है कि सिर के मुडा देने पर एक दिन मे जितने बडे बाल निकलते हैं, वे एकाह्निक्य कहलाते है, दो दिन के निकले बाल द्व्याह्निक्य, तीन दिन के निकले बाल त्र्याह्निक्य, इसी तरह सात दिन के उगे हुए बाल लेना चाहिये।

द्रव्यलोकप्रकाश मे इसके बारे मे लिखा है कि उतरकुरु के मनुष्यो का सिर मुड़ा देने पर एक से सात दिन तक के अन्दर जो केशाग्रराशि उत्पन्न हो, वह लेना चाहिये। उसके आगे लिखा है कि—

क्षेत्रसमासवृहद्वृत्तिजम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्त्यभिप्रायोऽयम् प्रवचनसारोद्धारवृत्तिसग्रहणीवृहद्वृत्योस्तु मुण्डिते शिरसि एकेनाह्ना द्वाभ्यामहोभ्या यावदुत्कर्षत सप्तभिरहोभि प्ररूढानि वालाग्राणि इत्यादि सामान्यत कथनादुत्तरकुरुनरवालाग्राणि नोक्तानीति ज्ञेयम्। 'वीरञ्जय सेहर' क्षेत्रविचार सत्कस्वोपज्ञवृत्तौ तु देवकुरूत्तरकुरूद्भवसप्तदिनजातोरणस्योत्सेधाङ्गुलप्रमाण रोम सप्तकृत्वोऽष्टखण्डीकरणेन विशतिलक्षसप्तनवतिसहस्रं कशतद्वापञ्चाशतप्रमितखण्डभाव प्राप्यते, तादृशै रोमखण्डैरेप पल्यो भ्रियत इत्यादिरर्थत सप्रदायो दृश्यत इति ज्ञेयम।

अर्थात् क्षेत्रसमास की वृहद्वृत्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की वृत्ति का यह अभिप्राय है कि उत्तरकुरु के मनुष्य के केशाग्र लेना चाहिये। किंतु प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति और सग्रहणी की वृहद्वृत्ति मे सामान्य से सिर मुडा देने पर एक से लेकर सात दिन तक के उगे हुए वालो का उल्लेख किया है, उत्तरकुरु के मनुष्य के बालाग्रो का ग्रहण नही किया है। क्षेत्रविचार की स्वोपज्ञवृत्ति मे लिखा है कि देवकुरु-उत्तरकुरु मे जन्मे सात दिन के मेष (भेड) के उत्सेधागुलप्रमाण रोम को लेकर उसके सात बार आठ-आठ खड करना चाहिये। अर्थात् उस रोम के आठ खड करके पुन एक-एक खड के आठ-आठ खड करना चाहिए। ऐसा करने पर ,उस रोम के बीस लाख सत्तानवें हजार एकसौ बावन २०९७१५२ खड होते है। इस प्रकार के खडो से उस पल्य को भरना चाहिए।

जबूद्वीपप्रज्ञप्ति मे भी 'एगाहिअ वेहिअ तेहिअ उक्कोसेण सत्तरत्तपरूढाण वालग्गकोडीण' ही पाठ है। जिसका टीकाकार ने यह अर्थ किया है — वालेषु अग्राणि श्रेष्ठाणि वालाग्राणि कुरुनररोमाणि तेषा कोटय अनेका कोटीकोटीप्रमुखा सख्या। जिसका आशय है कि बालो मे अग्र-श्रेष्ठ जो उत्तरकुरु-देवकुरु के मनुष्यो के वाल, उनकी कोटिकोटि। इस प्रकार टीकाकार ने बाल सामान्य से कुरुभूमि (देवकुरु, उत्तरकुरु) के मनुष्यो के वालो का ग्रहण किया है।

दिगम्बर साहित्य मे 'एकादिसप्ताहोरात्रिजाताविवालाग्राणि' लिखकर एक दिन से सात दिन तक जन्मे हुए मेष (भेड़) के वालाग्र ही ग्रहण किये है।

दिगम्बर साहित्य में पल्योपम का वर्णन

उपमा प्रमाण के द्वारा काल की गणना करने के लिए पल्योपम, सागरोपम का उपयोग श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो सप्रदायो के साहित्य मे समान रूप से किया गया है। लेकिन उनके वर्णन मे भिन्नता है। श्वेताम्बर साहित्य मे माने जाने वाले पल्योपम के स्वरूप आदि का वर्णन गा० ८५ मे किया जा चुका है, लेकिन दिगम्बर साहित्य मे पल्योपम का जो वर्णन मिलता है, वह उस वर्णन से कुछ भिन्न है। उसमे क्षेत्र-पल्योपम नाम का कोई भेद नही है

और न प्रत्येक पल्योपम के वादर और सूक्ष्म भेद ही किये गये है।
पल्योपम का वर्णन इस प्रकार है—

पल्य के तीन प्रकार है—व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य औ
ये तीनो नाम सार्थक है और उद्धार व अद्धा पल्यो के व्यवहार
के कारण पहले पल्य को व्यवहारपल्य कहते हैं। अर्थात्
इतना ही उपयोग है कि वह उद्धारपल्य और अद्धापल्य का
इसके द्वारा कुछ मापा नही जाता है।

उद्धारपल्य से उद्धृत रोमो के द्वारा द्वीप और स
जाती है, इसीलिये उसे उद्धारपल्य कहते है और अद्
आयु आदि जानी जाती है, इसीलिये उसे अद्धापल्य कहते
का प्रमाण निम्न प्रकार है—

प्रमाणागुल से निष्पन्न एक योजन लम्बे, एक योजन
गहरे तीन गड्ढे बनाओ। एक दिन से लेकर सात दिन
के अग्रभागो को काटकर उनके इतने छोटे-छोटे ख
न काटे जा सके। इस प्रकार के रोमखण्डो से
देना चाहिए। उस पल्य को व्यवहारपल्य कह

उस व्यवहारपल्य से सौ-सौ वर्ष के बाद
निकालते जितने काल में वह पल्य खाली हो, उ
व्यवहारपल्य के एक-एक रोमखण्ड के कल्प
जितने असख्यात कोटि वर्ष के समय होते है और
मे भर दो। उसे उद्धारपल्य कहते है।

उस उद्धारपल्य मे से प्रति समय एक ख
समय मे वह पल्य खाली हो, उसे उद्धारपल्य
कोटी उद्धारपल्योपम का एक उद्धार-सागरोपम
सागरोपम मे जितने रोमखड होते हैं, उतने ही द्वीप,

उद्धारपल्य के रोमखडो मे से प्रत्येक रोमखड के
उतने खंड करो जितने सौ वर्ष के समय के होते है और
पल्य मे भर दो। उसे अद्धापल्य कहते है। उसमे से प्रति

खड निकालते-निकालते जितने काल मे वह पल्य खाली हो, उसे अद्धा-पल्योपम कहते है और दस कोटाकोटी अद्धापल्यो का एक अद्धासागर होता है। दसकोटि अद्धासागर की एक उत्सर्पिणी और उतने ही की एक अवसर्पिणी होती है। इस अद्धा-पल्योपम से नारक, तिर्यच, मनुष्य और देवो की कर्मस्थिति, भवस्थिति और कायस्थिति जानी जाती है।

दिगम्बर ग्रन्थों में पुद्गल परावर्तों का वर्णन

दिगम्बर साहित्य मे पुद्गल परावर्तों के पाँच भेद है और पच परिवर्तनो के नाम से प्रसिद्ध है। उनके नाम क्रमश इस प्रकार है—द्रव्य-परिवर्तन, क्षेत्र-परिवर्तन, काल-परिवर्तन, भव-परिवर्तन और भाव-परिवर्तन। द्रव्य-परिवर्तन के दो भेद है—नोकर्मद्रव्य-परिवर्तन और कर्मद्रव्य-परिवर्तन। इनके स्वरूप निम्न प्रकार है—

नोकर्मद्रव्य-परिवर्तन—एक जीव ने तीन शरीर और छह पर्याप्तियो के योग्य पुद्गलो को एक समय मे ग्रहण किया और दूसरे आदि समय मे उनकी निर्जरा कर दी। उसके बाद अनतवार अग्रहीत पुद्गलो को ग्रहण करके, अनन्तवार मिश्र पुद्गलो को ग्रहण करके और अनन्तवार ग्रहीत पुद्गलो को ग्रहण करके छोड दिया। इस प्रकार वे ही पुद्गल जो एक समय मे ग्रहण किये थे, उन्ही भावो मे उतने ही रूप, रस, गध और स्पर्श को लेकर जब उसी जीव के द्वारा पुन नोकर्म रूप से ग्रहण किये जाते है तो उतने काल के परिमाण को नोकर्मद्रव्य-परिवर्तन कहते हैं।

कर्मद्रव्य-परिवर्तन—इसी प्रकार एक जीव ने एक समय मे आठ प्रकार के कर्म रूप होने के योग्य कुछ पुद्गल ग्रहण किये और एक समय अधिक एक आवली के बाद उनकी निर्जरा कर दी। पूर्वोक्त क्रम से वे ही पुद्गल उसी प्रकार से जब उसी जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तो उतने काल को कर्मद्रव्य-परिवर्तन कहते हैं। नोकर्मद्रव्य-परिवर्तन और कर्मद्रव्य-परिवर्तन को मिलाकर एक द्रव्यपरिवर्तन या पुद्गल परिवर्तन होता है और दोनो मे से एक को अर्धपुद्गलपरिवर्तन कहते हैं।

क्षेत्रपरिवर्तन—सबसे जघन्य अवगाहना का धारक सूक्ष्म निगोदिया जीव

और न प्रत्येक पल्योपम के वादर और सूक्ष्म भेद ही किये गये है। सक्षेप मे पल्योपम का वर्णन इस प्रकार है--

पल्य के तीन प्रकार है—व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य। ये तीनो नाम सार्थक है और उद्धार व अद्धा पल्यो के व्यवहार का मूल होने के कारण पहले पल्य को व्यवहारपल्य कहते है। अर्थात् व्यवहारपल्य का इतना ही उपयोग है कि वह उद्धारपल्य और अद्धापल्य का आधार बनता है। इसके द्वारा कुछ मापा नही जाता है।

उद्धारपल्य से उद्धृत रोमो के द्वारा द्वीप और समुद्रो की सख्या जानी जाती है, इसीलिये उसे उद्धारपल्य कहते है और अद्धापल्य के द्वारा जीवो की आयु आदि जानी जाती है, इसीलिये उसे अद्धापल्य कहते है। इन तीनो पल्यो का प्रमाण निम्न प्रकार है—

प्रमाणांगुल से निष्पन्न एक योजन लम्बे, एक योजन चौडे और एक योजन गहरे तीन गड्ढे बनाओ। एक दिन से लेकर सात दिन तक के भेड के रोमो के अग्रभागो को काटकर उनके इतने छोटे-छोटे खण्ड करो कि फिर वे कैची से न काटे जा सके। इस प्रकार के रोमखण्डो से पहले पल्य को खूब ठसाठस भर देना चाहिए। उस पल्य को व्यवहारपल्य कहते है।

उस व्यवहारपल्य से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक रोमखण्ड निकालते-निकालते जितने काल मे वह पल्य खाली हो, उसे व्यवहार पल्योपम कहते हैं। व्यवहारपल्य के एक-एक रोमखण्ड के कल्पना के द्वारा उतने खण्ड करो जितने असख्यात कोटि वर्ष के समय होते हैं और वे सब रोमखण्ड दूसरे पल्य मे भर दो। उसे उद्धारपल्य कहते है।

उस उद्धारपल्य मे से प्रति समय एक खण्ड निकालते-निकालते जितने समय मे वह पल्य खाली हो, उसे उद्धारपल्योपम काल कहते है। दस कोटा-कोटी उद्धारपल्योपम का एक उद्धार-सागरोपम होता है। अढाई उद्धार-सागरोपम मे जितने रोमखड होते है, उतने ही द्वीप, समुद्र जानना चाहिए।

उद्धारपल्य के रोमखंडो मे से प्रत्येक रोमखड के कल्पना के द्वारा पुन. उतने खंड करो जितने सौ वर्ष के समय के होते है और उन खडो को तीसरे पल्य मे भर दो। उसे अद्धापल्य कहते हैं। उसमे से प्रति समय एक-एक रोम-

खट निकालते-निकालते जितने काल मे वह पल्य खाली हो, उसे अद्धा-पल्योपम कहते है और दस कोटाकोटी अद्धापल्यो का एक अद्धामागर होता है। दसकोटि अद्धासागर की एक उत्सर्पिणी और उतने ही की एक अवसर्पिणी होती है। इस अद्धा-पल्योपम से नारक, तिर्यच, मनुष्य और देवो की कर्मस्थिति, भवस्थिति और कायस्थिति जानी जाती है।

दिगम्बर ग्रन्थों में पुद्गल परावर्तों का वर्णन

दिगम्बर साहित्य मे पुद्गल परावर्तों के पाँच भेद है और पच परिवर्तनो के नाम से प्रसिद्ध है। उनके नाम क्रमश इस प्रकार हैं—द्रव्य-परिवर्तन, क्षेत्र-परिवर्तन, काल-परिवर्तन, भव-परिवर्तन और भाव-परिवर्तन। द्रव्य-परिवर्तन के दो भेद है—नोकर्मद्रव्य-परिवर्तन और कर्मद्रव्य-परिवर्तन। इनके स्वरूप निम्न प्रकार है—

नोकर्मद्रव्य-परिवर्तन—एक जीव ने तीन शरीर और छह पर्याप्तियो के योग्य पुद्गलो को एक समय मे ग्रहण किया और दूसरे आदि समय मे उनकी निर्जरा कर दी। उसके वाद अनतवार अग्रहीत पुद्गलो को ग्रहण करके, अनन्तवार मिश्र पुद्गलो को ग्रहण करके और अनन्तवार ग्रहीत पुद्गलो को ग्रहण करके छोड दिया। इस प्रकार वे ही पुद्गल जो एक समय मे ग्रहण किये थे, उन्ही भावो मे उतने ही रूप, रस, गध और स्पर्श को लेकर जव उसी जीव के द्वारा पुन नोकर्म रूप से ग्रहण किये जाते है तो उतने काल के परिमाण को नोकर्मद्रव्य-परिवर्तन कहते है।

कर्मद्रव्य-परिवर्तन—इसी प्रकार एक जीव ने एक समय मे आठ प्रकार के कर्म रूप होने के योग्य कुछ पुद्गल ग्रहण किये और एक समय अधिक एक आवली के वाद उनकी निर्जरा कर दी। पूर्वोक्त क्रम से वे ही पुद्गल उसी प्रकार से जब उसी जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तो उतने काल को कर्मद्रव्य-परिवर्तन कहते हैं। नोकर्मद्रव्य-परिवर्तन और कर्मद्रव्य-परिवर्तन को मिलाकर एक द्रव्यपरिवर्तन या पुद्गल परिवर्तन होता है और दोनो मे से एक को अर्धपुद्गलपरिवर्तन कहते हैं।

क्षेत्रपरिवर्तन—सबसे जघन्य अवगाहना का धारक सूक्ष्म निगोदिया जीव

लोक के आठ मध्य प्रदेशो को अपने शरीर के मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और मर गया। वही जीव उसी अवगाहना को लेकर वहा दुवारा उत्पन्न हुआ और मर गया। इस प्रकार घनागुल के असख्यातवें भाग क्षेत्र मे जितने प्रदेश होते है, उतनी वार उसी अवगाहना को लेकर वहा उत्पन्न हुआ और मर गया। उसके वाद एक-एक प्रदेश बढाते-बढाते जब समस्त लोकाकाश के प्रदेशो को अपना जन्मक्षेत्र बना लेता है तो उतने काल को एक क्षेत्रपरिवर्तन कहते है।

काल-परिवर्तन—एक जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय मे उत्पन्न हुआ और आयु पूरी करके मर गया। वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय मे उत्पन्न हुआ और आयु पूरी हो जाने मे वाद मर गया। वही जीव तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय मे उत्पन्न हुआ और उसी तरह मर गया। इस प्रकार वह उत्सर्पिणी काल के समस्त समयो मे उत्पन्न हुआ और इसी प्रकार अवसर्पिणी काल के समस्त समयो मे उत्पन्न हुआ। उत्पत्ति की तरह मृत्यु का भी क्रम पूरा किया। अर्थात् पहली उत्सर्पिणी के पहले समय मे मरा, दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय मे मरा, इसी प्रकार पहली अवसर्पिणी के पहले समय मे मरा, दूसरी अवसर्पिणी के दूसरे समय मे मरा। इस प्रकार जितने समय मे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समस्त समयो को अपने जन्म और मृत्यु से स्पृष्ट कर लेता है, उतने समय का नाम कालपरिवर्तन है।

भवपरिवर्तन· नरकगति मे सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। कोई जीव उतनी आयु लेकर नरक मे उत्पन्न हुआ। मरने के बाद नरक से निकलकर पुनः उसी आयु को लेकर दुवारा नरक मे उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दस हजार वर्ष के जितने समय होते है, उतनी वार उसी आयु को लेकर नरक मे उत्पन्न हुआ। उसके बाद एक समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु लेकर नरक मे उत्पन्न हुआ। इस प्रकार एक-एक समय वढाते-वढाते नरक-गति की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर पूर्ण की। उसके वाद तिर्यंचगति को लिया। तिर्यंचगति मे अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मर गया। उसके वाद उसी आयु को लेकर पुन तिर्यचगति मे उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अन्त-र्मुहूर्त मे जितने समय होते है उतनी वार अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर उत्पन्न हुआ। इसके वाद पूर्वोक्त प्रकार से एक-एक समय वढाते-वढाते तिर्यंचगति

की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य पूरी की। तिर्यचगति की ही तरह मनुष्यगति का काल पूरा किया और नरकगति की तरह देवगति का काल पूरा किया। लेकिन देवगति मे इतना अतर समझना चाहिए कि देवगति मे ३१ सागर की आयु पूरी करने पर ही भवपरिवर्तन पूरा हो जाता है। क्योकि ३१ सागर मे अधिक आयु वाले देव सम्यग्दृष्टि ही होते है और वे एक या दो मनुष्य भव धारण करके मोक्ष चले जाते हैं। इस प्रकार चारो गति की आयु को भोगने मे जितना काल लगता है, उसे भवपरिवर्तन कहते है।

भावपरिवर्तन—कर्मों के एक स्थितिबध के कारण असख्यात लोक प्रमाण कषाय-अध्यवसायस्थान है और एक-एक कषायस्थान के कारण असख्यात लोकप्रमाण अनुभाग अध्यवसायस्थान है। किसी पचेन्द्रिय सज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव ने ज्ञानावरण कर्म का अन्त कोटाकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिबध किया, उसके उस समय सबसे जघन्य कषायस्थान और सबसे जघन्य अनुभागस्थान तथा सबसे जघन्य योगस्थान था। दूसरे समय मे वही स्थितिबध, वही कषायस्थान और वही अनुभागस्थान रहा किन्तु योगस्थान दूसरे नबर का हो गया। इस प्रकार उसी स्थितिबध को कषायस्थान और अनुभागस्थान के साथ श्रेणि के असख्यातवे भाग प्रमाण समस्त योगस्थानो को पूर्ण किया। योगस्थानो की समाप्ति के बाद स्थितिबध और कषायस्थान तो वही रहा किन्तु अनुभागस्थान दूसरा बदल गया। उसके भी पूर्ववत समस्त योगस्थान पूर्ण किये। इस प्रकार अनुभाग-अध्यवसायस्थानो के समाप्त होने पर उसी स्थितिबध के साथ दूसरा कषायस्थान हुआ। उसके भी अनुभागस्थान और योगस्थान भी पूर्ववत् समाप्त किये। पुन तीसरा कषायस्थान हुआ, उसके भी अनुभागस्थान और योगस्थान पूर्ववत् समाप्त किये। इस प्रकार समस्त कषायस्थानो के समाप्त हो जाने पर उस जीव ने एक समय अधिक अन्त कोटाकोटि सागर प्रमाण स्थितिबंध किया। उसके भी कषायस्थान, अनुभागस्थान और योगस्थान पूर्ववत् पूर्ण किये। इस प्रकार एक-एक समय बढाते बढाते ज्ञानावरण की तीस कोटाकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति पूर्ण की। इसी तरह जब वह जीव सभी मूल प्रकृतियो और उत्तर प्रकृतियो की स्थिति पूरी कर लेता है, तब उतने काल को भावपरिवर्तन कहते हैं।

इन सभी परिवर्तनो मे क्रम का ध्यान रखना चाहिए। अर्थात् क्रम से

जो क्रिया होती है, वह गणना मे नही ली जाती है। सूक्ष्म पुद्गल परावर्तो की जो व्यवस्था है, वही व्यवस्था यहाँ समझना चाहिये।

उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामियों का गोम्मटसार कर्मकांड में आगत वर्णन

दिगम्बर साहित्य गो० कर्मकाड मे भी प्रदेशबध के स्वामियो का वर्णन किया गया है। जो प्राय कर्मग्रन्थ के वर्णन से मिलता-जुलता है। तुलनात्मक अध्ययन मे उपयोगी होने से सबधित अश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबध के स्वामियो के बारे मे यह सामान्य नियम है कि उत्कृष्ट योगो सहित, सज्ञी पर्याप्त और थोडी प्रकृतियो का वध करने वाला जीव उत्कृष्ट प्रदेशबध तथा जघन्य योग वाला असज्ञी और अधिक प्रकृतियों का वध करने वाला जघन्य प्रदेशबध करता है।

सर्वप्रथम मूल प्रकृतियो के उत्कृष्ट वध का स्वामित्व गुणस्थानो मे कहते है—

> **आउक्कस्स पदेसं छक्कं मोहस्स णव दु ठाणाणि।**
> **सेसाण तणुकसाओ बंधदि उक्कस्सजोगेण ॥ २११**

आयुकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशवध छह गुणस्थानो के अनन्तर सातवे गुणस्थान मे रहने वाला करता है। मोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेशवध नौवें गुणस्थानवर्ती करता है और आयु व मोहनीय के सिवाय शेष ज्ञानावरण आदि छह कर्मो का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध उत्कृष्ट योग का धारक दसवें सूक्ष्मसपराय गुणस्थानवाला जीव करता है। यहाँ सभी स्थानो पर उत्कृष्ट योग द्वारा ही बन्ध जानना चाहिए।

उत्तर प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशवध का स्वामित्व इस प्रकार है—

> **सत्तर सुहुमसरागे पंचऽणियट्टिम्हि देसगे तदिय।**
> **अयदे बिदियकसायं होदि हु उक्कस्सदव्वं तु ॥२१२**
> **छण्णोकसायणिद्दापयलातित्थ च सम्मगो य जदी।**
> **सम्मो वामो तेरं णरसुरआउ असाद तु ॥२१३**
> **देवचउक्क वज्ज समचउर सत्थगमणसुभगतिय।**
> **आहारमप्पमत्तो सेसपदेसुक्कडो मिच्छो ॥२१४**

मतिज्ञानावरण आदि पाच, दर्शनावरण चार, अन्तराय पाच, यश कीर्ति, उच्चगोत्र और साता वेदनीय, इन सत्रह प्रकृतियो का दसवें सूक्ष्मसपराय गुणस्थान मे उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध होता है। नौवें अनिवृत्तिवादर गुणस्थान मे पुरुपवेदादि पाच का, तीसरा प्रत्याख्यानावरण कपाय चतुष्क का देशविरति नामक पाचवें गुणस्थान मे, दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का चौथे अविरत गुणस्थान मे उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध होता है। छह नोकपाय, निद्रा, प्रचला और तीर्थकर, इन नौ प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करता है तथा मनुष्यायु, देवायु, असाता वेदनीय, देवगति आदि देवचतुष्क, वज्रऋषभनाराच संहनन, समचतुरस्र सस्थान, प्रशस्त विहायोगति, सुभगत्रिक, इन तेरह प्रकृतियों का उत्कष्ट प्रदेशवन्ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि दोनो ही करते हैं। आहारकद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध अप्रमत्त गुणस्थान वाला करता है। इन चौवन प्रकृतियो के सिवाय शेष रही छियासठ प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट योगो से करता है।

उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध के स्वामियो का कथन करने के वाद अव जघन्य प्रदेशवन्ध के स्वामियो को वतलाते है। मूल प्रकृतियो के वन्धक के वारे मे वताया है कि—

सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स पढमे जहण्णये जोगे।
सत्तण्हं तु जहण्णं आउगवंधेवि आउस्स ॥२१५

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के अपने पर्याय के पहले समय मे जघन्य योगो से आयु के सिवाय सात मूल प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशवन्ध होता है। आयु का वन्ध होने पर उसी जीव के आयु का भी जघन्य प्रदेशवन्ध होता है। आयुकर्म का वन्ध सदैव नही होता रहता है इसीलिये आयुकर्म का अलग से कथन किया है। अर्थात् आठो कर्मो का जघन्य प्रदेशवन्ध सूक्ष्म-निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव करता है।

मूल प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशवन्ध वतलाने के वाद उत्तर प्रकृतियो के लिये कहते है कि—

घोलणजोगोऽसण्णी णिरयदुसुरणिरयआउगजहण्णं।
अपमत्तो आहारं अयदो तित्थं च देवचऊ ॥ २१६

घोटमान योगो (परावर्तमान योगों) का धारक असज्ञी जाव नरकद्विक, देवायु तथा नरकायु का जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। आहारकद्विक का अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती तथा चौथे अविरत गुणस्थान वाला (पर्याय के प्रथम समय मे जघन्य उपपाद योग का धारक) तीर्थंकर प्रकृति और देवचतुष्क, कुल पॉच प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। इन ग्यारह प्रकृतियो से शेष बची हुई १०९ प्रकृतियो के जघन्य प्रदेशबन्धक की विशेषता को बतलाते है—

चरिमअपुण्णभवत्थो तिविग्गहे पढमविग्गहम्मि ठिओ।
सुहमणिगोदो बंधदि सेसाण अवरबंधं तु ॥ २१७

लब्ध्यपर्याप्तक के ६०१२ भवो मे से अन्त के भव को धारण करने वाला और विग्रहगति के तीन मोडो मे से पहले मोड़ में स्थित सूक्ष्म निगोदिया जीव शेष रही १०९ प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबन्ध करता है।

कर्मग्रन्थ और गो० कर्मकांड, दोनो मे १०९ प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशबन्धक सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव माना है। कर्मग्रन्थ मे जन्म के प्रथम समय मे उसको बन्धक बतलाया, लेकिन गो० कर्मकाड मे लब्ध्यपर्याप्तक के ६०१२ भवो मे से अन्तिम भव को धारण करने वाले को बतलाया है।

गुणश्रेणि की रचना का स्पष्टीकरण

उदयक्षण से लेकर प्रतिसमय असख्यातगुणे-असख्यातगुणे कर्मदलिको की रचना को गुणश्रेणि कहते हैं। इस गुणश्रेणि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कर्मप्रकृति गा० १५ की टीका मे उपाध्याय यशोविजयजी ने लिखा है—

अधुना गुणश्रेणिस्वरूपमाह—यत्स्थितिकण्डकं घातयति तन्मध्याद्दलिकं गृहीत्वा उदयसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तचरमसमयं यावत् प्रतिसमयमसख्येयगुणनया निक्षिपति। उक्तं च—

उवरिल्लठिईहिंतो घित्तूणं पुग्गले उ सो खिवइ।
उदयसमयम्मि थोवे तत्तो अ असंखगुणिए उ॥
बीयम्मि खिवइ समए तइए तत्तो असंखगुणिए उ।
एवं समए समए अन्तमुहुत्तं तु जा पुन्नं॥

एषः प्रथमसमयगृहीतदलिकनिक्षेपविधिः। एवमेव द्वितीयादिसमय

गृहीतानामपि दलिकाना निक्षेपविधिर्द्रष्टव्य. । किञ्च गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमयादारभ्य गुणश्रेणिचरमसमय यावद् गृह्यमाण दलिक यथोत्तर-मसख्येय गुण द्रष्टव्यम् । उक्त च—

> दलियं तु गिण्हमाणो पढमे समयम्मि थोवयं गिण्हे ।
> उवरिल्लठिइहिंतो बियम्मि असंखगुणियं तु ॥
> गिण्हइ समए दलियं तइए समए असखगुणियं तु ।
> एवं समए समए जा चरिमो अंतसमओत्ति ॥

इहान्तर्मुहूर्तप्रमाणो निक्षेपकालो, दलरचनारूपगुणश्रेणिकालश्चा-पूर्वकरणानिवृत्तिकरणाद्धाद्विकात् किञ्चिदधिको द्रष्टव्य, तावत्कालमध्ये चाधस्तनोदयक्षणे वेदनत. क्षीणे शेषक्षणेषु दलिक रचयति, न पुनरुपरि गुण-श्रेणि वर्धयति । उक्त च—

> सेढीइ कालमाणं दुण्णयकरणाणसमहियं जाण ।
> खिज्जइ सा उदएणं जं सेसं तम्मि णिक्खेओ ॥

अर्थात् अब गुणश्रेणि का स्वरूप कहते है— जिस स्थितिकण्डक का घात करता है, उसमे से दलिको को लेकर उदयकाल से लेकर अन्तर्मुहूर्त के अतिम समय तक के प्रत्येक समय मे असख्यातगुणे-असख्यातगुणे दलिक स्थापन करता है । कहा भी है—

ऊपर की स्थिति से पुद्गलो को लेकर उदयकाल मे थोडे स्थापन करता है, दूसरे समय मे उससे असख्यातगुणे स्थापन करता है, तीसरे समय मे उससे असख्यातगुणे स्थापन करता है । इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल की समाप्ति के समयो मे असख्यातगुणे-असख्यातगुणे दलिक स्थापन करता है ।

यह प्रथम समय मे ग्रहण किये गये दलिको के निक्षेपण की विधि है । इसी तरह दूसरे आदि समयो मे ग्रहण किये गये दलिको के निक्षेपण की विधि जाननी चाहिए तथा गुणश्रेणि रचना के लिये प्रथम समय से लेकर गुणश्रेणि के अन्तिम समय तक उत्तरोत्तर असख्यातगुणे-असख्यातगुणे दलिक ग्रहण किये जाते है । कहा भी है —

ऊपर की स्थिति से दलिको का ग्रहण करते हुए प्रथम समय मे थोडे

दलिको को ग्रहण करता है, दूसरे समय मे उससे असंख्यातगुणे दलिको का ग्रहण करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल के अन्तिम समय तक असख्यात-गुणे असख्यातगुणे दलिको का ग्रहण करता है।

यह निक्षेपण करने का काल अन्तर्मुहूर्त है और दलिको की रचना रूप गुणश्रेणि का काल अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के कालो से कुछ अधिक जानना चाहिए। इस काल से नीचे-नीचे के उदयक्षण का अनुभव करने के वाद क्षय हो जाने पर वाकी के क्षणो मे दलिको की रचना करता है, किन्तु गुणश्रेणि को ऊपर की ओर नही वढाता है। कहा है—

'गुणश्रेणि का काल दोनो करणो के काल से कुछ अधिक जानना चाहिए। उदय के द्वारा उसका काल क्षीण हो जाता है, अत जो शेप काल रहता है, उसी मे दलिको का निक्षेपण किया जाता है।

पचसग्रह मे भी गुणश्रेणि का स्वरूप उपर्युक्त प्रकार वतलाया है। तत्-सवधी गाथा इस प्रकार है—

घाइयठिइओ दलियं घेत्तुं घेत्तुं असंखगुणणाए।
साहियदुकरणकाले उदयाइ रयइ गुणसेढि ॥७४६

अव लब्धिसार (दिगम्वर ग्रन्थ) के अनुसार गुणश्रेणि का स्वरूप नतलाते है—

उदयाणभावलिम्हि य उभयाणं वाहरम्मि खिवणट्ठं।
लोयाणमसंखेज्जो कमसो उक्कट्टणो हारो ॥६८

जिन प्रकृतियो का उदय पाया जाता है, उन्ही के द्रव्य का उदयावलि मे निक्षेपण होता है। उसके लिए असंख्यात लोक का भागाहार जानना और जिनका उदय और अनुदय है, उन दोनो के द्रव्य का उदयावलि से वाह्य गुणश्रेणि मे अथवा ऊपर की स्थिति मे निक्षेपण होता है, उसके लिए अपकर्षण भागा-हार (पल्य का असख्यातवा भाग) जानना चाहिए।

उक्कट्टिदइगिभागे पल्लासंखेण भाजिदे तत्थ।
वहुभागमिदं दव्वं उव्वरिल्लठिदीसु णिक्खवदि ॥ ६९

अपकर्षण भागाहार का भाग देने पर एक भाग मे पल्य के असख्यातवे

भाग का भाग दिया, उसमें से बहुभाग ऊपर की स्थिति मे निक्षेपण करता है।

सेसगभागे भजिदे असंखलोगेण तत्थ बहुभाग।
गुणसेढिए सिंचदि सेसेगं चेव उदयम्हि ॥७०

अवशेष एक भाग को असख्यात लोक का भाग देकर जो बहुभाग आये, उसको गुणश्रेणि आयाम मे और शेष एक भाग को उदयावलि मे देना चाहिए।

उदयावलिस्स दव्वं आवलिभजिदे दु होदि मज्झघणं।
रूउणद्धाणूणेण णिसेय हारेण ॥७१
मज्झिमघणमवहरिदे पचयं पचयं णिसेय हारेण।
गुणिदे आदि णिसेयं विसेसहीणं कमं तत्तो ॥७२

उदयावलि मे दिये गये द्रव्य मे आवली के समय प्रमाण का भाग देने पर मध्यघन होता है और उस मध्यघन को एक कम आवली प्रमाण गच्छ के आधे कम निषेकहार का भाग देने से चय का प्रमाण होता है। उस चय को निषेकहार से (दो गुणहानि से) गुणा करने पर आवली के प्रथम निषेक के द्रव्य का प्रमाण आता है। उससे द्वितीयादि निषेको मे दिये क्रम से एक-एक चय कर घटता प्रमाण लिये जानना चाहिये। वहाँ एक कम आवली मात्र चय घटने पर अतनिषेक मे दिये द्रव्य का प्रमाण होता है।

उक्कट्ठिदम्हि देहि हु असंखसमयप्पबंधमादिम्हि।
सखातीदगुणक्कम मसखहीणं विसेसहीणक्कमं ॥ ७३

गुणश्रेणि के लिये अपकर्षण किये द्रव्य को प्रथम समय की एक शलाका, उससे दूसरे समय की असंख्यात गुणी, इस तरह अंत समय तक असंख्यातगुणा क्रम लिए हुए जो शलाका, उनको जोड उसका भाग देने से जो प्रमाण आये उसको अपनी-अपनी शलाकाओं से गुणा करने से गुणश्रेणि आयाम के प्रथम निषेक मे दिया द्रव्य असंख्यात समयप्रबद्ध प्रमाण आता है। उससे द्वितीयादि निषेको मे द्रव्य क्रम से असंख्यातगुणा अंत समय तक जानना। प्रथम निषेक मे द्रव्य गुणश्रेणि के अंत निषेक मे दिये द्रव्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। प्रथम गुणहानि का द्वितीयादि निषेकों मे दिया द्रव्य चय घटता क्रम लिये हुए है।

गुणश्रेणी करने द्वितीयादि अंत पर्यन्त समयो मे समय-समय के प्रति असख्यातगुणा क्रम लिये द्रव्य को अपकर्षण करता है और संचित अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार उदयावलि आदि मे उसे निक्षेपण करता है। ऐसे आयु के बिना सात कर्मों का गुणश्रेणि विधान समय-समय मे होता है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि गुणश्रेणि रचना जो प्रकृतियां उदय में आ रही हैं उनमे भी होती है और जो उदय मे नही आ रही हैं उनमे भी होती है। अन्तर केवल इतना ही है कि उदयागत प्रकृतियो के द्रव्य का निक्षेपण तो उदयावली, गुणश्रेणी और ऊपर की स्थिति, इन तीनो मे ही होता है, किन्तु जो प्रकृतियां उदय मे नही होती हैं उनके द्रव्य का स्थापन केवल गुणश्रेणि और ऊपर की स्थिति मे ही होता है, उदयावली मे उनका स्थापन नही होता है। आशय यह है कि वर्तमान समय से लेकर एक आवली तक के समय मे जो निषेक उदय आने के योग्य हैं, उनमे जो द्रव्य दिया जाता है, उसे उदयावली मे दिया गया द्रव्य समझना चाहिये। उदयावली के ऊपर गुणश्रेणि के समयो के बराबर जो निषेक हैं, उनमे जो द्रव्य दिया जाता है, उसे गुणश्रेणि मे दिया गया समझना चाहिये। गुणश्रेणि से ऊपर के अंत के कुछ निषेको को छोड़कर शेष कर्मनिषेको मे जो द्रव्य दिया जाता है, उसे ऊपर की स्थिति में दिया गया द्रव्य समझना चाहिये। इसको मिथ्यात्व के उदाहरण द्वारा यो समझना चाहिये—

मिथ्यात्व के द्रव्य मे अपकर्षक भागाहार का भाग देकर, एक भाग बिना बहुभाग प्रमाण द्रव्य तो ज्यो का त्यो रहता है, शेष एक भाग को पल्य के असख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग का स्थापन ऊपर की स्थिति मे करता है। शेष एक भाग मे असख्यात लोक का भाग देकर गुणश्रेणि आयाम मे देता है, शेष एक भाग उदयावली मे देता है। इस प्रकार गुणश्रेणि रचना के लिये गुणाकाल के अंतिम समय पर्यन्त असख्यातगुणे असख्यातगुणे द्रव्य का अपकर्षण करता है और पूर्वोक्त विधान के अनुसार उदयावली, गुणश्रेणि-आयाम और ऊपर की स्थिति मे उस द्रव्य की स्थापना करता है। इस प्रकार आयु के सिवाय शेष सात कर्मों का गुणश्रेणि विधान जानना चाहिये।

गुणश्रेणि मे उत्तरोत्तर सख्यातगुणे सख्यातगुणे हीन-हीन समय मे

उत्तरोत्तर परिणामो की विशुद्धि की अधिकता होते जाने के कारण कर्मो की निर्जरा असंख्यातगुणी असख्यातगुणी अधिक-अधिक होती है, अर्थात् जैसे-जैसे मोहकर्म नि शेष होता जाता है वैसे-वैसे निर्जरा भी वढती जाती है और उसका द्रव्यप्रमाण असख्यातगुणा, असख्यातगुणा अधिकाधिक होता जाता है। फलत वह जीव मोक्ष के अधिक-अधिक निकट पहुँचता जाता है। जहाँ गुणाकार रूप से गुणित निर्जरा का द्रव्य अधिकाधिक पाया जाता है उनको गुणश्रेणि कहा जाता है और उन स्थानो मे होने वाली निर्जरा गुणश्रेणि निर्जरा कही जाती है।

गो० जीवकाड गा० ६६-६७ मे उक्त दृष्टि को लक्ष्य मे रखकर गुण श्रेणि का वर्णन किया है। यह वर्णन कर्मप्रकृति, पचसग्रह और कर्मग्रन्थ से मिलता-जुलता है। लेकिन इतना अतर है कि कर्मग्रन्थ आदि मे सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति, अनन्तानुवधी का विसयोजन, दर्शनमोह का क्षपक, चारित्रमोह का उपशमक, उपशातमोह, क्षपक, क्षीणमोह, सयोग केवली और अयोग केवली, ये ग्यारहगुणश्रेणि स्थान वतलाये है। लेकिन गो० जीवकाड, तत्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, तत्वार्थराजवार्तिक आदि ग्रन्थो मे सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन दोनो को अलग-अलग न मानकर जिन पद से दोनो का ग्रहण कर लिया है।

गो० जीवकाड की मूल गाथाओ मे गुणश्रेणि निर्जरा के दस स्थान गिनाये है, लेकिन टीकाकार ने ग्यारह स्थानो का उल्लेख करते हुये स्पष्ट किया है कि या तो सम्यक्त्वोत्पत्ति इस एक नाम से सातिशय मिथ्यादृष्टि और असयत सम्यग्दृष्टि, इस तरह दो भेदो का ग्रहण करके ग्यारह स्थानो की पूर्ति की जा सकती है अथवा ऐसा न करके सम्यक्त्वोत्पत्ति शब्द से एक ही स्थान लेना किन्तु अन्तिम जिन शब्द से स्वस्थानस्थित केवली और समुद्घातगत केवली, इन दो स्थानो का ग्रहण कर लेना चाहिये और स्वस्थान- [illegible] की अपेक्षा समुद्घात गत केवली के निर्जरा द्रव्य का प्रमाण [illegible] होता है।

इस प्रकार ग्यारह और दस गुणश्रेणि स्थान मानने मे [illegible] है।

गुणश्रेणी करने द्वितीयाद अत पर्यन्त समयो मे समय-समय के प्रति असख्यातगुणा क्रम लिये द्रव्य को अपकर्षण करता है और सचित अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार उदयावलि आदि मे उसे निक्षेपण करता है। ऐसे आयु के बिना सात कर्मो का गुणश्रेणि विधान समय-समय मे होता है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि गुणश्रेणि रचना जो प्रकृतियाँ उदय मे आ रही है उनमे भी होती है और जो उदय मे नही आ रही है उनमे भी होती है। अन्तर केवल इतना ही है कि उदयागत प्रकृतियो के द्रव्य का निक्षेपण तो उदयावली, गुणश्रेणी और ऊपर की स्थिति, इन तीनो मे ही होता है, किन्तु जो प्रकृतियां उदय मे नही होती है उनके द्रव्य का स्थापन केवल गुणश्रेणि और ऊपर की स्थिति मे ही होता है, उदयावली मे उनका स्थापन नही होता है। आशय यह है कि वर्तमान समय से लेकर एक आवली तक के समय मे जो निषेक उदय आने के योग्य है, उनमे जो द्रव्य दिया जाता है, उसे उदयावली मे दिया गया द्रव्य समझना चाहिये। उदयावली के ऊपर गुणश्रेणि के समयो के बराबर जो निषेक है, उनमे जो द्रव्य दिया जाता है, उसे गुणश्रेणि मे दिया गया समझना चाहिये। गुणश्रेणि से ऊपर के अत के कुछ निषेको को छोडकर शेष कर्मनिषेकों मे जो द्रव्य दिया जाता है, उसे ऊपर की स्थिति मे दिया गया द्रव्य समझना चाहिये। इसको मिथ्यात्व के उदाहरण द्वारा यो समझना चाहिये—

मिथ्यात्व के द्रव्य मे अपकर्षक भागाहार का भाग देकर, एक भाग बिना बहुभाग प्रमाण द्रव्य तो ज्यो का त्यो रहता है, शेष एक भाग को पल्य के असख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग का स्थापन ऊपर की स्थिति मे करता है। शेष एक भाग मे असख्यात लोक का भाग देकर गुणश्रेणि आयाम मे देता है, शेप एक भाग उदयावली मे देता है। इस प्रकार गुणश्रेणि रचना के लिये गुणाकाल के अतिम समय पर्यन्त असख्यातगुणे असख्यातगुणे द्रव्य का अपकर्षण करता है और पूर्वोक्त विधान के अनुसार उदयावली, गुणश्रेणि-आयाम और ऊपर की स्थिति मे उस द्रव्य की स्थापना करता है। इस प्रकार आयु के सिवाय शेप सात कर्मो का गुणश्रेणि विधान जानना चाहिये।

गुणश्रेणि मे उत्तरोत्तर सख्यातगुणे सख्यातगुणे हीन-हीन समय मे

सोलट्ठेविकग छक्क चवुसेक्क बादरे अदो एक्क ।
खीणे सोलसऽजोगे बायत्तरि तेरुवत्तंते ॥३३७

उसके नौ भागो मे से पाँच भागो मे क्रम से सोलह, आठ, एक, एक, छह प्रकृतियो का क्षय होता है अथवा सत्ता से व्युच्छिन्न होती है तथा शेष चार भागो मे एक-एक ही की सत्ता व्युच्छिन्न होती है। अनन्तर दसवे सूक्ष्म-सपराय गुणस्थान मे एक प्रकृति की व्युच्छित्ति होती है। ग्यारहवें गुणस्थान मे योग्यता नही होने से किसी भी प्रकृति का विच्छेद नहीं होता है और उसके बाद बारहवे क्षीणमोह गुणस्थान के अन्त समय मे सोलह प्रकृतियो की सत्ता व्युच्छिन्न होती है। सयोगी केवली गुणस्थान मे किसी भी प्रकृति की व्युच्छित्ति नही होती और अयोगी केवली—चौदहवें गुणस्थान के अन्त के दो समयो मे से पहले समय मे ७२ तथा दूसरे समय मे १३ प्रकृतियो का विच्छेद होता है।

प्रकृतियो के विच्छेद होने का स्पष्टीकरण इस प्रकार जानना चाहिये कि नौवें गुणस्थान के नौ भागो मे से पहले भाग मे नामकर्म की १३ प्रकृतिया | नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, विकलत्रिक, आतप, उद्योत, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर तथा दर्शनावरण की ३ प्रकृतियाँ—स्त्यानर्द्धित्रिक, कुल १६ प्रकृतिया क्षपण होती हैं। दूसरे भाग मे अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण चतुष्क—कुल आठ प्रकृतियो का, तीसरे भाग मे नपुसक वेद, चौथे भाग मे स्त्रीवेद, पाचवें भाग मे हास्यादि षट्क तथा छठे, सातवें, आठवें और नौवें भाग मे क्रमश पुरुषवेद, सज्वलन क्रोध, मान, माया का क्षपण होता है। इस प्रकार नौवे गुणस्थान मे ३६ प्रकृतिया व्युच्छिन्न होती हैं। दसवें सूक्ष्मसपराय गुणस्थान मे सज्वलन लोभ, बारहवें गुणस्थान मे ज्ञानावरण पाच, दर्शनावरण चार, अन्तराय पाच और निद्रा व प्रचला, इस प्रकार सोलह प्रकृतिया क्षय होती है, फिर सयोगिकेवली होकर [illegible] प्राप्त होता है और उसके उपान्त्य समय मे नाम, गोत्र, [illegible] प्रकृतियो का क्षय होता है और अन्त समय मे १३ प्रकृतियो का [illegible] [illegible] दशा प्राप्त हो जाती है। यो क्षपक श्रेणि का [illegible] है।

[illegible] केवली गुणस्थान के [illegible] समय मे किसी-किसी [illegible]

क्षपकश्रेणि के विधान का स्पष्टीकरण

क्षपकश्रेणि मे क्षय होने वाली प्रकृतियो के नाम कर्मग्रन्थ के अनुरूप आवश्यक निर्युक्ति गा० १२१-१२३ मे बतलाये है। गो० कर्मकाड मे क्षपक-श्रेणि का विधान इस प्रकार है—

> **णिरयतिरिक्खसुराउगसत्ते ण हि देससयलवदखवगा ।**
> **अयदचउक्क तु अणं अणियट्टीकरणचरिमम्हि ॥ ३३५**
> **जुगवं सजोगित्ता पुणोवि अणियट्टिकरणबहुभाग ।**
> **वोलिय कमसो मिच्छ मिस्स सम्मं खवेदि कमे ॥ ३३६**

अर्थात्—नरक, तिर्यच और देवायु के सत्व होने पर क्रम से देशव्रत, महाव्रत और क्षपक श्रेणि नही होती, यानी नरकायु का सत्व रहते देशव्रत नही होते, तिर्यचायु के सत्व मे महाव्रत नही होते और देवायु के सत्व मे क्षपक-श्रेणि नही होती है। अत क्षपक श्रेणि के आरोहक मनुष्य के नरकायु, तिर्यंचायु और देवायु का सत्व नही होता है तथा असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त सयत अथवा अप्रमत्त सयत मनुष्य पहले की तरह अध.करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करण करता है। अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय मे अनतानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का एक साथ विसयोजन करता है, उन्हे अप्रत्याख्यानावरण आदि बारह कषायो और नौ नोकषाय रूप परिणमाता है और उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त तक विश्राम करके दर्शनमोह का क्षपण करने के लिये पुन अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करता है। अनिवृत्तिकरण के काल मे से जब एक भाग काल बाकी रह जाता है और बहुभाग बीत जाता है, तब क्रमश. मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति का क्षपण करता है और इस प्रकार क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

इसके बाद चारित्रमोह का क्षपण करने के लिये क्षपक श्रेणि पर आरोहण करता है। सबसे पहले सातवें गुणस्थान मे अध करण करता है और उसके बाद आठवें गुणस्थान मे पहुँच कर पहले की ही तरह स्थितिखडन, अनुभाग-खडन आदि कार्य करता है। उसके बाद नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान मे पहुँच कर—

है कि १३ प्रकृतिया क्षय होती है और किन्ही का मत है कि १२ प्रकृतिया क्षय होती है। १३ प्रकृतियो का क्षय मानने वाले अपने मत को इस प्रकार स्पष्ट करते है कि तद्भवमोक्षगामी के अतिम समय मे आनुपूर्वी सहित तेरह प्रकृतियो की सत्ता उत्कृष्ट रूप से रहती है और जघन्य से तीर्थंकर प्रकृति के सिवाय शेप बारह प्रकृतियो की सत्ता रहती है। इसका कारण यह है कि मनुष्यगति के साथ उदय को प्राप्त होने वाली भवविपाकी मनुष्यायु क्षेत्रविपाकी मनुष्यानुपूर्वी, जीवविपाकी शेप नौ प्रकृतिया तथा साता या असाता मे से कोई एक वेदनीय, उच्च गोत्र, ये तेरह प्रकृतियाॅ तद्भवमोक्ष-गामी जीव के अतिम समय मे क्षय को प्राप्त होती है, द्विचरम समय मे नष्ट नही होती है। अत तद्भव मोक्षगामी के अंतिम समय मे उत्कृष्ट तेरह प्रकृतियो की और जघन्य बारह प्रकृतियो की सत्ता रहती है।

लेकिन चौदहवें गुणस्थान के अतिम समय मे बारह प्रकृतियो का क्षय मानने वालो का कहना है कि मनुष्यानुपूर्वी का क्षय द्विचरम समय मे ही हो जाता है, क्योकि उसके उदय का अभाव है। जिन प्रकृतियो का उदय होता है, उनमे स्तिबुकसक्रम न होने से अंत समय मे अपने-अपने स्वरूप से उनके दलिक पाये जाते है जिससे उनका चरम समय मे सत्ताविच्छेद होना युक्त है। किन्तु चारो ही आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी होने के कारण दूसरे भव के लिये गति करते समय ही उदय मे आती है अत भव मे जीव को उनका उदय नही हो सकता है और उदय न हो सकने से अयोगि अवस्था के द्विचरम समय मे ही मनुष्यानुपूर्वी की सत्ता का क्षय हो जाती है।

इस प्रकार के मतान्तर मे अधिकतर अयोगिकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय मे ७२ और अत समय मे १३ प्रकृतियो के क्षय को प्रमुख माना है। पचम कर्मग्रन्थ की टीका मे ७२ + १३ का ही विधान किया है और गो० कर्मकांड गा० ३४१ मे भी ऐसा ही लिखा है —'उदयगवार णराणू तेरस चरिमम्हि वोच्छिण्णा' अर्थात् उदयगत १२ प्रकृतियाँ और एक मनुष्यानुपूर्वी, इस प्रकार तेरह प्रकृतियाँ अयोगी केवली के अत के समय मे अपनी सत्ता से छूटती हैं।

सक्षेप मे क्षपक श्रेणि का यह विधान समझना चाहिये।

पञ्चम कर्मग्रन्थ की गाथाओं की अकारादि-अनुक्रमणिका

गाथा	पृ० सं०	गाथा	पृ० सं०
अणदसनपु सित्थी	३७१	घणघाइ दुगोय जिणा	७४
अणमिच्छमीससम्म	३८६	चउठाणाइ असुहा	२२४
अपढमसंघयणागिइ	२०८	चउतेयवन्नवेयणिय	२५८
अपमाइ हारगदुगं	२४६	चउदस रज्जू लोओ	३६२
अपजत्ततसुक्कोसो	१९९	चउभेओ अजहन्तो	१८०
अप्पयरपयडिबंधी	३३४	चालीस कसाएसु	१२४
अयमुक्कोसो गिंदिसु	१४९	छगपु संजलणादो	३८६
अविरय सम्मो तित्थ	१६०	जइलहुबंधो बायर	१८७
असुखगइजाइ आगिइ	२१६	जलहिसय पणसीय	२१६
आहारमत्तग वा	४२	तणुवगागिइ संघयण	१४
इगिकक्कहिया सिद्धा	२७६	तणु अट्ठ वेय दुजुयल	६९
इगविगलपुव्वकोडिं	१३७	तत्तो कम्मपएसा	३५४
उक्कोसमजहन्नेयर	१७६	तमतमगा उज्जोय	२३९
उद्धारअद्धखित्त	३१३	तसवन्नतेयचउ	२५५
उरलाइमत्तगेण	३२३	तसवन्नवीस सगतेय	३६
एगपएसो गाढ	२७८	तिपण छ अट्ठ नवहिया	१०७
एगादहिगे भूओ	९४	तिरिउरलदुगुज्जोय	१७०
एमेव विउव्वाहार	२६९	तिरिदुगनिअं तमतमा	२५०
अंतिम चउफास दुगंध	२७८	तिरिनिरयतिजोयाण	२०८
[illegible]जुयलावरणा	५२	तिव्वमिगथावरायव	२३६
[illegible] तिरिदुग नीय	३६	तिव्वो असुहसुहाण	२१४
गुणसेढी दलरयणा	३०१	तो जइजिट्ठो बंधो	१८७
गुरु कोडिकोडि अंतो	१३२	थावरदसवन्नचउक्क	६३

थिर सुभियर विणु २६
थीणतिग अणमिच्छ २४३
दसणछगभयकुच्छा ३४८
दव्वे खित्ते काले ३२३
दस सुहविहगइ उच्चे १२६
दो इगमासो पक्खो १४४
नपुकुखगइसासचउ १२७
नमिय जिण धुवबधो १
नव छ चउ दसे ९४
नामधुववधिनवग ६७
नाम धुवोदय चउतणु ७६
निबुच्छुरमो सहजो २३३
निद्दापयला दुजुयल ३४१
निमिण थिर अथिर अगुरुय २६
नियजाइलद्धदलिया २८९
पइखणमसखगुण २०६
पढमविया धुवउदइसु २२
पढम तिगुणेसु मिच्छ ४२
पण अनियट्टी सुखगइ ३४१
पणसट्ठिसहस्स पणसय १५७
पलियासखसमूह ३०९
बायालपुन्नपगइ ६३
भयकुच्छअरइ सोए १२७
मिच्छ अजयचउ आऊ ३३६
मुत्तु अकसायठिइ ११५
मूलपयडीण अट्ठ ८८
लहु ठिइ बंधो मजलण १४३
लहु बिय पज्ज अपज्जे १८७
लोगपएसो सप्पिणि ३२३
वन्न चउतेयकम्मा ९
विउव्विसुराहारदुग २३९
विगलसुहुमाउगतिग १६८
विगलिअसन्निसु जिट्ठो १४९
विग्घावरणअसाए १२२
विग्घावरणे सुहुमो २४८
विग्घावरणे मोहे २८५
विजयाइसु गेविज्जे २१४
वीसयरकोडिकोडी ११५
संजलण नोकसाया ५२
सत्तरस ममहिया किर १७५
समयादसखकाल २१६
समयादंतमुहुत्त २१६
सम्मदरसव्वविरई २९७
सव्वाणवि लहुबंधे १५४
सव्वाणवि जिट्ठठिई १९६
साणाइ अपुव्वते १८४
सायजसुच्चावरणा १७०
सासणमीसेसु धुवमीस ४२
सुमुणी दुन्नि असन्नी ३४४
सुरनरतिगुच्च साय ६२
सुहुमनिगोयाइखण १९३
सेढिअसखिज्जसे ३९५
सेसम्मि दुहा २५८
हासाइजुयलदुगवेय १४

श्रीमरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति,

(प्रवचन प्रकाशन विभाग)

सदस्यों की शुभ नामावली

विशिष्ट सदस्य

१ श्री घीसुलाल जी मोहनलाल जी सेठिया, मैसूर
२ श्री वच्छराज जी जोधराज जी सुराणा, सेला, (सोजत-सिटी)
३ श्री रेखचन्द जी साहब राका, मद्रास (वगडी-नगर)
४ श्री वलवतराज जी खाटेड, मद्रास (वगडी-नगर)
५ श्री नेमीचन्द जी बाँठिया, मद्रास (वगड़ी-नगर)
६ श्री मिश्रीलाल जी लूंकड, मद्रास (वगडी-नगर)
७ श्री माणकचन्द जी कात्रेला, मद्रास (वगडी-नगर)
८ श्री रतनलाल जी केवलचन्द जी कोठारी मद्रास (निम्बोल)
९ श्री अनोपचन्द जी किशनलाल जी बोहरा, अटपडा
१० श्री गणेशमल जी खींवसरा, मद्रास (पूजलू)
११ शा० रतनलाल जी पारसमल जी चतर, चतर एण्ड कम्पनी, ब्यावर
१२ शा० वस्तीमल जी बोहरा C/o सिरेमल जी धुलाजी,
गाणों की गली उदयपुरिया बाजार, पाली
१३ शा० आनन्दचन्द जी भैरुलाल जी राका, सिकन्द्राबाद, ([illegible])
१४ शा० पूनमचन्द जी अभयराज जी बोकडिया, बुलन्दा (मारवाड़)
१५ शा० चम्पालाल जी कन्हैयालाल जी छलाणी, [illegible], मद्रास
१६ शा० कानूराम जी हस्तीमल जी मुथा, [illegible]

प्रथम श्रेणी

१ [illegible]
२ [illegible]
३ [illegible]

४ शा० चम्पालाल जी डूंगरवाल, नगरथपेठ, बेंगलोर सिटी (करमावास)
५ शा० कामदार प्रेमराज जी, जुमामस्जिद रोड, बेंगलोर सिटी (चावंडिया)
६ शा० चादमल जी मानमल जी पोकरना, पेरम्बूर मद्रास, ११ (चावंडिया)
७ जे० वस्तीमल जी जैन, जयनगर, बेंगलोर ११ (पूजलू)
८ शा० पुखराज जी सीसोदिया, ब्यावर
९ शा० वालचंद जी रूपचद जी वाफना,
११८/१२० जवेरी बाजार वम्बई–२ (सादड़ी निवासी)
१० शा० वालावगस जी चंपालाल जी बोहरा, राणीवाल
११ शा० केवलचद जी सोहनलाल जी बोहरा राणीवाल
१२ शा० अमोलकचंद जी धर्मीचंद जी आच्छा, वड़ाकाचीपुरम्, मद्रास (सोजत रोड)
१३ शा० भूरमल जी मीठालाल जी वाफना, तिरकोयलूर, मद्रास (आगेवा)
१४ शा० पारसमल जी कावेडिया, आरकाट, मद्रास (सादड़ी)
१५ शा० पुखराज जी अनराज जी कटारिया, आरकोनम्, मद्रास (सेवाज)
१६ शा० सिमरतमल जी संखलेचा, मद्रास (बीजाजी का गुड़ा)
१७ शा० प्रेमसुख जी मोतीलाल जी नाहर, मद्रास (कालू)
१८ शा० गूदडमल जी शांतिलाल जी तलेसरा, एनावरम्, मद्रास
१९ शा० चपालाल जी नेमीचद, जवलपुर, (जैतारण)
२० शा० रतनलाल जी पारसमल जी चतर, ब्यावर
२१ शा० सम्पतराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, कूपल (मारवाड़-मादलिया)
२२ शा० हीराचंद जी लालचद जी धोका, नक्शाबाजार, मद्रास
२३ शा० नेमीचंद जी धर्मीचद जी आच्छा, चंगलपेट, मद्रास
२४ शा० एच० घीसुलाल जी, पोकरना, एण्ड सन्स, आरकाट—N.A.D.T. (वगड़ी-नगर)
२५ शा० घीसुलाल जी पारसमल जी सिंघवी, चागलपेट, मद्रास
२६ शा० अमोलकचंद जी भवरलाल जी विनायकिया, नक्शावाजार, मद्रास
२७ शा० पी० बीजराज नेमीचद जी धारीवाल, तीरुवेलूर
२८ शा० रूपचद जी माणकचद जी बोरा, वुशी
२९ शा० जेठमल जी राणमल जी सर्राफ, वुशी
३० शा० पारसमल जी सोहनलाल जी सुराणा कुंभकोणम्, मद्रास

३१ शा० हस्तीमल जी मुणोत, पॉटमार्केट सिकन्द्राबाद (आन्ध्र)
३२ शा० देवराज जी मोहनलाल जी चौधरी, तीरुकोईलूर, मद्रास
३३ शा० वच्छराज जी जोधराज जी सुराणा, सोजतसिटी
३४ शा० गेवरचन्द जी जसराज जी गोलेछा, बेंगलोर सिटी
३५ शा० डी० छगनलाल जी नौरतमल जी बब, बेंगलोर सिटी
३६ शा० एम० मंगलचंद जी कटारिया, मद्रास
३७ शा० मगलचंद जी दरडा C/o मदनलाल जी मोतीलाल जी,
शिवराम पैठ, मैसूर
३८ पी० नेमीचन्द जी धारीवाल, N क्रास रोड, राबर्टसन पेठ, K.G.F.
३९ शा० चम्पालालजी प्रकाशचन्द जी छलाणी न० ५७ नगरथ पैठ, बेंगलोर–२
४० शा० आर. विजयराज जागड़ा, न० १ क्रास रोड, राबर्टसन पेट K.G F.
४१ शा० गजराज जी छोगमल जी, ११५३, रविवार पेठ पूना
४२ श्री पुखराज जी किशनलाल जी तातेड, पॉट-मार्केट, सिकन्द्राबाद—A.P.
४३ श्री केसरीमल जी मिश्रीमल जी आच्छा, वालाजाबाद, मद्रास
४४ श्री कालूराम जी हस्तीमल जी मूथा, गाँधीचौक रायचूर
४५ श्री बस्तीमल जी बोहरा C/o सीरेमल जी धुलाजी गाणो की गली, उदय-
पुरिया बाजार, पाली
४६ श्री सुकनराज जी भोपालचद जी पगारिया, चिकपेट, बेंगलोर
४७ श्री बिरदीचद जी लालचद जी मरलेचा, मद्राम
४८ श्री उदयराज जी केवलचद जी बोहरा, मद्राम (वर)
४९ श्री भंवरलाल जी जबरचद जी दूगड, कुरडारा
५० शा० मदनचद जी देवराज जी दरडा, १२ रामानुजम् अयर स्ट्रीट,
मद्रास १
५१ शा० मोहनलाल जी दूगड, ३७ [illegible] पीले-स्ट्रीट, [illegible] पेट, मद्रास-१
५२ शा० धनराज जी केवलचन्द जी, ५ पुदुपेट स्ट्रीट, आलन्दूर, मद्रास १६
५३ शा० जेठमल जी चोरडिया C/o महावीर [illegible] हाउस न [illegible] [illegible]
टेम्पल-स्ट्रीट ५ वा क्रोस आरकाट श्रीनिवासाचारी रोड, पो० [illegible],
बैंगलोर ५३
५४ शा० सुरेन्द्र कुमार जी गुलाबचन्द जी मोदी [illegible] पो० मोदी, [illegible]
([illegible]राष्ट्र)

५५ शा० मिश्रीलाल जी उत्तमचन्द जी ४२४/३ चीकपेट-बैंगलोर २ A.
५६ शा० एच० एम० कांकरिया २९९, O.P.H. रोड, बैंगलोर १
५७ शा० सन्तोषचद जी प्रेमराज जी सुराणा मु० पो० मनमाड़ जि० नासिक (महाराष्ट्र)
५८ शा० जुगराज जी जवाहरलाल जी नाहर, नेहरू बाजार नं० १६ श्रीनिवास अयर स्ट्रीट, मद्रास १
५९ मदनलाल जी रांका (वकील), ब्यावर
६० पारसमल जी रांका C/o वकील भंवरलाल जी रांका, ब्य
६१ शा० धनराज जी पन्नालाल जी जांगड़ा नयामोडा, ज ल
६२ शा० एम० जवाहरलाल जी वोहरा ६९ स्वामी ... पेट, मद्रास २
६३ शा० नेमीचद जी आनन्दकुमार जी राका C/o जोहर जैन, बापूजी रोड, सलूरपेठ (A. P)
६४ शा० जुगराज जी पारसमल जी छोदरी, २५ न पुडुपेट मद्रास २
६५ चैनराज जी सुराणा गाधी वाजार, शिमोगा (कर्ना
६६ पी० वस्तीमल जी मोहनलाल जी वोहरा (जाडण) (K.G F.)
६७ सरदारमल जी उमरावमल जी
६८ चपाराम जी मीठालाल जी सकले
६९ पुखराज जी ज्ञानचद जी मुणोत, मद्र
७० सपतराज जी प्यारेलाल जी जैन, म
७१ चंपालाल जी उत्तमचंद जी गाधी ज
७२ पुखराज जी किशनलाल जी तातेड,
७३ श्रीमान् शा० चेनराजी सुराना वर्व सीमोगा (कर्नाटक)
७४ शा० वस्तीमल जी मोहनलाल जी रावर्टसन पेट (K.G F)
७५ श्रीमान् शा० सरदारमल जी उमर जोधपुर

७६ शा० चपालाल जी मीठालाल जी सकलेचा (वलून्दा) ट्रान्सपोर्ट प्रा० लि० जालना, महाराष्ट्र

७७ शा० पुखराज जी ज्ञानचद जी मुणोत C/o F, पुखराज जैन No. 168 वेलावरी रोड, ताम्बरम, मद्रास 59

७८ शा० संपतराज जी प्यारेलाल जी जैन No 3 बाबुस्वामी स्ट्रीट नैगननुर, मद्रास 61

७९ शा० C. चपालाल जी उत्तमचद जी गांधी (जवाली) ज्वेलरी मर्चेन्ट No C. 114 T. H. रोड, मद्रास

८० शा० पुखराज जी किशनलाल जी तातेड, पोट मार्केट सिकन्द्राबाद A. P.

८१ शा० लालचद जी भवरलाल जी सचेती जुरोकावास, पाली, (राजस्थान)

८२ शा० जी० सुवालाल जी महावीरचद जी करणावट, जमनगर (केकिन्द)

८३ शा० सुगराजी चादमल जी गुगलीया, जमनगर (केकिन्द)

८४ श्रीमान् शा० सुगनचंद जी गणेशमल जी भडारी (निम्बाज) बेंगलोर

८५ श्री डी० कचरूलाल जी कर्णावट अचरापाकम, मद्रास

८६ श्री जवरीलाल जी पारसमल जी वालिया मु० पाली (राजस्थान)

८७ श्री चुन्नीलाल जी कन्हैयालाल जी दुधेरिया भुवानगिरि, मद्रास

द्वितीय श्रेणी

१ श्री लालचंद जी श्री श्रीमाल, ब्यावर

२ श्री सूरजमल जी इन्दरचद जी सकलेचा, जोधपुर

३ श्री गुलाबलाल जी प्रकाशचद जी सम्बरिया, चौधरी चौर, कटक

४ श्री नेमचन्द जी रानडिया, रावर्टसनपेठ

५ श्री धनराजसमल जी अमलचद जी सोवनगा ताम्बरम्, मद्रास

६ श्री स्नेहमल जी नागचन्द जी सोवनगा, बीराली

७ श्री गणेशमल जी मदनलाल जी भडारी, सीमली

८ श्री नागचन्द जी सुलेचा, ब्यावर

५५ शा० मिश्रीलाल जी उत्तमचन्द जी ४२४/३ चीकपेट-बैंगलोर २ A.
५६ शा० एच० एम० कांकरिया २९९, OPH. रोड, बैंगलोर १
५७ शा० सन्तोषचंद जी प्रेमराज जी सुराणा मु० पो० मनमाड जि० नासिक (महाराष्ट्र)
५८ शा० जुगराज जी जवाहरलाल जी नाहर, नेहरू बाजार नं० १६ श्रीनिवास अयर स्ट्रीट, मद्रास १
५९ मदनलाल जी रांका (वकील), ब्यावर
६० पारसमल जी राका C/o वकील भवरलाल जी राका, ब्यावर
६१ शा० धनराज जी पन्नालाल जी जांगड़ा नयामोडा, जालना (महाराष्ट्र)
६२ शा० एम० जवाहरलाल जी बोहरा ६९ स्वामी पण्डारम् स्ट्रीट, चीन्ताधरपेट, मद्रास २
६३ शा० नेमीचंद जी आनन्दकुमार जी रांका C/o जोहरीलाल जी नेमीचंद जी जैन, बापूजी रोड, सलूरपेठ (A. P.)
६४ शा० जुगराज जी पारसमल जी छोदरी, २५ नारायण नायकन स्ट्रीट, पुडुपेट मद्रास २
६५ चैनराज जी सुराणा गाधी बाजार, शिमोगा (कर्नाटक)
६६ पी० वस्तीमल जी मोहनलाल जी बोहरा (जाडण), रावर्टसन पेठ (K.G.F.)
६७ सरदारमल जी उमरावमल जी सचेती, सरदारपुरा (जोधपुर)
६८ चंपाराम जी मीठालाल जी सकलेचा, जालना (महाराष्ट्र)
६९ पुखराज जी ज्ञानचद जी मुणोत, मद्रास
७० संपतराज जी प्यारेलाल जी जैन, मद्रास
७१ चपालाल जी उत्तमचंद जी गाधी जवाली, मद्रास
७२ पुखराज जी किशनलाल जी तातेड, सिकन्दराबाद (रायपुर वाले)
७३ श्रीमान् शा० चेनराजी सुराना वर्धमान क्लोथ स्टोर, गाधी बाजार, सीमोगा (कर्नाटक)
७४ शा० वस्तीमल जी मोहनलाल जी बोहरा जाडण No 1, क्रासरोड रावर्टसन पेट (K.G F)
७५ श्रीमान् शा० सरदारमल जी उमरावमल जी सचेती, सरदारपुरा, जोधपुर

७६ शा० चंपालाल जी मीठालाल जी सकलेचा (वलून्दा) ट्रान्सपोर्ट प्रा० लि० जालना, महाराष्ट्र

७७ शा० पुखराज जी ज्ञानचंद जी मुणोत C/o F, पुखराज जैन No 168 वेलावरी रोड, ताम्बरम, मद्रास 59

७८ शा० संपतराज जी प्यारेलाल जी जैन No 3 वावुस्वामी स्ट्रीट नैगनलुर, मद्रास 61

७९ शा० C. चपालाल जी उत्तमचद जी गाधी (जवाली) ज्वेलरी मर्चेन्ट No. C. 114 T. H. रोड, मद्राम

८० शा० पुखराज जी किशनलाल जी तातेड, पोट मार्केट सिकन्द्राबाद A. P

८१ शा० लालचद जी भवरलाल जी सचेती सुरोकावास, पाली. (राजस्थान)

८२ शा० जी० सुवालाल जी महावीरचद जी करणावट, जगनगर (केकिन्द)

८३ शा० सुवराजी चादमल जी गुगलीया, जगनगर (केकिन्द)

८४ श्रीमान् शा० सुगनचंद जी गणेशमल जी भडारी (निम्बाज) बेंगलोर

८५ श्री डी० कचरुलाल जी कर्णावट अचरापाकम, मद्रास

८६ श्री जवरीलाल जी पारसमल जी बालिया गु० पाली (राजस्थान)

८७ श्री चुन्नीलाल जी कन्हैयालाल जी दुधेरिया भुवानगिरि, मद्रास

द्वितीय श्रेणी

१ श्री लालचद जी श्री श्रीमाल, ब्यावर

२ श्री सूरजमल जी उन्दरचद जी सकलेचा, जोधपुर

३ श्री सुमालाल जी प्रकाशचद जी नम्बरिया, चौधरी गाँव, कटक

४ श्री भेवरचद जी रातड़िया, राबर्टसनपेट

५ श्री जगनाथरमल जी अनराचद जी गोदरान ताम्बरम्, मद्रास

६ श्री टोलमल जी मानचन्द जी गोदमल, वीपारी

७ श्री गणेशमल जी मदनलाल जी भडारी नीमली

८ श्री माणकचद जी सुराना, ब्यावर

९

१३ श्री जुगराज जी मुणोत, मारवाड जंकशन
१४ श्री रतनचद जी शान्तीलाल जी मेहता, सादड़ी (मारवाड)
१५ श्री मोहनलाल जी पारसमल जी भडारी, बिलाडा
१६ श्री चपालाल जी नेमीचंद जी कटारिया, बिलाडा
१७ श्री गुलाबचंद जी गभीरमल जी मेहता, गोलवड
[तालुका डेणु—जिला थाणा (महाराष्ट्र)]
१८ श्री भवरलाल जी गौतमचंद जी पगारिया, कुशालपुरा
१९ श्री चनणमल जी भीकमचंद जी राका, कुशालपुरा
२० श्री मोहनलाल जी भवरलाल जी बोहरा, कुशालपुरा
२१ श्री सतोकचद जी जवरीलाल जी जामड़,
१४६ बाजार रोड, मदरान्तकम्
२२ श्री कन्हैयालाल जी गादिया, आरकोणम्
२३ श्री धरमीचंद जी ज्ञानचद जी मूथा, वगडानगर
२४ श्री मिश्रीमल श्री नगराज जी गोठी, बिलाडा
२५ श्री दुलराज इन्दरचद जी कोठारी
११४ तैयप्पा मुदली स्ट्रीट, मद्रास-१
२६ श्री गुमानलाल जी मागीलाल जी चौरडिया चिन्ताधरी पैंठ मद्रास-१
२७ श्री सायरचद जी चौरडिया, ६० एलीफेन्ट गेट मद्रास-१
२८ श्री जीवराज जी जवरचद जी चौरडिया, मेडतासिटी
२९ श्री हजारीमल जी निहालचद जी गादिया १६२ कोयम्बतूर, मद्रास
३० श्री केसरीमल जी झूमरलाल जी तलेसरा, पाली
३१ श्री धनराज जी हस्तीमल जी आच्छा, मु० कावेरी पाक
३२ श्री सोहनराज जी शान्तिप्रकाश जी सचेती, जोधपुर
३३ श्री चपालाल जी भवरलाल जी सुराना, कालाऊना
३४ श्री मागीलाल जी शकरलाल जी भसाली,
२७ लक्ष्मीअमन कोयल स्ट्रीट, पैरम्बूर मद्रास-१२
३५ श्री हेमराज जी शान्तिलाल जी सिंघी,
११ बाजार रोड, राय पेठ मद्रास-१४
३६ शा० अम्बूलाल जी प्रेमराज जी जैन, गुडियातम
३७ शा० रामसिंह जी चौधरी, ब्यावर

३८ शा० प्रतापमल जी मगराज जी मलकर—केसरीसिंह जी का गुड़ा
३९ शा० संपतराज जी चौरडिया, मद्रास
४० शा० पारसमल जी कोठारी, मद्रास
४१ शा० भीकमचन्द जी चौरड़िया, मद्रास
४२ शा० शान्तिलाल जी कोठारी, उतशेटे
४३ शा० जव्वरचद जी गोकलचंद जी कोठारी, ब्यावर
४४ शा० जवरीलाल जी धरमीचंद जी गादिया, लाविया
४५ श्री सेसमल जी धारीवाल, बगड़ीनगर (राज०)
४६ जे० नौरतमल जी वोहरा, १०१८ के० टी० स्ट्रीट, मैसूर-१
४७ उदयचद जी नौरतमल जी मूथा
C/o हजारीमल जी विरधीचद जी मूथा, मेवाडी वाजार ब्यावर
४८ हस्तीमल जी तपस्वीचंद जी नाहर, पो० कौसाना (जोधपुर)
४९ श्री आर० पारसमल जी लुणावत ४१-बाजार रोड, मद्रास
५० श्री मोहनलाल जी मीठालाल जी, बम्बई-२
५१ श्री पारसमल जी मोहनलाल जी पोरवाल, बेगलोर
५२ श्री मीठालाल जी ताराचद जी छाजेड, मद्रास
५३ श्री अनराज जी शान्तिलाल जी विनायकिया, मद्रास-११
५४ श्री चादमल जी लालचद जी ललवाणी, मद्रास-१४
५५ श्री लालचंद जी तेजराज जी ललवाणी, तिरुवोलूर
५६ श्री गुगनराज जी गौतमचद जी जैन, तमिलनाडु
५७ श्री के० मागीलाल जी कोठारी, मद्रास-१६
५८ श्री एन० जवरीलाल जी जैन, मद्रास-५२
५९ श्री केसरीमल जी जुगराज जी सिंघवी, बेंगलूर-१
६० श्री गुणराज जी शान्तिलाल जी [illegible], [illegible]
६१ श्री पुखराज जी जुगराज जी कोठारी, मु० पो० [illegible]
६२ श्री भंवरलाल जी [illegible] जी [illegible], मद्रास
६३ श्री [illegible] जी [illegible], [illegible]
६४ श्री [illegible] जी [illegible] जी [illegible], मद्रास
६५ श्री [illegible] जी [illegible] जी चोरडिया, [illegible]
६६ श्री [illegible] जी [illegible] जी [illegible], [illegible]

६७ श्री जैवंतराज जी सुगमचद जी वाफणा, वेंगलोर (कुशालपुरा)
६८ श्री घेवरचद जी भानीराम जी चाणोदिया, मु० इसाली
६९ शा० नेमीचद जी कोठारी न० १२ रामानुजम अयर स्ट्रीट मद्रास-१
७० शा० मागीलाल जी सोहनलाल जी रातडीआ C/o नरेन्द्र एथर्टरी कस स्टोर, चीकपेट, वेंगलोर-४
७१ शा० जवरीलाल जी सुराणा अलन्दुर, मद्रास १६
७२ शा० लुमचंद जी मगलचद जी तालेडा अशोका रोड, मैसूर
७३ शा० हसराजजी जसवतराजजी सुराणा मु० पो० सोजतसिटी
७४ शा० हरकचदजी नेमीचदजी भनसाली मु० पो० घोटी जि० ईगतपुरी (नासिक, महाराष्ट्र)
७५ शा० समीरमलजी टोडरमलजी छोदरी फलो का वास मु० पो० जालोर
७६ शा० बी० सजनराजजी पीपाड़ा मारकीट कुनुर जि० नीलगिरी (मद्रास)
७७ शा० चम्पालालजी कान्तीलालजी अन्ड० कुन्टे नं० ४५८९७७/१४१ भवानी शकर रोड, वीसावा बिल्डिग, दादर, वोम्बे नं० २८
७८ शा० मिश्रीमलजी बीजेराजजी नाहर मु० पो० वायद जि० पाली (राज०)
७९ शा० किसोरचदजी चादमलजी सोलकी C/o K. C. Jain 14 M. C. Lain. II Floor 29 Cross Kilai Road, Banglore 53.
८० शा० निरमलकुमारजी मागीलालजी खीवसरा ७२, धनजी स्ट्रीट पारसी गली, गनपत भवन, वम्वई ३
८१ श्रीमती सोरमबाई, धर्मपत्नी पुकराजजी मुनोत मु० पो० राणावास
८२ शा० एच० पुकराजजी जैन (वोपारी) मु० पो० खरताबाद, हैदरावाद ५०००४
८३ शा० सुगालचदजी उत्तमचंदजी कटारीया रेडीलस, मद्रास ५२
८४ शा० जवरीलालजी लुकड (कोटडी) C/o घमडीराम सोहनराज एण्ड क० ४८६/२ रेवडी वाजार अहमदावाद-२
८५ शा० गौतमचदजी नाहटा (पीपलिया) न० ८, वाद्रु पलीयार कोयल स्ट्रीट, साहुकार पेट, मद्रास १
८६ शा० नथमलजी जवरीलालजी जैन (पटारीक्रमावस) वस स्टेण्ड रोड यहलका वेंगलोर (नार्थ)

८७ शा० मदनलालजी छाजेड़ मोती ट्रेडर्स १५७ ओपनकारा स्ट्रीट, कोयम्बतूर (मद्रास)

८८ शा० सीमरथमलजी पारसमलजी कातरेला जूना जेलखाना के सामने सिकन्दराबाद (A. P.)

८९ शा० एम० पुकराजजी एण्ड कम्पनी क्रास बाजार दूकान नं० ६, कुनूर (नीलगिरी)

९० शा० चम्पालालजी मूलचंदजी नागोतरा सोलंकी मु० पोस्ट—रांणा बायापाली (राजस्थान)

९१ शा० वस्तीमलजी सम्पतराजजी खारीवाल (पाली)
C/o लक्ष्मी इलैक्ट्रीकल्स न० ९५ नेताजी सुभाषचद रोड, मद्रास १

९२ माणकचदजी ललवानी (मेड़तासिटी) मद्रास

९३ मागीलालजी टीपरावत (टाकरवाम) मद्रास

९४ सायरचंदजी गाधी पाली (मारवाड)

९५ मागीलालजी लुणावत, उदयपुर (राज०)

९६ सरदारचदजी अजितचदजी मडारी, सिपोलीया बाजार (जोधपुर)

९७ सुगालचदजी अनराजजी मूथा मद्रास

९८ लालचदजी संपतराजजी कोठारी, बेगलोर

९९ माणकचदजी महेन्द्रकुमारजी ओस्तवाल, बेगलोर

१०० वक्तावरमलजी अनराजजी छलाणी (जैतारण) रावर्टसन पेट K G.F

१०१ शा० माणकचदजी ललवाणी मेडतासिटी (मद्रास)

१०२ शा० मागीलालजी टपरावत टाकरवाम (मद्रास)

१०३ शा० सायरचदजी गाधी पाली (मारवाड़)

१०४ शा० मागीलालजी लूणावत उदयपुर (मारवाड)

१०५ शा० मडारी सरदारचदजी अजीतचदजी, जोधपुर

१०६ शा० सुगालचदजी अनराजी मूथा मद्रास., (सरतपुर)

१०७ शा० लालचदजी सपतराजजी कोठारी बेगलोर

१०८ माणकचदजी महेन्द्रकुमार ओस्तवाल बेगलोर

१०९ B [illegible] रावर्टसन पेट K G F

११० शा० [illegible]

१११ शा० [illegible]

६७ श्री जैवंतराज जी सुगमचद जी वाफणा, वेगलोर (कुशालपुरा)
६८ श्री घेवरचद जी भानीराम जी चाणोदिया, मु० इसाली
६९ शा० नेमीचद जी कोठारी न० १२ रामानुजम अयर स्ट्रीट मद्रास-१
७० शा० मागीलाल जी सोहनलाल जी रातडीआ C/o नरेन्द्र एथर्टरी कस स्टोर, चीकपेट, वेंगलोर-४
७१ शा० जवरीलाल जी सुराणा अलन्दुर, मद्रास १६
७२ शा० लुमचद जी मगलचद जी तालेडा अशोका रोड, मैसूर
७३ शा० हसराजजी जसवतराजजी सुराणा मु० पो० सोजतसिटी
७४ शा० हरकचदजी नेमीचदजी भनसाली मु० पो० घोटी जि० ईगतपुरी (नासिक, महाराष्ट्र)
७५ शा० समीरमलजी टोडरमलजी छोदरी फलो का वास मु० पो० जालोर
७६ शा० बी० सजनराजजी पीपाडा मारकीट कुनुर जि० नीलगिरी (मद्रास)
७७ शा० चम्पालालजी कान्तीलालजी अन्ड० कुन्टे न० ४५८९७७/१४१ भवानी शकर रोड, बीसावा बिल्डिग, दादर, बोम्वे न० २८
७८ शा० मिश्रीमलजी बीजेराजजी नाहर मु० पो० वायद जि० पाली (राज०)
७९ शा० किसोरचदजी चादमलजी सोलकी C/o K. C. Jain 14 M C. Lain. II Floor 29 Cross Kilai Road, Banglore 53.
८० शा० निरमलकुमारजी मागीलालजी खीवसरा ७२, धनजी स्ट्रीट पारसी गली, गनपत भवन, बम्बई ३
८१ श्रीमती सोरमवाई, धर्मपत्नी पुकराजजी मुनोत मु० पो० राणावास
८२ शा० एच० पुकराजजी जैन (वोपारी) मु० पो० खरतावाद, हैदरावाद ५०००४
८३ शा० सुगालचंदजी उत्तमचंदजी कटारीया रेडीलस, मद्रास ५२
८४ शा० जवरीलालजी लुकड (कोटडी) C/o घमडीराम सोहनराज एण्ड क० ४८६/२ रेवडी वाजार अहमदावाद-२
८५ शा० गौतमचदजी नाहटा (पीपलिया) न० ८, वादु पलीयार कोयल स्ट्रीट, साहुकार पेट, मद्रास १
८६ शा० नथमलजी जवरीलालजी जैन (पटारीक्रमावस) वस स्टेण्ड रोड यहलका वेगलोर (नार्थ)

८७ शा० मदनलालजी छाजेड गोती ट्रेडर्स १५७ ओपनकारा स्ट्रीट, कोयम्बतूर (मद्रास)

८८ शा० सीमरथमलजी पारसमलजी कातरेला जूना जेलखाना के सामने सिकन्दराबाद (A. P.)

८९ शा० एम० पुकराजजी एण्ड कम्पनी ऋास बाजार दूकान नं० ९, कुनूर (नीलगिरी)

९० शा० चम्पालालजी मूलचदजी नागोतरा सोलकी मु० पोस्ट—राणा वायापाली (राजस्थान)

९१ शा० वस्तीमलजी सम्पतराजजी खारीवाल (पाली) C/o लक्ष्मी इलैक्ट्रीकल्स न० ९५ नेताजी सुभापचद रोड, मद्रास १

९२ माणकचदजी ललवानी (मेड़तासिटी) मद्रास

९३ मागीलालजी टीपरावत (टाकरवास) मद्रास

९४ सायरचदजी गाधी पाली (मारवाड)

९५ मागीलालजी लुणावत, उदयपुर (राज०)

९६ सरदारचदजी अजितचदजी भडारी, त्रिपोलीया बाजार (जोधपुर)

९७ सुगालचदजी अनराजजी मूथा मद्रास

९८ लालचदजी सपतराजजी कोठारी, बेगलोर

९९ माणकचदजी महेन्द्रकुमारजी ओस्तवाल, बेगलोर

१०० बक्तावरमलजी अनराजजी छलाणी (जैंतारण) राबर्टसन पेट K.G.F.

१०१ शा० माणकचदजी ललवाणी मेडतासिटी (मद्रास)

१०२ शा० मागीलालजी टपरावत ठाकरवास (मद्रास)

१०३ शा० सायरचदजी गांधी पाली (मारवाड)

१०४ शा० मागीलालजी लूणावत उदयपुर (मारवाड)

१०५ शा० भडारी सरदारचदजी अजीतचदजी, जोधपुर

१०६ शा० सुगालचदजी अनराजी मूथा मद्रास;, (परमपुर)

१०७ शा० लालचदजी सपतराजजी कोठारी बेगलोर

१०८ माणकचदजी महेन्द्रकुमार ओस्तवाल बेगलोर

१०९ B अनराजजीछलाणी, राबर्टसन पेट K G.F

११० शा० मदनलालजी रीखबचदजी चोरडीया, भेरुन्दा

१११ शा० धनराजी महावीरचदजी लूणावत बेगलोर

११२ शा० बुधराजी रूपचंदजी झामड मेडतासीटी
११३ शा० भवरलालजी खीवराजी मेहता पाली, मारवाड़
११४ शा० माणकचदजी लाभचदजी गुलेछा, पाली
११५ शा० घीसुलालजी सम्पतराजजी चोपड़ा, पाली
११६ शा० उदयराजजी पारसमलजी तिलेसरा, पाली
११७ शा० जसराजी धनराजी घारोलीया, पाली
११८ शा० धनराजी भीकमचदजी पगारीया, पाली
११९ शा० फुलचदजी महावीरचदजी बोरुन्दीया जसनगर, केकिन्द
१२० शा० चतुरभुजी सम्पतराजी गादीया जसनगर, केकिन्द (मदुरीन्तरम)
१२१ शा० सेसमलजी महावीरचदजी सेठीया बेगलोर
१२२ सेसमलजी सीरेमलजी बोहरा पीसागन (सीरकाली)
१२३ श्रीमान मोतीलालजी बोरुन्दिया, मदुरान्तकम् मद्रास
१२४ श्रीमान शुकलचदजी मुन्नालालजी लोढा, पाली (राज०)
१२५ श्रीमान सूरजकरणजी माणकचदजी आँचलिया, जसनगर (राज०)
१२६ श्रीमान घीसूलालजी धर्मीचदजी गादिया, हैद्राबाद
१२७ श्रीमान बी० रामचंद्रजी वस्तीमलजी पटवा, पुदुपेट, मद्रास

तृतीय श्रेणी

१ श्री नेमीचंद जी कर्णावट, जोधपुर
२ श्री गजराज जी भडारी, जोधपुर
३ श्री मोतीलाल जी सोहनलाल जी बोहरा, ब्यावर
४ श्री लालचंद जी मोहनलाल जी कोठारी, गोठन
५ श्री सुमरेमल जी गांधी, सिरियारी
६ श्री जवरचंद जी बम्ब, सिन्धनूर
७ श्री मोहनलाल जी चतर, ब्यावर
८ श्री जुगराज जी भंवरलाल जी राका, ब्यावर
९ श्री पारसमल जी जवरीलाल जी धौका, सोजत
१० श्री छगनमल जी वस्तीमल जी बोहरा, ब्यावर
११ श्री चनणमलजी थानमल जी खीवसरा, मु० बोपारा
१२ श्री पन्नालाल जी भवरलाल जी ललवाणी, बिलाडा

१३ श्री अनराज जी लगमीचद जी नलवाणी, आगेवा
१४ श्री अनराज जी पुखराज जी गादिया, आगेवा
१५ श्री पारसमल जी धरमीचद जी जागड, बिलाडा
१६ श्री चम्पालाल जी धरमीचंद जी खारीवाल, कुशालपुरा
१७ श्री जवरचंद जी शान्तिलाल जी वोहरा, कुशालपुरा
१८ श्री चम्पालाल जी हीराचदजी गुन्देचा, सोजतरोड
१९ श्री हिम्मतलाल जी प्रेमचद जी साकरिया, साडेराव
२० श्री पुखराज जी रिखवाजी साकरिया, साडेराव
२१ श्री बाबूलाल जी दलीचंद जी वरलोटा, फालना स्टेशन
२२ श्री मागीलाल जी सोहनराज जी राठोड, सोजतरोड
२३ श्री मोहनलाल जी गाधी, केसरसिंह जी का गुडा
२४ श्री पन्नालाल जी नथमल जी भसाली, जाजणवास
२५ श्री शिवराज जी लालचद जी वोकड़िया, पाली
२६ श्री चांदमल जी हीरालाल जी वोहरा, ब्यावर
२७ श्री जसराज जी मुन्नीलाल जी मूथा, पाली
२८ श्री नेमीचद जी भंवरलाल जी डक, सारण
२९ श्री ओटरमल जी दीपाजी, साडेराव
३० श्री निहालचद जी कपूरचद जी, साडेराव
३१ श्री नेमीचद जी शातिलाल जी सिसोदिया, इन्द्रावड
३२ श्री विजयराज जी आणदमल जी सिसोदिया, इन्द्रावड़
३३ श्री लूणकरण जी पुखराज जी लूंकड, बिग-बाजार, कोयम्बतूर
३४ श्री किस्तूरचद जी सुराणा, कालेजरोड कटक (उडीसा)
३५ श्री मूलचद जी बुधमल जी कोठारी, बाजार स्ट्रीट, मण्डिया (मैसूर)
३६ श्री चम्पालाल जी गौतमचद जी कोठारी, गोठन स्टेशन
३७ श्री कन्हैयालाल जी गौतमचंद जी कॉकरिया, मद्रास (मेड़तासिटी)
३८ श्री मिश्रीमल जी साहिबचद जी गाँधी, केसरसिंह जी का गुडा
३९ श्री अनराज जी बादलचद जी कोठारी, खवासपुरा
४० श्री चम्पालाल जी अमरचद जी कोठारी, खवासपुरा
४१ श्री पुखराज जी दीपचंद जी कोठारी, खवासपुरा
४२ शा० सालमसीग जी ढाबरिया, गुलाबपुरा

४३ शा० मिट्ठालाल जी कातरेला, बगड़ीनगर
४४ शा० पारसमल जी लक्ष्मीचद जी काठेड, ब्यावर
४५ शा० धनराज जी महावीरचद जी खीवसरा, बैंगलोर-३०
४६ शा० पी० एम० चौरडिया, मद्रास
४७ शा० अमरचद जी नेमीचद जी पारसमल जी नागौरी, मद्रास
४८ शा० बनेचद जी हीराचद जी जैन, सोजतरोड (पाली)
४९ शा० झूमरमल जी मागीलाल जी गूदेचा, सोजतरोड (पाली)
५० श्री जयतीलाल जी सागरमल जी पुनमिया, सादडी
५१ श्री गजराज जी भडारी एडवोकेट, बाली
५२ श्री मागीलाल जी रैड, जोधपुर
५३ श्री ताराचद जी बम्ब, ब्यावर
५४ श्री फतेहचद जी कावडिया, ब्यावर
५५ श्री गुलाबचद जी चौरडिया, विजयनगर
५६ श्री सिधराज जी नाहर, ब्यावर
५७ श्री गिरधारीलाल जी कटारिया, सहवाज
५८ श्री मीठालाल जी पवनकवर जी कटारिया, सहवाज
५९ श्री मदनलाल जी सुरेन्द्रराज जी ललवाणी, बिलाड़ा
६० श्री विनोदीलाल जी महावीरचद जी मकाणा, ब्यावर
६१ श्री जुगराज जी सम्पतराज जी बोहरा, मद्रास
६२ श्री जीवनमल जी पारसमल जी रेड, तिरुपति (आ० प्रदेश)
६३ श्री बकतावरमल जी दानमल जी पूनमिया, सादड़ी (मारवाड)
६४ श्री मै० चन्दनमल पगारिया, औरंगाबाद
६५ श्री जसवंतराज जी सज्जनराज जी दुगड, कुरडाया
६६ श्री बी० भवरलाल जैन, मद्रास (पाटवा)
६७ श्री पुखराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, बेडकला
६८ श्री आर० प्रसन्नचद चोरडिया, मद्रास
६९ श्री मिश्रीलाल जी सज्जनलाल जी कटारिया, सिकन्द्राबाद
७० श्री सुकनचंद जी चादमल जी कटारिया, इलकल
७१ श्री पारसमल जी कातीलाल जी बोरा, इलकल
७२ श्री मोहनलाल जी भंवरलाल जी जैन (पाली) बैंगलूर

७३ शा० जी० एम० मङ्गलचंद जी जैन (गोजतसिटी)
C/o मङ्गल टेक्सटाईल्स २६/७८ फर्स्ट फ्लोर मूलचंद मारकेट
गोडाउन स्ट्रीट, मद्रास १

७४ श्रीमती रतनकंवर वाई धर्मपत्नी शातीलालजी कटारिया C/o पृथ्वीराजजी
प्रकाशचद जी फतेपुरियो की पोल मु० पो० पाली (राज०)

७५ शा० मगराज जी रूपचंद खीवसरा C/o रूपचंद-विमलकुमार
पो० पेरमपालम; जिला चंगलपेट

७६ शा० माणकचद जी भंवरीलाल जी पगारिया C/o नेमीचंद मोहनलाल जैन
१७ विन्नी मिल रोड, वेगलोर ५३

७७ शा० ताराचद जी जवरीलाल जी जैन कदोई वाजार, जोधपुर (महामदिर)

७८ शा० इन्दरमलजी भण्डारी—मु० पो० नीमाज

७९ शा० भीकमचंद जी पोकरणा १९ गोडाउन स्ट्रीट, मद्रास १

८० शा० चम्पालाल जी रतनचंदजी जैन (सेवाज)
C/o सी० रतनचंद जैन—४०३/७ वाजार रोड, रेडीलस, मद्रास ५२

८१ शा० मगराज जी माधोलाल जी कोठारी मु० पो० वोरूंदा वाया पीपाड
सिटी (राज०)

८२ शा० जुगराज जी चम्पालाल जी नाहर C/o चदन इलैक्ट्रीकल ६६५
चीकपेट, वेंगलोर ५३

८३ शा० नथमल जी पुकराज जी मीठालाल जी नाहर C/o हीराचद नथमल
जैन No ८९ मैनरोड मुनीरडी पालीयम, वेगलोर-६

८४ शा० एच० मोतीलाल जी शान्तीलाल जी समदरिया सामराज पेट नं०
९८/७ क्रोस रोड, वेगलोर १८

८५ शा० मंगलचद जी नेमीचदजी वोहरा C/o भानीराम गणेसमल एण्ड सन्स
Ho ५६ खलास पालीयस वेगलोर-२

८६ शा० धनराज जी चम्पालाल जी समदरिया जी० १२९ मीलरोड
वेगलोर-५३

८७ शा० मिश्रीलाल जी फूलचद जी दरला C/o मदनलाल मोतीलाल जैन,
सीवरामपेट, मैसूर

८८ शा० चम्पालाल जी दीपचदजी सीगी (सीरीयारी) C/o दीपक स्टोर
हैदरगुडा ३/६/२९४/२/३ हैदरावाद (A P.)

८९ शा० जे० वीजेराज जी कोठारी C/o कीचयालेन का
वेंगलोर-५३

९० शा० वी० पारसमल जी सोलंकी C/o श्री विनोद ट्रेडर्स
कोयम्बतूर

९१ शा० कुशालचंद जी रीखवचंद जी सुराणा ७२९ सदर बाजार,
(आ० प्र०)

९२ शा० प्रेमराज जी भीकमचंद जी खीवसरा मु० पो० वोपार
राणावास

९३ शा० पारसमल जी डंक (सारन) C/o सायब्रचंद जी पारस
म० न० १२/५/१४८ मु० पो० लालागुडा सिकन्द्राबाद (A. P

९४ शा० सोभाचद जी प्रकाशचद जी गुगलीया C/o जुगराज हीराचद
मण्डीपेट—दावनगिरी—कर्णाटक

९५ श्रीमती सोभारानी जी राका C/o भंवरलाल जी राका मु० पो

९६ श्रीमती निरमलादेवी राका C/o वकील भवरलाल जी राका
व्यावर

९७ शा० जम्बूकुमार जैन दालमील, भैरो बाजार, बेलनगज, आगरा

९८ शा० सोहनलाल जी-मेडतीया सिहपोल मु० पो० जोधपुर

९९ भवरलाल जी श्यामलाल जी बोरा, व्यावर

१०० चम्पालाल जी काटेड़, पाली (मारवाड)

१०१ सम्पतराज जी जयचंद जी सुराणा पाली मारवाड (सोजत)

१०२ हीरालाल जी खावीया पाली मारवाड़

१०३ B. चैनराज जी तातेड़ अलसुर, वेंगलोर (बीलाडा)

१०४ रतनलाल जी घीसुलाल जी समदडीया, खड़की पूना

१०५ मी० नितन्द्र कुमार जी जैन मु० पो० धार (म० प्र०)

१०६ श्रीमान भंवरलाल जी श्यामलाल जी बोहरा व्यावर

१०७ श्रीमान चपालाल जी खॉटेर (दलाल) पाली

१०८ श्रीमान सपतराज जी जयचद जी सुराणा (सोजत) पाली

१०९ श्रीमान हीरालाल जी खावीया पाली

११० श्रीमान B. चेनराज पॉन ब्रोकर, वेंगलोर

१११ श्रीमान रतनलाल जी घीमुलाल जी समदड़ीया (केलवाज) पून

श्रीमान निलेन्द्र कुमार सराफ, धार M. P.
श्रीमान सीरेमल जी पारसमल जी पगारिया, निमार खेडी
श्रीमान पुखराज जी मुथा, पाली (मारवाड़)
श्रीमान सुकनराज जी भंवरलाल जी (पच) सुराणा, पाली
श्रीमान सोहनराज जी हेमावसवाला, पाली
श्रीमान वागमल जी धनराज जी कोठेड, पाली
श्रीमान भेरुमल जी तलेसरा पाली
श्रीमान वस्तीमल जी कान्तीलाल जी धोका, पाली
श्रीमान जुगराज जी ज्ञानराज जी मुथा, पाली
श्रीमान ताराचद जी हुकमीचद जी तातेड पाली
श्रीमान सोहनराज जी वरड़ीया पाली
श्रीमान वस्तीमल जी डोसी पाली
श्रीमान K. वस्तीमल जी राजेन्द्रकुमार वोहरा जसनगर (मद्रास)
श्रीमान वस्तीमल जी जुगराज जी वोरुन्दिया, जसनगर (मद्रास)
श्रीमान जे० सज्जनराम जी मडलेचा, मुलाई कत्थलम, (मद्रास)

□ □

हमारा महत्त्वपूर्ण साहित्य

१	प्रवचन-सुधा	५)
२	प्रवचन-प्रभा	५)
३	धवल ज्ञान धारा	५)
४	साधना के पथ पर	५)
५	जैनधर्म में तप स्वरूप और विश्लेषण	१०)
६	दशवैकालिक सूत्र [व्याख्या पद्यानुवाद]	१५)
७	तकदीर की तस्वीर	—
८	कर्मग्रन्थ [प्रथम—कर्मविपाक]	१०)
९	कर्मग्रन्थ [द्वितीय—कर्मस्तव]	१०)
१०	कर्मग्रन्थ [तृतीय—वन्ध-स्वामित्व]	१०)
११	कर्मग्रन्थ (चतुर्थ-पडशीति)	१५)
१२	कर्मग्रन्थ (पचम-शतक)	१५)
१३	कर्मग्रन्थ (पष्ठ-सप्ततिका प्रकरण)	१५)
१४	तीर्थंकर महावीर	१०)
१५	विश्ववन्धु वर्धमान	१)
१६	सुधर्म प्रवचनमाला [१ से १०] [दस श्रमण-धर्म पर दस पुस्तके]	६)

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति,

पीपलिया बाजार, ब्यावर